किशोर भारती
दिसंबर 3, 1984

मित्रों,

अक्टूबर ,1983(3 अक्टूबर – 8 अक्टूबर) में किशोर भारती में विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के अलग-अलग पहलुओं पर एक गोष्ठी हुई थी। उस गोष्ठी की कार्यवाही के काफी हिस्से टेप कर लिये गये थे। उन्हीं टेप किये गये हिस्सों को हमने उतार कर यहां लिखा है। इसे गोष्ठी का प्रतिवेदन न माने। इसे प्रतिवेदन का स्वरूप हमने अभी नहीं दिया है क्योंकि –

1. चर्चाओं के बहुत सारे हिस्से रिकॉर्ड नहीं हुए थे उनकी जानकारी लिखित में अन्य लोगों के पास होगी।
2. हम तय नहीं कर पाये कि इस जानकारी के आधार पर प्रतिवेदन किस प्रकार तैयार करें। इसलिये हमने एक अंतरिम निर्णय किया कि हम सारी की सारी जानकारी सबके सामने प्रस्तुत कर देंगे और फिर सब मिलकर तय कर लेंगे कि इसका उपयोग कैसे करना है?

हमने 15 टेंपो पर जितनी भी जानकारी थी उसे शब्दश: कागज पर उतार लिया था। फिर उसमें बोली गयी अंग्रेजी को हिंदी में अनुवाद करके थोड़ा-सा संपादन कार्य किया। अभी समझ यह है कि इस जानकारी के आधार पर प्रतिवेदन तैयार करके ही इसे आगे प्रसारित करना चाहिये। वह भी तब ही यदि जरूरत महसूस हो। एकलव्य के साथी अपनी अगली अकादमिक परिषद की गोष्ठी में इसका फैसला कर ले तो अच्छा होगा। इस पूरे काम को करने में हम दोनों का लगभग एक महिने का समय लगा। हाथ से लिखी, काफी कटी-पिटी पांडुलिपि से बृज (पिपरिया) ने यह जबरदस्त टाइपिंग की है। पांडुलिपि, जिसमें जिसने जो कहा वह लगभग वैसा का वैसा लिखा हुआ है, अभी भी किशोर भारती में यह उपलब्ध है।

हमने इस जानकारी की फिलहाल 8 प्रतियां करवायीं है जो निम्नलिखित लोगों को भेज रहे हैं –

1. अनवर, अंजलि, श्याम	एकलव्य, हरदा
2. हृदयकांत दीवान	एकलव्य, होशंगाबाद
3. मायज, गुप्ते, स्याग, विवेक	एकलव्य, उज्जैन
4. बी.के.पुरे	एकलव्य, धार
5. विजय,अनीता, रमाकांत	दिल्ली ग्रुप, दिल्ली
6. विवेक ,रेक्स	एकलव्य, भोपाल
7. बृज	बम्बई, टी.आई.एफ.आर.

फिलहाल पिपरिया केंद्र के लिये अतिरिक्त प्रति उपलब्ध नहीं है वे किशोर भारती की प्रति का उपयोग करेंगे।

धन्यवाद

साधना सक्सेना सुशील जोशी

भाषा समूह के साथ चर्चा

अरविंद: भाषा समूह के लोगों ने पिछले वर्ष एक सर्वेक्षण यहां पर किया था। कुछ आदिवासी स्कूली बच्चों को एक परीक्षण दिया था और उसके आधार पर ही वहां आगे काम करके भाषा शिक्षण की एक योजना बनाई थी। यह योजना प्राथमिक स्तर के लिये होगी इसके बारे में रमाकांत बताएंगे।

रमाकांत: पहली बार जो सब लोगों को समझनी चाहिये वह यह है कि हर बच्चा भाषा सीखता ही है और किसी भी तरह की भाषा जो वह सीखता है, किसी भी दूसरी भाषा से निम्न स्तर की नहीं है,खराब नहीं है। हर बच्चा भाषा ही नहीं सीखता, अपने आसपास की दुनिया के बारे में बहुत कुछ सीखता है। तो यह सीखना कि बच्चा भाषा में पिछड़ा हुआ है, ऐसा हम नहीं सोचते लेकिन फिर भी ऐसा है कि हमारे समाज में बच्चे की उन्नति करने के लिये, नौकरी पाने के लिये या कुछ भी और करने के लिये, खासतौर से वहां जहां हर 10-15 मिल पर भाषा बदल जाती है उसे स्कूल में

जाकर एक दूसरी तरह की भाषा सीखनी पड़ती है। अक्सर ऐसा होता है कि घर की भाषा और स्कूल की भाषा में काफी अंतर होता है और क्योंकि, जैसा की हमने पायलट प्रोजेक्ट में भी देखा, बच्चे अक्सर जो नई भाषा सीखते हैं उसमें काफी समझ नहीं हो पाती। इस वजह से कई क्षेत्रों में पिछड़े रह जाते हैं और समाज में वह जो योगदान दे सकते हैं, नहीं दे पाते इसलिये हम लोग इस कार्यक्रम में आए कि कैसे उन बच्चों का जो मानव हिंदी का स्तर वह बढ़ाया जा सकता है ?क्योंकि यह जरूरी है। नौकरी पाने के लिये समाज में योगदान देने के लिये जरूरी है कि उनकी भाषा अच्छी हो। हमने यह देखा कि वह अच्छी नहीं है। अपनी पाठ्य पुस्तकें नहीं समझ पाते हैं कक्षा में जो पढ़ाया जाता है वह नहीं समझ पाते हैं। यह करने के लिये जो सबसे पहली बात सोची गई वह यह कि भाषा का बिल्कुल अलग से कोई कार्यक्रम नहीं हो सकता, खासकर प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर।
भाषा का पाठ्यक्रम इतिहास, विज्ञान आदि के पाठ्यक्रम के साथ मिलजुल कर बनना चाहिये। यह भी सोचा कि बच्चे को क्या पढ़ाया जाये? यह सवाल उठा कि कैसे पढ़ाया जाये और बच्चा भाषा कैसे सीखता है और बाकी चीजें कैसे सीखता है? बच्चे की भाषा या अन्य चीजें सीखने में एक तो बच्चा खुद भागीदार है और स्कूल की परिस्थिति में शिक्षक भी। सीखने वाला है, शिक्षक है सामग्री है जैसे किताबें।
हम समझते हैं सीखने वाला सबसे जरूरी है। सीखने वाला हमारे भाषा शिक्षण के केंद्र में है। इसके साथ ही साथ वह सीखने की परिस्थिति है जिसमें वह भाषा सीख रहा है। सीखने की परिस्थिति में मेरा मतलब है स्कूल, स्कूल के हालात, घर, घर में बोली जाने वाली भाषा और सबसे जरूरी है जो बच्चे दोस्तों में बोलते हैं वह भाषा। भाषा शिक्षण का पाठ्यक्रम बनाना है तो हम वहां से शुरु करते हैं जो भाषा बच्चे को आती है। उस भाषा का हम प्रयोग करना चाहते हैं। 5- 7 साल का बच्चा घर में कैसे व कौन सी भाषा बोलता है (खासकर मध्यप्रदेश के संदर्भ में)
और अपने दोस्तों के साथ खेलते हुए वह कैसी भाषा बोलता है ? उद्देश्य यह है कि हम उस भाषा से शुरू करके 6-7 साल की अवधि में उच्च स्तर तक ले आएं कि वह सातवीं, आठवीं कक्षा की किताबें पढ़ सकें और आठवीं, नवी कक्षा के बाद वे रेडियो को समझ सके,अखबार समझ सके, जो आम साहित्य लिखा जा रहा है उसे समझ सके। हमने यह सोचा कि ये कारक सीखने वाला, शिक्षक, सामग्री और सीखने की परिस्थिति 4 बुनियादी चीजें हैं। इसमें सीखने वाले को बदलना आसान काम नहीं है। एक पूरा समाज ऐसा है जिसमें से सीखने वाला आता है हमारे पास। यदि हम सोचे कि सीखने वाले को ही बदल देंगे तो बहुत कठिन काम है। शिक्षक को भी (ऐसे होंगे जो बहुत अच्छे भाषा शिक्षक होंगे, ऐसे भी होंगे जो बहुत ईमानदारी से पढ़ाते होंगे, कुछ ऐसे होंगे जो बिल्कुल नहीं पढ़ाते होंगे, कुछ ऐसे स्कूल होंगे जिसमें शिक्षक है ही नहीं) एकदम से प्रशिक्षित कर देना किसी कार्यक्रम के लिये, संभव नहीं है। वहां से भी शुरू करना मुश्किल है। शिक्षकों में भी देखा गया है कि किसी शिक्षक को कोई भी सामग्री दे दीजिए वह बहुत सफलतापूर्वक पढ़ा देगा। पर अक्सर ऐसा नहीं होता। सीखने की परिस्थिति को भी परिवर्तित करना बहुत मुश्किल है। तो हमने सोचा कि इस सारे संदर्भ में सामग्री से शुरू करें, जो किताबें बच्चा पढ़ता है, या पोस्टर है या चित्र है जिनके माध्यम से बच्चा सीखता है उनको बदलने की कोशिश करें।

यदि हम, उनको स्कूलों में लागू करके देखें तो शायद थोड़ा बहुत अंतर सक्षमता स्तर में पड़ सकता है। तो फिर यह सवाल हुआ कि इन सामग्रियों को हम कैसे बनाएं? हमने यह सोचा कि हम होशंगाबाद व उज्जैन में 2-2 स्कूल लेंगे। इनमें से 1-1 स्कूल नियंत्रण स्कूल होगा। उसमें हम कुछ नहीं करेंगे। हम सिर्फ वहां के बच्चों को परीक्षण देंगे। बाकी स्कूल प्रायोगिक स्कूल होंगे। इनमें हम नयी सामग्रियां बनवाकर लागू करेंगे और देखेंगे कि इनमें नियंत्रण स्कूलों के मुकाबले सक्षमता स्तर में कुछ अंतर पड़ रहा है या नहीं? यह सामग्रियां कैसे बनाएं, यह सवाल सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों दृष्टि से काफी मुश्किल है। हमने सोचा कि सामग्री एक सामाजिक व मनोवैज्ञानिक संदर्भ में बननी चाहिये। हमारा बुनियादी सिद्धांत यही है। बच्चे की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है, वह घर में कैसी कहानियां सुनता है, कैसे गाने गाता है, उसकी लोक कथाएं क्या है, कैसे मेलों में जाता है, कैसे धार्मिक कार्यक्रमों में हिस्सा लेता है और सबसे महत्वपूर्ण कि वह अपने दोस्तों में किस तरह के खेल खेलता है, किस भाषा में बातचीत करता है और किन विषयों पर बातचीत करता है, ये बहुत जरूरी है। यह कुछ संकेत है कि बच्चे को क्या बातें महत्वपूर्ण लगती हैं। हम अपनी सामग्री इन बातों पर आधारित करना चाहते हैं। कक्षा में जो बातें पढ़ायी जाये वे उनके जीवन की हो न कि ऐसी बातें जिनसे न तो बच्चे का रोजमर्रा की जिंदगी में परिचय होता है न बच्चे को उनसे कोई मतलब होता है। इसके साथ हम यह समझते हैं कि बाकी जो पढ़ाई हो रही है उससे भी भाषा शिक्षण का

संबंध है। हम यह भी सोचते हैं कि जो मनोवैज्ञानिक पहलू है उनके साथ भी इस सामग्री का तालमेल होना चाहिये। ऐसा नहीं होना चाहिये कि बच्चा कुछ सीखने को तैयार नही है वह चीज हम उसको जबरदस्ती पढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं। एक अवस्था ऐसी होती है जब बच्चा अमूर्त विचार नहीं समझ सकता, सिर्फ ठोस चीजों से खेल सकता है, ठोस चीजों को समझ सकता है और एक अवस्था ऐसी भी होती है जब वह ठोस वस्तु उससे परे हो तो उसको यह भी ज्ञान नहीं पड़ता कि वह चीज है या नहीं है।

अगली अवस्था में यह समझ बनती है कि ठोस चीज है, जबकि वह सामने नहीं है। उसके बाद की अवस्था है जब वह अमूर्त विचारों को समझ सकता है। इसके पहले 5-6 साल की उम्र तो उसे अमूर्त विचारों को संभालना ही नहीं आता। तो हम सामाजिक पहलू के अलावा इन मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन करना चाहते हैं और इन सबको मद्दे नजर रखते हुए हम सामग्री बनाना चाहते हैं।

स्कूल में काम करने से पहले हम शिक्षक से बातचीत करेंगे, बच्चों से बातचीत करेंगे, उनके मां -बाप से बातचीत करेंगे और एक तरह से हम एहसास के आधार पर, उस स्कूल को देख कर, बच्चों से बात करके शिक्षक की बात करके जो मौजूदा सामग्री है उसको बेहतर बनाकर सामग्री बनाने की कोशिश करेंगे। इस चरण में 3-4 साल लगेंगे लेकिन हम शिक्षण पद्धति को परखना पहले ही शुरू कर देंगे। यह एक महत्वपूर्ण बात है। साथ ही हम यह देखेंगे कि बच्चों का प्रवेश समय व्यवहार क्या है? किस ज्ञान के साथ बच्चे स्कूल में आए हैं? हम यह जानना चाहेंगे कि उनका स्कूल छोड़ते समय व्यवहार होना चाहिये? अर्थात जब वे पांचवी कक्षा उत्तीर्ण कर ले तो उनको कितनी हिंदी आनी चाहिये, किस तरह की हिंदी आनी चाहिये? दूसरे चरण में हम सामाजिक व मनोवैज्ञानिक पहलुओं को देखना चाहते हैं। इस सारे दौरान जो सामग्री हम बनाएंगे, जितनी जानकारी हमें मिली उसके आधार पर हम उसे परखने जायेंगे और बेहतर भी करते रहेंगे और अंतिम चरण में दो-तीन साल के बाद अंत में तैयार सामग्री के आधार पर एक सामग्री बनाने के वर्कशॉप में हम हर कक्षा के लिये 5-5, 6-6 पाठों को अंतिम रूप देंगे और एक तरह का पाठ्यक्रम बनायेंगे। इसको हम परखेंगे और तुलना करेंगे नियंत्रण समूह और प्रायोगिक समूह से ताकि हम दिखा सकें, अगर हुआ तो, कि संशोधित सामग्री से हिंदी का सक्षमता स्तर ज्यादा हो गया।

प्रश्न: ये दो जगह क्यों?
रमाकांत: पहली बात तो कि ऐसी जगहे थी जहां पहले से काफी लोग काम कर रहे हैं और हम इन लोगों के साथ मिल जुलकर काम करना चाह रहे हैं।

दूसरी बात कि हम स्कूल ऐसे ही नहीं चुन लेंगे। हम सारे स्कूलों का एक सर्वेक्षण करेंगे और चुनेंगे।
डी.पी. सिंह: क्या आप जो यह पाठ्यक्रम 6-7 साल में विकसित करेंगे, मध्यप्रदेश की अलग-अलग बोलियों को देखते हुए पूरे मध्यप्रदेश के लिये उपयुक्त होगा? यदि इस तरीके से विकसित हुआ तो शायद 6-7 साल में केवल इन 2 जगहों के लिये विकसित होगा। जैसे जिन इलाकों में बघेली या छत्तीसगढ़ी बोली जाती है और उनसे जो विपरीत असर पड़ता है उसकी जांच नहीं होगी। तो यह पाठ्यक्रम वहां के लिये कैसे होगा?
रमाकांत: एक तो हम यह नहीं मानते की बोलियों का विपरीत असर होता है। हालांकि ऐसा बहुत लोग मानते हैं। यह आपका कहना ठीक है कि अलग-अलग इलाकों में बोलियों के कारण संशोधित करना पड़ेगा। उज्जैन और होशंगाबाद दो अलग-अलग बोली वाले इलाके हैं। मैं यह मानता हूं कि अलग-अलग बोली वाले इलाकों का प्रतिनिधित्व प्रयोग में होना चाहिये। इसलिये हमें शायद 6-7 इलाकों में काम करना पड़े। यदि इस तरह का सहयोग मिल जाये लोगों से तो बहुत अच्छा होगा परंतु हमें लगा कि बहुत बड़ा काम होगा यह। इसलिये हमने सोचा कि यदि दो तीन जगहों पर करके दिखा दे तो उससे कुछ सामान्य सिद्धांत उभरेंगे जिससे काफी सहायता मिलेगी मध्यप्रदेश के दूसरे स्कूलों के लिये पाठ्यक्रम बनाने में।

डी.पी. सिंह : यदि आप ऐसे लोग ढूंढ सके जो अलग-अलग इलाकों में काम करेंगे तो उनके साथ मिलकर एक सम्मिलित योजना बनाई जा सकती है।

एतिहासिक पृष्ठभूमि: सन् 1972 की समझ

डॉ. अनिल सदगोपाल

अनिल: देहरादून के इन स्कूलों में बी.जी. पित्रे व साथियों ने प्रयोग पर आधारित भौतिकी पढ़ाने का एक कार्यक्रम चलाया हुआ था और 1968 आते-आते इन लोगों ने मिलकर अपने अनुभव के आधार पर एक पुस्तक विकसित कर ली और उस पुस्तक को नाम दिया- फिजिक्स थ्रु एक्सपेरिमेंटस।

जब इस पुस्तक को विकसित करने का काम चल रहा था तो बी.जी. पित्रे एक नेतृत्व के रूप में उभरे। उन्होंने एन.सी.ई.आर.टी. के साथ संपर्क किया। यह वह समय था जब एन.सी.ई.आर.टी. बड़े जोश-खरोश के साथ बहुत सारे अध्ययन दल बैठाकर बहुत सारी नयी पाठ्यपुस्तके विकसित करने का काम कर रही थी। यह काम 1964-65 में शुरू ही हुआ था पर 1966 -67 में अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुका था। इसके लिये बहुत सारे अध्ययन दल विकसित किए थे एन.सी.ई.आर.टी. ने। इनमें से अधिकांश दल के अध्यक्ष व सदस्य सचिव हिंदुस्तान के विश्वविद्यालयों के थे। इसमें स्कूली शिक्षकों की सहभागिता नगण्य थी। जितनी थी वह भी अध्यक्षों के व्यक्तिगत झुकाव व प्रयासों के कारण। परंतु नियंत्रण व नेतृत्व विश्वविद्यालयों का था। कई बार एक ही विषय में चार अध्ययन दल बनाए गये। उस समय बी.जी. पित्रे ने अपना यह दावा पेश किया कि जिस ढंग से अध्ययन दल बने हैं उनमें स्कूली शिक्षकों की सहभागिता नहीं है और यह गलत है। स्कूल शिक्षक की समझ बिल्कुल अलग होती है विश्वविद्यालय के शिक्षक से। उन्होंने अपना प्रस्ताव पेश किया कि हम पांच छह लोगों का जो समूह है उसको भौतिकी का एक अध्ययन दल माना जाये। एन.सी.ई.आर.टी. उस समय बहुत लोगों को अनुदान दे रही थी अध्ययन दल बनाने के लिये। इन लोगों को भी कोई 5- 6 हजार रूपये का अनुदान मिल गया कि आप लोग भी काम कर लीजिए इसके लिये इन लोगों ने ऑल इंडिया साइंस टीचर एसोसिएशन की छत्र छाया में एक फिजिक्स स्टडी ग्रुप (पी.एस.जी यानी भौतिकी अध्ययन दल) की स्थापना की और ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन के पी.एस.जी. को एन.सी.ई.आर.टी. ने अनुदान दिया। इन्होंने जो किताब फिजिक्स थ्रु एक्सपेरिमेंटस को 1968 में पेश किया तो एन.सी.ई.आर.टी. ने उसको अपने तहखाने में डाल दिया, जहां वे चीजें रखी जाती है जो उनको इस्तेमाल नहीं करनी होती।

जब कोई जवाब इत्यादि नहीं आया तो फिर पित्रे ने पूछताछ की, वहां गये, निदेशक को मिले, बड़े-बड़े वरिष्ठ अधिकारियों से मिले। जवाब मिला कि अभी देख रहे हैं। बाद में बताएंगे। बहुत सारे अध्ययन दल है, किसको चुनना है हमको मालूम नहीं, धैर्य कीजिए। कुछ समय धैर्य करने के बाद वे फिर गये। कई बार गये पर कोई सुनवाई नहीं हुई। करते-करते वह दिन आ गया जब कुछ अध्ययन दलों की किताबें एन.सी.ई.आर.टी. ने छाप दी।

वे सब विश्वविद्यालय टाइप के थे और उसमें कहीं भौतिकी अध्ययन दल का नाम नहीं था। थोड़ी बहुत कोशिश ए.आई.एस.टी.ए. के अध्यक्ष ने भी की कि ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन की किताब को मान्यता मिले परंतु एन.सी.ई.आर.टी. ने नहीं सुना। वहां पहले ही तय हो गया था कि जो बड़े -बड़े वैज्ञानिक हैं वे जो लिखेंगे सही लिखेंगे। इसलिये एन.सी.ई.आर.टी. की जो किताबें 1960 के दशक के अंत में छपी खासकर विज्ञान की, वे भयंकर जानकारी से भरी है, आधुनिक विज्ञान उसमें भर दिया और किसी प्रकार से बच्चे के दिमाग में सब कुछ ठूंस देने की कोशिश है, चाहे बच्चा उसको समझ पाये या न समझ पाये। इसके विपरीत ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन की किताब बिल्कुल ही दूसरे प्रकार की थी। उसमें सैद्धांतिक फर्क थे। फिजिक्स थ्रु एक्सपेरिमेंट्स का जो पाठ्यक्रम था उसका सिद्धांत था कि बच्चों को 'आधुनिक ज्ञान' नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह ज्ञान इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि किसी भी बच्चे के दिमाग में यह नहीं ठूंसा जा सकता। बच्चे की सीमाएं हैं, पूरे शिक्षण की सीमाएं हैं, उस आयु समूह की सीमाएं हैं। इसलिये हमको ज्ञान हासिल करने के जो तरीके हैं वे बच्चों को सिखाने चाहिये। जो औजार है ज्ञान हासिल करने के उसमें बच्चों को माहिर बनाना चाहिये। आप देखिए कि यह सिद्धांत ही अलग है, कोई समानता ही नहीं है। इनकी दिशाएं ही अलग है। इनको समझना बहुत जरूरी है अक्सर नहीं समझते और कहते हैं कि यह प्रयोग के बगैर किताब थी और यह प्रयोग वाली। एन.सी.ई.आर.टी.

वाले तो और भी ज्यादा हद करते हैं, कहते हैं कि उनकी किताबों में भी प्रयोग लिखे हुए थे। जरूर लिखे हुए थे जैसे ऐसा करो, वैसा करो, ऐसा करो और अंत में, बच्चों, तुमको वह सीखने को मिलेगा। परंतु उस पाठ्यक्रम में,

पाठ्यक्रम से जुड़ी शिक्षण पद्धति में, शिक्षक प्रशिक्षण में और परीक्षा प्रणाली में कहीं भी यह मांग नहीं थी कि बच्चे वैज्ञानिक पद्धति सीखें। उनका उद्देश्य था कि बच्चे जानकारी अधिक से अधिक हासिल कर ले,किसी प्रकार से। अगर वह आत्मसात नहीं कर पाते तो उसको रट ले। रटी हुई जानकारी को उगलवाने का परीक्षा प्रणाली में इंतजाम था। बी.जी. पित्रे ने जो छोटी सी किताब निकाली थी वह एन.सी.ई.आर.टी. की पूरी प्रणाली के खिलाफ थी। एक बौने समूह का राक्षस समूह से टकराव था। स्वाभाविक था कि बौने ग्रुप की चल नहीं सकी। इसको मैं शुरू से टकराव के रूप में पेश कर रहा हूं, था ही एक टकराव। एन.सी.ई.आर.टी. का राष्ट्रीय स्तरीय 6 करोड रुपए का ढांचा, उसके खिलाफ पांच छह स्कूल शिक्षक (वे भी पब्लिक स्कूल के जो कि इनकी सीमा थी)। यह सीमा इनकी किताब में भी मिलेगी। परंतु पाठ्यक्रम व शिक्षण पद्धति के संदर्भ में उन्होंने एन.सी.ई.आर.टी. से बिल्कुल विपरीत एक नई दिशा दी थी। तो मैं यह रिकॉर्ड करवाना चाहता हूं कि शुरू से इस कार्यक्रम में इस छोटे से ग्रुप में भी एन.सी.ई.आर.टी. को अपने दुश्मन के रूप में देखा और यह टिप्पणी आज तक कायम है। इस कार्यक्रम की राजनीति ऑल इंडिया साइंस टीचर एसोसिएशन के भौतिकी अध्ययन दल ने निर्धारित कर दी थी।

प्रश्न: अस्पष्ट

अनिल: उन्होंने कार्यक्रम शुरू करने के बाद नफील्ड से मदद ली थी परंतु कार्यक्रम शुरू उन्होंने इसलिये किया था क्योंकि परेशान थे जिस तरीके से वह पढ़ाते थे उससे। अपनी कक्षा की परेशानियों को दूर करने के लिये उन्होंने यह कार्यक्रम शुरू किया।

स्याग: ए.आई.एस.टी.ए.के कितने लोगों की भागीदारी थी ?

अनिल: ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन के बाकी लोगों की कोई भागीदारी नहीं थी। सिर्फ अध्यक्ष थे। वे भी जुड़े नहीं थे, सिर्फ जानते थे कि अच्छा काम है और चाहते थे कि ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन के मंच से कोई अच्छा काम हो जाये। जब एन.सी.ई.आर.टी. की लड़ाई में ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन का अध्ययन दल हार गया तो स्वाभाविक था कि पित्रे और साथियों ने कुछ और रास्ता ढूंढने की कोशिश की। उनको लगा कि उनको भी कहीं समर्थन चाहिये। बिना समर्थन के बात आगे नहीं बढ़ेगी। खुद तो

वह बड़े लोग नहीं थे, कहीं अगर समर्थन हो तो आगे उनकी सुनवाई हो जाये। इस खोज में अध्ययन दल के इन लोगो टीआई एफआर (टाटा इंस्टीट्यूट) से संपर्क किया। ऐसा इसलिये किया क्योंकि कहीं इन लोगों की किसी से मुलाकात हुई जिससे इनको लगा कि टाटा इंस्टीट्यूट के लोग भी इसी ढंग से सोचते हैं इसलिये वहां से समर्थन मिल सकता है। इसलिये यह लोग टाटा इंस्टीट्यूट आए और वहां के तीन चार लोगों से बातचीत की इस में प्रोफेसर यशपाल नाम के आदमी है जो कॉस्मिक रेज़ (भौतिकी) में प्रयोग कर रहे थे। वी.जी. कुलकर्णी सालिड स्टेट इलेक्ट्रॉनिक के थे, और 2-3 और लोग थे। टाटा इंस्टीट्यूट का वह समय था जब ऐसी प्रतिष्ठित संस्था और उसमें ढेरों विदेशी पीएच.डी. पाकर लोग हिंदुस्तान के समाज से कुछ कटे हुए थे कि हम लोग बहुत ही बढ़िया जगह में है, ऐसी जगह यूरोप-अमेरिका में ही संभव होती है और ऐसी जगह में हम को सब सुविधाएं प्राप्त हैं, हर प्रकार के अच्छे काम करने के लिये। इसका हिंदुस्तान से क्या लेना-देना है? और इस कारण से 1968 -69 के आसपास टाटा इंस्टीट्यूट में अंदर से खलबली मच रही थी कि हमारे पास जो कुछ है उसको हिंदुस्तान के समाज से जुड़ने की कोशिश करें। उच्च स्तरीय शोध व टेक्नोलॉजी तो जुड़ नहीं पा रही थी। जरूर जुड़ सकती है कि जो विज्ञान के आधुनिक जानकारी और आधुनिक तरीके हमारे पास है स्कूल के बच्चों को सिखाएं जाये। बहुत सही क्षण पर पित्रे आदि वहां पर पहुंचे जबकि अंदर से दर्द बहुत बढ़ चुका था टाटा इंस्टीट्यूट के लोगों का। टाटा इंस्टीट्यूट के लोगों ने पहले से ही वहां पर, शुरू में अंग्रेजी मीडियम स्कूलों और बाद में मराठी, हिंदी, उर्दू, हिंदी मीडियम के स्कूलों में जाकर प्रदर्शन व व्याख्यान देना शुरु कर दिया था (बम्बईके स्कूलों में)। यह समय था जब अध्ययन दल के लोग वहां पहुंचे और उन्होंने जब अपना मामला पेश किया कि हम इस तरीके से कुछ नई पद्धतियों का उपयोग करके

शिक्षकों को प्रशिक्षण दे सकते हैं और शिक्षकों को वैज्ञानिक पद्धति और वैज्ञानिक प्रयोग करने का तरीका सिखा सकते हैं। इस विचार को टाटा इंस्टिट्यूट से समर्थन बहुत अच्छा मिला। यहां पर तीन चार लोग जिन्होंने समय देने का निर्णय किया, उनके अलावा भी एक सहानुभूतिपूर्ण वातावरण इस कार्यक्रम को लेकर टाटा इंस्टीट्यूट में बना। सबको मालूम था कि यशपाल और कुलकर्णी और यह दो –चार लोग मिलकर एक बहुत अच्छा काम करने जा रहे हैं जिसमें हममें से सबसे जो बनेगा कर देंगे। पर मुख्यत: यशपाल और कुलकर्णी ने समर्थन दिया और बाहर काम करने की जिम्मेदारी उठायी। उस समय इन सब लोगों ने मिलकर फैसला किया कि पब्लिक स्कूल के दायरे से बिल्कुल बाहर निकलकर बम्बई म्युनिसिपल कॉरपोरेशन के बिल्कुल साधारण स्कूलों में जहां पर चार–चार हजार बच्चे होते हैं उन स्कूलों में देखेंगे कि इस काम को कैसे किया जाये। उस समय नगर निगम के शिक्षा विभाग की अध्यक्षा, माधुरी बेन साहब बहुत कोशिश कर रही थी कि कुछ नया काम हो जाये। माधुरी बेन से मिले और उनको बताया कि ऐसा ऐसा हमारा विचार है। माधुरी मैंने कहा कि ठीक है नगर निगम के 4 स्कूलों में जैसी मर्जी कुछ कर लो। तुम्हें छूट दी जाती है। वहां पर यह कार्यक्रम मिडिल स्कूल स्तर का था और वहां पर मिडिल स्कूल पांचवी क्लास से शुरू हो जाता है। तो उन्होंने वहां के कोई 30 -40 शिक्षक एक प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिये बुलाए। पित्रे और उनके साथियों के लिये भी यह एक नया अनुभव था। उन्होंने कभी दूसरे शिक्षकों को प्रशिक्षित नहीं किया था। उन्होंने खुद याद कर के नए तरीके सुझाएं थे। उनके लिये भी बहुत बड़ी चुनौती थी कि वह प्रशिक्षण के नए तरीके विकसित करें। इस काम को खासकर पित्रे और दीक्षित ने बहुत जोश के साथ नहीं ढंग से सोचा और बिल्कुल नए धरातल को बनाने की कोशिश की। इनमें से किसी को भी शिक्षा के औपचारिक तरीकों का ज्ञान नहीं था। वह अपने दिमाग से आविष्कार करते थे कि किसी को कैसे सिखाएंगे, की दूरी को नापते हैं तो जूना पाता है उसमे घट–बड़ होती है और वही एक नाप 10 बार दोहरा कर नहीं लाया जा सकता, 10 आदमी अगर नापेंगे तो 10 नाप आएंगे । ऐसे नापो का क्या किया जाता है वैज्ञानिक तरीके से। उसमें सांख्यिकी के तरीकों को विकसित करना इसका प्रशिक्षण शिक्षकों को कैसे दिया जाये। इसकी प्रशिक्षण पद्धति उन लोगों ने खुद बनाई और इसमें कुलकर्णी और यशपाल जैसे लोगों का अवधारणात्मक योगदान था। इसके लिये निदेशक मैंने इंस्टीट्यूट की सुविधाओं की अनुमति दे दी थी। खाने पीने का खर्च भी देने का वायदा किया। इस प्रकार से पब्लिक स्कूल के दायरे से निकलकर यह कार्यक्रम नगर निगम के स्कूलों में पहुंचा।

शुरू के अनुभव बहुत अच्छे रहे, शिक्षकों से बहुत बढ़िया प्रतिक्रिया मिली। कुलकर्णी, यशपाल और उनके शोध छात्र लगातार स्कूलों में जाते थे। पित्रे और दीक्षित तो वापस चले गये अपनी नौकरियो पर। मैं सन 1969 से 71 तक में टाटा इंस्टिट्यूट में वैज्ञानिक था और मैं इसको मात्र एक दिलचस्पी लेने वाले अवलोकनकर्ता के रूप में देख रहा था। मैंने इसमें कोई भाग नहीं लिया था। सिवाय इसके कि जिस दिन शिक्षक प्रशिक्षण की शुरुआत हुई थी उस दिन मैं दिन भर मंत्रमुग्ध होकर पित्रे की प्रशिक्षण पद्धति को देखता रहा। मैं सब मेरे लिये बिल्कुल नई बातें थी कि मात्र दूरी नापना जोश का आधार बन सकता है। इस पर दिनभर 40 शिक्षक और पांच वैज्ञानिक बहस करते रहे। इसी में से बहुत कुछ निकलेगा बहुत सम्मत मान और औसत निकालेंगे स्तंभ लेख बनेगा। पर यह बहुत समय लेने वाले काम थे और मैं उस वक्त अपने काम खत्म कर रहा था, बाहर निकलने की तैयारी कर रहा था। जब मैं यह काम से निगम के स्कूलों में पहुंचा तू उसको शिक्षकों का जबरदस्त समर्थन मिला। वह काफी भागीदारी भी हुई और भाग्य से कुछ बहुत अच्छे शाला निरीक्षक भी मिल गये। परंतु तीसरा साल आते–आते इस काम में एक समस्या खड़ी हो गई। विद्यार्थी जब सातवीं क्लास में पहुंचे तो शिक्षकों ने पूछना शुरु किया कि सातवीं की परीक्षा इन विद्यार्थियों को किस बोर्ड से देना पड़ेगी। जिस बोर्ड की परीक्षाएं होती है उसमें वैज्ञानिक कुशलता है और वैज्ञानिक अवधारणाओं की जांच नहीं होती है। शिक्षकों ने इन शब्दों में तो नही, पर कहा कि जो चीजें बच्चों को हम पढ़ा रहे हैं उनकी तो परीक्षा होगी नहीं। वहां तो कुछ फॉर्मूले पूछे जायेंगे, कुछ वैज्ञानिकों की जीवन कथाएं पूछी जायेंगी, कुछ परिभाषाएं पूछी जायेंगी और यह तो हम पढ़ाते ही नहीं हैं। एक तो यह बात थी। दूसरी बात जो उन्होंने उठाई वह थी कि यह तो मात्र भौतिकी का काम है, रसायन और जीव विज्ञान के हिस्से में हमने कुछ किया भी नहीं है। हमारे बच्चे किस परीक्षा में बैठेंगे? शिक्षकों ने चेतावनी दी थी कि यदि आप कुछ नहीं करेंगे तो हम लोग वापस अपनी पुरानी पद्धति पर आ जायेंगे। यह बात यहां साफ हो जाती है कि हम शिक्षकों के दिमाग में भी उन दोनों पाठ्यक्रमों की व पद्धतियों की अवधारणा बिल्कुल साफ हो गयी थी हालांकि उन्होने इसको इस तरीके से पेश नही किया। सवाल यह उठता है कि यदि आप बच्चो को विज्ञान वैज्ञानिक ढंग से पढ़ा रहे हैं और परीक्षा भी वैज्ञानिक ढंग की है तो बच्चों को कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिये। शिक्षकों की चेतावनी से टाटा इंस्टीट्यूट के लोग घबराकर

माधुरी बेन के पास पहुंचे। यह बात 70 -71 के आसपास की है। माधुरी बेन ने सहानुभूति पूर्वक सुना पर कहा कि परीक्षा को बदलने की अनुमति नहीं मिल सकती। उन्होंने कहा कि परीक्षा एकदम ठीक है और यदि आप बच्चों को सही ढंग से विज्ञान पढ़ा रहे हैं तो उन्हें कोई दिक्कत नहीं आनी चाहिये। टाटा इंस्टीट्यूट के ग्रुप ने बहुत समझाने की कोशिश की कि उद्देश्यों के अंतर क्या है, पर माधुरी बेन नहीं मानी और उन्होंने मना कर दिया। यहां यह समझने की जरूरत है कि परीक्षा प्रणाली यथास्थिति को बनाए रखने का कितना बड़ा हथियार है। यह सारे नवाचारों को वापस फेंक देती है। एक औजार एन.सी.ई.आर.टी. के पास था किताब छापने का और अब दूसरा नगर निगम के पास परीक्षा प्रणाली का। यह इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि शिक्षा में परिवर्तन के लिये शिक्षा विभाग, नगर निगम को जो मान्यता मिली है वह शायद ही किसी को मिली हो। अन्य और कई मामलों में भी बम्बईनगर निगम कि शिक्षा विभाग ने कई नए नए विचारों पर काफी फुर्ती से काम किया। परंतु शिक्षा के उद्देश्य की बुनियादी बात आने पर पीछे हट गये। परीक्षा प्रणाली के संबंध में जो बात को समय माधुरी बेन ने कहीं वही आज मध्य प्रदेश के प्रमुख शिक्षाविद हमारे सामने पेश करते हैं।

इस प्रकार से 1971- 72 आते आते तीन समस्याएं सामने आ गई थी:-

1. परीक्षा प्रणाली बदले बिना परिवर्तन असंभव है। इसलिये एक ऐसी व्यवस्था की खोज थी जहां यह संभव हो।
2. पब्लिक स्कूल में जो किताबें चलती थी वह नगर निगम स्कूलों में नहीं चल सकतीं। उसमें कई सारे परिवर्तन करने पड़े, खासतौर से किट सामग्री और सीखने की परिस्थिति को लेकर। मराठी अनुवाद भी किया गया बहुत सारे परिवर्तनों के साथ। यशपाल वगैरह ने इसे पहचाना और पाया कि यदि हमें वास्तव में इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाना है

तो गांव की परिस्थिति में जाना पड़ेगा क्योंकि नगर निगम के स्कूलों की हालत भारत के अन्य स्कूलों से काफी अलग है।

3) तीसरी बात जो उन्होंने पहचानी वह यह थी कि हम अक्सर अच्छे काम के छोटे-छोटे टापू खड़े कर लेते हैं। रेगिस्तान में एक छोटे इलाके में हरियाली खड़ी कर लेते हैं। रेगिस्तान फैलकर हरियाली को समाप्त कर देता है। अतः ऐसे काम को तेजी से फैलाने के तरीके निकालने चाहिये।

ठीक इन्हीं दिनों में मैं होशंगाबाद आ गया था। हम लोग स्कूलों में विज्ञान पढ़ाने का काम करने बिल्कुल नहीं आए थे। हम लोग तो गांव के वे बच्चे जो गरीबी के कारण स्कूल नहीं जा पाते हैं उनके लिये किस ढंग की शिक्षा हो और किस तरीके से दी जाए इस पर एक छोटा सा प्रयोग करना चाहते थे। हम इन बच्चों को रोजगार व ग्रामीण शोषण की समस्याओं से जूझने की बात को लेकर औपचारिकेतर शिक्षा में काम करने आए थे। इसके तरीकों की खोज करना था। इसकी प्रेरणा एक तरह से गांधी की नई तालीम से मिली थी। इसमें कई नए आयाम व तरीके जुड़ने की कल्पना थी।

होशंगाबाद आने का निर्णय होने में होशंगाबाद के पास रसूलिया की एक संस्था व उसके तत्कालीन संयोजक सुदर्शन कपूर का बहुत बड़ा हाथ है। सुदर्शन स्वयं अपने को बहुत अकेला महसूस कर रहे थे और रसूल या को बदलने की कोशिश में थे। रसूलिया का मित्र मंडल केंद्र सन 1807 में अकाल से राहत देने का काम करने के लिये बना था। सुदर्शन ने जो समर्थन देने का वायदा किया था वह उसने पूरा किया। किशोर भारती का पहला कार्यालय रसूलिया में ही था। सुदर्शन ने किशोर भारती को यहां जमने में मदद दी। सन 1971 में रसूलिया ने स्थानीय लोगों से जुड़ने के प्रयास में एक मीटिंग बुलाई। इस मीटिंग का उद्देश्य था कि जो तवा बांध बनने वाला है उससे जो परिवर्तन होंगे उनसे निपटने के लिये होशंगाबाद के लोगों को क्या तैयारी करनी चाहिये और उसमें रसूलिया की भूमिका क्या हो? उसमें अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, कृषि के लोग आए थे।

होशंगाबाद के आम नागरिक भी आए। मार्जरी साइक्स इस मीटिंग में एक पर्चा प्रस्तुत किया। मार्जरी गांधीवादी है और वह नई तालीम से शुरू से जुड़ी रही है। जब वर्धा की सेवाग्राम में नई तालीम का प्रयोग हुआ था तब मार्जरी

ने वही सवाल उठाया था कि यह एक टापू बन गया है और इसका असर मात्र 150- 200 बच्चों पर है। महाराष्ट्र, गुजरात सरकार के माध्यम से यह कार्यक्रम फैलाया गया पर असफल हो गया। मार्जरी का मत था कि सरकारी तंत्र के साथ मिलकर कोई काम नहीं हो सकता। मार्जरी के पर्चे का नाम था एजुकेशन फॉर द पीपुल। तवा बांध से जो बड़े-बड़े परिवर्तन होंगे, उस के संदर्भ में शिक्षा को प्रस्तुत किया था।

शिक्षा में रुचि के कारण रसूल या रसूलिया गांव में एक स्कूल खोला था जो अन्यान्य कारणों से बंद हो गया था। रसूलिया का स्कूल बंद होने के बाद सुदर्शन ने मुझसे सवाल उठाया कि अब हम करें क्या? मैंने उसे ऑल इंडिया साइंस टीचर एसोसिएशन की कहानी सुनायी और उसे कहा कि कुलकर्णी, पित्रे वगैरह से बात कर लो। उसके बाद सुदर्शन का खाना- पीना छूट गया। उसे लगने लगा कि कैसे बम्बई म्युनिसीपल कॉर्पोरेशन के काम को इस इलाके में लाया जाये। यही नींव है इस कार्यक्रम के यहां आने की। सुदर्शन ने कहा कि ऑल इंडिया साइंस टीचर एसोसिएशन के सिद्धांत से दोनों बातें दिख रही है, पहला शिक्षा में परिवर्तन व दूसरा स्कूली ढांचे में फैलना। दिसंबर 1971 में उसे यह कहानी सुनायी। जनवरी 1972 आते-आते काम शुरु हो गया। तब सुदर्शन ने कहा तुम लोगों को मैं बनखेड़ी में स्थापित होने में मदद कर रहा हूं उसके बदले में तुम इस कार्यक्रम में मदद करो। मैं तो
(सुदर्शन) वैज्ञानिक हूं नहीं। मैं तो यशपाल, पित्रे व कुलकर्णी आदि को जानता भी नही हूं। तुम्हारी दोस्ती है। हमारा स्रोत दल इन लोगो के द्वारा बनवा दो। उनसे मिल लो उन्हे रसूलिया के बारे में समझा दो। मैं इस कारण यशपाल, पित्रे व कुलकर्णी से मिला, उन्हें समझाय। उनके जो तीन सवाल थे, जो मैंने पहले बताए थे उस के संदर्भ में जो यह बिल्कुल वरदान था। एक ऐसे काम का मौका मिला जो बम्बई के नगरपालिका स्कूलों में बिल्कुल खत्म हो गया था। पित्रे तो जनवरी में आ गये। यहां आकर स्कूल देखें,
डी. आई. ओ से मिले। जब वे जाते थे तो मैं भी साथ जाता था क्योंकि दोस्त थे। उनके जाने के बाद मैं अपने काम में लग जाता था। फरवरी 1972 में यह लोग इस क्षेत्र में घूमें और फिर उन्होंने सलाह दी कि इस काम को फैलाने में क्या-क्या आवश्यक चीजें हैं-

1. कम से कम 15 स्कूलों में काम शुरू करो।
2. किताबें हमारी चलेगी, एन.सी.ई.आर.टी. राज्य सरकार की नहीं।
3. हर स्कूल से कम से कम 2 शिक्षक बुलाये जायेंगे।

एक से क्यों काम नहीं चलेगा यह पित्रे ने समझाया। एक ही शिक्षक कैसे अलग-अलग पड़ेगा। परीक्षा बदलने की बात कही। यह कहा कि प्रशिक्षण व प्रशिक्षण के बाद अनुवर्तन होना चाहिये। अनुवर्तन उतना ही आवश्यक है जितना प्रशिक्षण। उन्होंने बताया जब सरकार प्रशिक्षण देती है तो ऐसा नहीं करती है, जिन शिक्षकों को प्रशिक्षण देंगे उन्हें इन 15 स्कूलों से बाहर ट्रांसफर नहीं किया जायेगा। ऐसी उन्होंने कोई 8 -10 शर्तें सामने रखी जो उनका कहना था, सरकार से मनमानी चाहिये। शिक्षकों का ट्रांसफर क्या होता है और क्यों महत्वपूर्ण है यह हमने तभी सीखा। इसके बाद अपने उस प्रस्ताव की प्रति छोड़ गए जो उन्होंने एन.सी.ई.आर.टी. के लिये लिखा था व जिसके लिये उन्हें ₹5000 का अनुदान मिला था। यह सब कह कर वे चले गये और कहा जब आपकी तैयारी हो जाये और स्कूलों में काम करने की अनुमति मिल जाये तो हमें बुला ले। फरवरी 1972 में सुदर्शन प्रस्ताव लिखने बैठा पर उसकी विज्ञान की पृष्ठभूमि नहीं थी इसलिये लिखने में दिक्कत आयी। पित्रे वाली रिपोर्ट में विज्ञान के पाठ्य पुस्तकों की समीक्षा थी। यानी हमें भी रिपोर्ट में चलती हुई विज्ञान की पुस्तकों की समीक्षा लिखनी थी। सुदर्शन ने कहा कि जो विज्ञान की पुस्तकें चलती है वे ले आओ और उनकी समीक्षा कर दो। मैंने कहा ठीक है मैं कर देता हूं। मैंने उन पुस्तकों की समीक्षा कर दी। उसने कहा यह काम तुमने अच्छा किया है तुम प्रस्ताव ही क्यों नहीं लिख देते इस प्रकार धीरे-धीरे फंसना शुरू हुआ। फिर मैंने प्रस्ताव लिख दिया। फिर उसने कहा कि मैं डी.पी.आई. के पास जाऊंगा तो कुछ चीजों का जवाब देते नहीं बनेगा। तुम साथ चलो। हम भोपाल वैसे भी जाते थे साथ। वह जमीन के चक्कर में मेरे साथ राजस्व विभाग जाता था। मैंने कहा चलो मैं तुम्हारे साथ शिक्षा विभाग चलता हूं। फरवरी 1972 के तीसरे हफ्ते में डी.पी.आई. के पास एक टाइप की हुई रिपोर्ट लेकर पहुंच गये। वह रिपोर्ट लिखी गई थी फ्रेंडज रूरल सेंटर की तरफ से परंतु उसकी प्रस्तावना में लिखा था कि किशोर भारती की डॉ. अनिल सदगोपाल ने जो मदद की है उसके हम आभारी हैं। हमने 1973 में वल्लभ भवन में राजस्व सचिव से पूछा कि डी.पी.आई. कौन है? तब मालूम हुआ कि बी.डी. शर्मा हैं। वे बस्तर से आये थे व बस्तर में काफी हलचल

कर चुके थे। इनके बारे में हम अखबारो में पढ् चुके थे। उन्होने बस्तर के बारे में कई लेख लिखे थे। उन्होने बस्तर के सवर्ण सरकारी कर्मचारियों को आदिवासी लड्कियों से शादी करने को मजबूर किया था (आदिवासी लड्कियां जिनका शोषण ये लोग करते थे)। राजस्व सचिव ने हमारी सिफारिश कर दी बी.डी. शर्मा से। बी.डी. शर्मा ने हमारी बात धैर्य से सुनी। हमें दो-तीन दिन बाद दोबारा बुलाया 15 मिनट बात करने के बाद। जब हम दोबारा मिले तो उन्होंने हमारी रिपोर्ट पढ़ ली थी। यह हमें बहुत अच्छा लगा क्योंकि राजस्व विभाग में हमारी रिपोर्ट कोई नहीं पढ़ता था। उन्होंने कहा कि हमने एक मीटिंग बुलाई है। संयुक्त संचालक शिक्षा, उप संचालक शिक्षा, व एन.सी.ई.आर.टी. के फील्ड एडवाइजर को बुलाया है। NCERT का फील्ड एडवाइजर एक जीती जागती संस्था होती है। यह एक तरह से प्रदेशों में एन.सी.ई.आर.टी. का राजदूत होता है जो प्रदेश की राजधानी में रहता है व पक्का करता है कि प्रदेश स्तर पर कोई ऐसा काम न हो जाए जो भारत सरकार की नीति से अलग है। यहां का ऑफिस पश्चिम क्षेत्र के लिये है। गुजरात, महाराष्ट्र, गोवा व मध्यप्रदेश। यह फील्ड एडवाइजर भी वहां बैठा हुआ था। एक छोटी सी घटना बहुत महत्वपूर्ण है। उससे आप समझेंगे कि शिक्षा में हस्तक्षेप कैसे करते है? बी.डी. शर्मा ने दो-चार सवाल पूछे कि आपमें से वैज्ञानिक कौन है? कोई है जो विज्ञान समझता है? सुदर्शन ने मुझे दिखा दिया कि यह आणविक जीव वैज्ञानिक है, केल्टेक (अमेरिका) से पीएच.डी. की है, इत्यादि इत्यादि। इनके साथ प्रोफेसर यशपाल है, वी.जी. कुलकर्णी है आदि -आदि। उपसंचालक ने पूछा यह सब तो ठीक है पर यह बताइये कोई शिक्षक है आपके साथ, स्कूल का शिक्षक? आप सब क्या जाने की स्कूल की हालत क्या होती है, आप लोग तो बड़े-बड़े वैज्ञानिक हैं। हमने कहा कि है, बी.जी.पित्रे हैं। उन्होने कहा वे तो पिब्लक स्कूल के हैं। सही तर्क था, मध्यप्रदेश के स्कूलों में वह क्या करेंगे? फिर एक संयुक्त संचालक ने पूछा किसी ने स्कूल में खुद पढ़ाया है? आप लोगों के पास कोई एम.एड. या बी.एड. की डिग्री है? आप को शिक्षा के बारे में क्या मालूम है? "यही मालूम है कि जैसे हम पढ़े हैं कोई और न पढ़ें।" पर ऐसे कहते -कहते मैं भी वचनबद्ध होता जा रहा था। तब एन.सी.ई.आर.टी. के फील्ड एडवाइजर ने हस्तक्षेप किया और कहा कि, डॉ. शर्मा मेरा यह मत है कि इन लोगों को अनुमति न दी जाये। उनको कुछ भी करने से मना कर दिया जाये। बी.डी. शर्मा ने पूछा क्यों? फिर एडवाइजर ने कहा एन.सी.ई.आर.टी. ने इस मामले पर कि विज्ञान को किस माध्यम से पढ़ाया जाना चाहिये, बहुत काम किया है। जैसा ये कह रहे हैं कि बच्चों को अपने हाथों से प्रयोग करवाकर बच्चों में जिज्ञासा पैदा करके खोज पद्धति को पूरा लागू करके विज्ञान पढ़ाया जाये तो एन.सी.ई.आर.टी. ने फैसला किया है कि भारत जैसे गरीब देश में ऐसे विज्ञान नहीं पढ़ाया जा सकता है। हमारे देश में स्रोत नहीं है, पैसे नहीं है। यह जो विज्ञान है यह अमेरिका व और पश्चिमी देशो के लिये ठीक है। यह संपन्न देशों का विज्ञान है। हम लोग उनसे काफी भिड़े। उनसे पूछा तो उन्होंने कहा कि, ''इतना काम हम लोगों ने किया है, इतनी किट बांटी है जबलपुर के राज्य विज्ञान शिक्षा संस्थान के माध्यम से। वह किट इतनी महंगी है कि उनका कोई उपयोग नहीं कर पाता है। शिक्षकों की तैयारी नहीं है।" ऐसे उन्होंने बहुत कुछ बोला। हमारी खुद की जानकारी काफी कम थी तब। हमारे पास जो भी कमजोर तर्क थे हमने पेश किये। पर यह साफ था कि एन.सी.ई.आर.टी. का फील्ड एडवाइजर बहुत कुछ जानता था। उसको लगता था कि उनका राज्य विज्ञान शिक्षा संस्थान इस कार्यक्रम को सफल नहीं कर पाया तो ये लोग किस खेत की मूली है। एन.सी.ई.आर.टी. भी नहीं कर पायी। तब हमने सोचा अब तो मना हो गया है। जब एन.सी.ई.आर.टी. का फील्ड एडवाइजर बोल रहा है तो मना हो गया है, बिल्कुल। अचानक बी.डी. शर्मा ने सारी बात रुकवायी और अंग्रेजी में बोले " देखो, हमारे प्रदेश में शिक्षा की हालत इतनी खराब है कि ये नौसिखिये, कितने भी नौसिखिये क्यों न हो, उसे अब और नहीं बिगाड़ सकते। इसलिये इनको मैं अनुमति प्रदान करता हूं। "इसके बाद 6-7 डी.पी.आई. बदले हैं। किसी की इतनी हिम्मत नहीं थी शायद अशोक वाजपेयी को छोड़कर। कोई ऐसा कदम न उठा पाता। इतने विरोध के बावजूद उसने कह दिया कि ये लोग और क्या खराब करेंगे हमारे स्कूलों को। "मैं आप सब लोगों को आमंत्रण देता हूं कि आप सब इन स्कूलों में जाइये और हो सकता है आपको कुछ सीखने को मिल जाये।" बी.डी. शर्मा ने बाकी सबसे कहा। फिर उन्होंने कहा कि जो दरखास्त आपने दी है उसका जवाब आपको मिल जायेगा। फिर उन्होंने कहा कि एक बात मैं आपसे पूछता हूं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप हमसे कोई अनुदान मांगने वाले हैं? हमें मालूम ही न था। हमने पूछा कि अनुदान की क्या आवश्यकता पड़ेगी? उन लोगों ने समझाया कि टी. एस/ डी. एस, किट आदि का खर्चा और पूछा कि वह कौन देगा? हमने कहा कि हम लोग अलग सोच कर बताते हैं। हमने मशविरा किया व इतना समझ गये कि अनुदान मांगा तो बहुत समय लग

जायेगा। हमने सोचा कि यह अनुदान आदि छोड़ो। सुदर्शन से मैंने कहा कि तुम्हारे यहां तो यह कार्यक्रम मंजूर ही नहीं है गवर्निंग बॉडी (कार्यकारिणी) द्वारा तो इसका खर्चा कौन करेगा? सुदर्शन ने कहा वह मनवा लेगा। बी.डी. शर्मा से बस हां कर दो। हमने उसे कह दिया। उन्होंने कहा कि तब आप को अनुमति मिल जायेगी। जब भी आप को सरकार के साथ काम करना है, पैसा मांगेंगे तो काम अटकेगा। हफ्ते 10 दिन के बाद उनके चिट्ठी आ गई जिसमें उन्होंने हमारी सारी मांगों को स्वीकार कर लिया सिवाय एक या दो के। उस चिट्ठी पर लिख दिया उन्होंने इस कार्यक्रम में सरकार की ओर से कोई पैसा खर्च नहीं किया जायेग। दूसरी बात उन्होंने कही कि इसका पाठ्यक्रम व परीक्षा प्रणाली वही रहेगी जो सरकार की है। पर किताबें बदली जा सकती हैं। तो शिक्षक प्रशिक्षण करने, किताबें बदलने, स्कूलों में आने जाने की अनुमति मिल गई। डी. ई. ओ. को आर्डर हो गया कि 15 स्कूल तय करवाइये। परीक्षा को लेकर सोचा क्या करें। फिर सोचा अभी इतना हो गया ले लो, बाकी बाद में देखी जायेगी। यह हमारी हमेशा नीति रही है सरकार के साथ काम करने की। जितना मिल रहा है उतना ले लो। फिर उस दायरे को बढ़ाते जाओ। पहले दिन से मांगोगे तो सब मना हो जायेगा। यह बातें हमें इन छोटे-छोटे अनुभवों से ही साफ होने लगी थी। उसके बाद सुदर्शन लगातार हमसे मदद मांगता रहा। शिक्षक प्रशिक्षण में आ जाइये। उसमें जीव विज्ञान का हिस्सा आप जोड़ दीजिये।

इस प्रकार मैं टी.आई.एफ.आर. 6-7 विद्यार्थियों का पूरा एक दल ले आया जीव विज्ञान के अध्याय विकसित करने को। जब ट्रेनिंग खत्म हो गयी तो किट लिस्ट बना दी। अब इतना हो गया है तो पाठ्यक्रम व विषयवस्तु के आधार पर नई किताब लिख दीजिए क्योंकि भौतिकी की जो किताब थी वह अंग्रेजी में थी। जो मराठी संस्करण था वह भी भौतिकी का ही था। उसमें जीव विज्ञान भी जुड़ना था व मध्य प्रदेश की जरूरतों के अनुसार उसमें परिवर्तन भी शुरू हो गये थे। ये जो ट्रेनिंग थी 1972 की, 19 मई से शुरू हुई। यानी फरवरी से मई तक शिक्षक व स्कूल चुने गये थे। जब स्कूल चुनने के बाद आई तो डी.ई.ओ जो स्वयं बहुत अच्छे आदमी थे (शुक्ला) वे बहुत जोश में आ गये उनको लगा कि यह तो बहुत बढ़िया बात है। व्यक्तियों को जोश आया, ढांचे को जोश नहीं आता। जब पूछा कि स्कूल कैसे चुने जाये तो सुदर्शन ने पंडित जी वह मुझसे कहा कि अब आप लोगों का काम तो शुरू होने वाला है 1 मई से, तो अच्छा हो कि हम कुछ स्कूल उधर ले ले बनखेड़ी की तरफ। मैंने कहा बिल्कुल नहीं। तो उसने कहा नहीं अच्छा होगा चाहे थोड़ी स्कूल वहां होंगे, थोड़े यहां। हम लोग वहां के स्कूल में जायेंगे आप यहां के। हम लोग विरोध ही करते रहे वह 1 दिन डी.ई.ओ शुक्ला को लेकर यहां पहुंच गया। उन्होंने यहां के शिक्षकों से हाथ खड़े करवावाये गोष्ठी करके जिसमें सुदर्शन व डी.ई.ओ और ने भाषण दिये। शिक्षक बहुत जोश में आ गये थे। जब 15 स्कूल चुन लिये गये तब भी डी.ई.ओ. शुक्ला ने कहा कि इन 15 स्कूलों में कोई आदिवासी स्कूल नहीं है। एक आदिवासी गांव बनखेड़ी ब्लॉक में है। बहुत दूर है, अलग है वहां कोई आता जाता नहीं है, हमारा ए.डी.आई.एस भी नहीं जाता है। उस स्कूल को आप चुन लीजिए। यह गांव था महुआखेड़ा। जब 19 मई को प्रशिक्षण चालू हुआ तो सुदर्शन ने कहा कि तुम निश्चित होकर प्रशिक्षण देते रहो व यहां की (किशोर भारती की) सारी जिम्मेदारी मेरी। वह काम खेती रिंग मैं करवा सकता हूं। उन्होंने कहा कि 3 महिने के लिये अनिल को उधार दे दो। बी.जी.पित्रे वगैरह तो प्रशिक्षण के बाद लौट गये। मैं एक के बाद एक काम करता रहा।

प्रशिक्षण के बाद किट लिस्ट, किट वितरण,किताब लिखना, सब। किताब लिखने के लिये मैं एक महिने के लिये बम्बई चला गया। उस समय मैने लाल बाल वैज्ञानिक लिखी। इतना सब हो गया तो सुर्दशन ने हमारी कार्यकारिणी समिति पर हमला किया। सबको व्यक्तिगत चिट्ठियां लिखी और कहा यह मेरा अनुरोध है कि इस कार्यक्रम को किशोर भारती स्वीकार कर ले। उसने तर्क दिए काफी जोरदार। कहा कि किशोर भारती का जो दावा है शिक्षा में परिवर्तन का वह इन 7 स्कूलों के द्वारा अमल होता हुआ दिखेगा। जो पढ़े लिखे लोग हैं स्कूली शिक्षा को ही शिक्षा मानते हैं बाकी खेती आदि से जुड़ी शिक्षा को नहीं। इसलिये जब किशोर भारती इसमें काम करेगी तो स्कूली शिक्षा जो दावा है वह अमल होता दिखेगा। लोगों को भरोसा होगा। किशोर भारती की पहचान बनेगी। किशोर भारती के लोगों को इन शिक्षको, बच्चों से मिलने का मौका मिलेगा। उसे मालूम था हमारी समिति में इसका बहुत विरोध होगा। उसे यह भी मालूम था कि समर्थन कहां -कहां से मिलेगा। वह खास ज्योति भाई देसाई को मिलने बेड्छी गया। ज्योति भाई तो नरम हो गये परंतु बाकी लोगों का बहुत विरोध था व यह प्रस्ताव बहुमत से पहली बैठक में

नामंजूर हो गया। दूसरी बैठक फरवरी–मार्च में हुई। फिर काफी लड़ाई हुई। तब सुदर्शन ने विद्रोह किया कि यदि किशोर भारती इस कार्यक्रम को नहीं स्वीकारेगी तो रसूलिया का समर्थन वापिस ले लिया जायेगा। बहुत लड़ाई झगड़े हुए और अंत में बहुत बेमन से स्वीकार किया गया इसे।

रेक्स: आपकी भूमिका क्या थी इन वाद–विवादों में?

अनिल: मेरी भूमिका बहुत भ्रमित थी। मैं कमेटी की इन दलीलों से सहमत था कि हम यहां यह करने नहीं आ रहे हैं। पर एक बात मैं देख रहा था कि व्यवहार में इस कार्यक्रम को पाना बहुत अच्छी चीज़ थी। असल में तभी से कमेटी सदस्य और यहां के कार्यकर्ताओं के बीच में खाई बननी शुरू हुई। ऐसा क्यों लगता था? एक तो काम चालू हो गया था। हालांकि चिट्टियां सारी रसूलिया को संबोधित होती थी उसमें किशोर भारती का नाम भी न था। पर इस इलाके के लोग इसे किशोर भारती का कार्यक्रम कहते थे। यहां के 7 स्कूलों में साइकिलो पर मैं घूमा करता था। यहां के लोगों से पूछो

किशोर भारती क्या करती है तो दो काम बताते थे। रिंग का काम व विशिका। 1973 की जनवरी आते–आते यह धारणा लोगों की किशोर भारती के काम की और मजबूत हो गयी। हमें लगने लगा कि इस काम से हमारी पहचान बन रही है और इसे हमें करते जाना चाहिये। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस काम को करने का कौशल था। शिक्षकों को प्रशिक्षित किया, किताब लिखी। यह दिखने लगा था कि यह हमारे लिये काम का संभव दायरा है। इसलिये हमारा विरोध उतना नहीं था जितना की कार्यकारिणी का था।

रेक्स: उस समय किशोर भारती ग्रुप में भी दो ग्रुप हो गये थे, इसे लेकर।

अनिल: आनंद और रेक्स का बहुत विरोध था।

देवतादीन: ये जो कहते थे कि अनौपचारिक शिक्षा में ये काम करेंगे उसमें मैं बिल्कुल प्रभावित न था। हां, जिज्ञासा थी जानने की कि गांधीवादी संस्थाओं में क्या भिन्न करेंगे? आदिवासी लड़कों के साथ मैंने भी काम किया था। स्कूल चलाया था। विरोधाभास झट से उभर आते थे। हमारी सारी बुराइयों को वे झट से पकड़ने की कोशिश करते थे व अपने सारे गुणों को छोड़ने की। ये जब कहते थे कि कुछ भिन्न करेंगे तो मेरे पल्ले नहीं पड़ता था। इसलिये विशिका को होते हुए देखता था तो लगता था कि कुछ हो रहा है। नेतृत्व यहां कहां से उभारते, जिसकी कल्पना थी अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से। ऐसा लगता था कि विशिका के कारण जो जिज्ञासु प्रवृत्ति बढ़ेगी, तर्क क्षमता बढ़ेगी उससे कुछ नेतृत्व उभरेगा शायद। उस समय विशिका की जो सैद्धांतिक बहसे होती थी उनमें मेरी बहुत रुचि होती थी। इसलिये मैं सुदर्शन के पक्ष में ज्यादा था।

अनिल: हमारे उस समय के कार्यकारिणी के प्रतिवेदनों में लिखा है कि 'रसूलिया की मदद के बदले हम अपने 2-3 कार्यकर्ताओं का आंशिक समय इसमें देने का फैसला कर रहे हैं।' कहीं यह नहीं था कि इससे समाज बदलेगा या शिक्षा में परिवर्तन होगा, इसलिये ऐसा करते है। कहीं भी सैद्धांतिक सहमति नहीं थी।

1972 में एक जबरदस्त बात हो गई थी। मई प्रशिक्षण के बाद साफ था कि कुछ कार्यकर्ता चाहिये जो पूर्णकालिक हो। तब अचानक रशीद शेख आया जिसने कानपुर आय.आय.टी से एम.एससी. की थी व विज्ञान शिक्षण की परंपरागत पद्धति से बहुत पीड़ित था। उसे लगता था कि उसकी शिक्षा बहुत गलत ढंग से हुई है। वह नए ढंग से कुछ करना चाहता था। वह सबसे पहला पूर्णकालिक कार्यकर्ता बना। करीब साल डेढ़ साल तक काम किया बहुत कल्पनाशीलता के साथ। उसने कहा कि ऐसे कार्यक्रम के लिये एक स्रोत दल की आवश्यकता है व ऐसे बहुत लोग हैं जिनको वह जानता है जो विज्ञान शिक्षण के अंतर्द्वंदो से बहुत पीड़ित है। ऐसे लोगों को जोड़ना चाहिये। कैसे जोड़ें? तब उसने बताया कि वह अपने एन.सी.ई.आर.टी. के विज्ञान प्रतिभा वाले ग्रीष्मकालीन शिविर के दौरान दिल्ली के रसायन विभाग के डॉ. कृष्णा साने से मिला था। वह उनके शिक्षण तकनीक से बहुत प्रभावित था। तब हम दोनों सामने से मिलने दिल्ली विश्वविद्यालय अगस्त या सितंबर 1972 में गये। साने ने रुचि दिखायी। इसी दौरान अलीगढ़ के 2 शिक्षकों बाकर मेहदी व रईस अहमद को रशीद शेख ने चिट्ठी लिखी। साने ने कहा कि दिल्ली विश्वविद्यालय में ऐसे और भी लोग हैं जो विज्ञान के शिक्षण के आज के तरीकों से पीड़ित है। आप अक्टूबर में आएंगे तो मैं सबके साथ आप की बैठक करवाऊंगा। अक्टूबर में साने ने ऐसे सब लोगों को इकट्ठा किया। यह ग्रुप प्रमुख रुप से दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिकी व रसायन शास्त्र के व्याख्याताओं और रीडर्स का ग्रुप था जो आपस

में मिला करते थे कॉफी हाउस में व विज्ञान शिक्षण की दिक्कतों पर बात किया करते थे। इन सब लोगों ने यह महसूस किया कि हाई स्कूल से जो विद्यार्थी प्रथम श्रेणी पाकर यहां पढ़ने आते हैं उनकी प्रथम श्रेणी होने के बावजूद विज्ञान की तैयारी बहुत खराब है। विषयवस्तु को छोड़िए विज्ञान के आसान तरीके भी नहीं आते। यहां तक कि उनको ग्राफ बनाना तक नहीं आता थ। इसलिये उन्होंने तय कर रखा था कि विज्ञान शिक्षण की स्कूल स्तर पर जो समस्याएं हैं उससे उन्हें जूझना चाहिये। यह सब तैयारी उनकी पहले से थी जैसे टी.आई.एफ.आर. में पहले से थी। यह बहुत दिलचस्प बात है कि जगह जगह पर यह एहसास की अनुभूति हो रही थी लोगों की। इन 15-20 लोगों ने जब यह सुना कि कुछ लोग ऐसा कर रहे हैं व उनका एक विद्यार्थी रशीद पूर्णकालिक रूप से जुड़ा है तो तुरंत इन लोगों ने मिलने की इच्छा जाहिर की। ये लोग रसायन विभाग के एक कमरे में बैठक के लिये आए व मुझसे और रशीद शेख से बात की और पूछा कि हम तुरंत जुड़ना चाहते हैं बताइए क्या करना है? विजय वर्मा जो ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन के भौतिकी अध्ययन दल के द्वारा आमंत्रित स्रोत दल सदस्य थे, उन्होंने आने में रुचि दिखाई। उन्होंने जैसे ही सुना कि अध्ययन दल की किताब की विशिका का आधार बनाया गया है तो वे तो भावनात्मक रूप से बहुत जुड़ गये और कहा यह तो बहुत अच्छा काम है। जो काम 1966 -67 में शुरू हुआ था वह अब 1972 में होशंगाबाद स्तर पर आ गया है, इससे भी बहुत खुश थे। शिक्षण पद्धती व क्या पढ़ाना है इसको लेकर तो पहले ही सहमति थी। तो एक सामान्य परेशानी थी वहां सब लोगों का और इस कारण प्रतिफल बहुत जल्दी मिल गया। दिसंबर में विशिका की मासिक गोष्ठी थी जो कि किशोर भारती में हुई। उस बैठक में दिल्ली विश्वविद्यालय से करीब आठ दस लोग आए।जनवरी की गोष्ठी में दूसरे 6-7 लोग आये। इनके आने से एक नया माहौल बन गया। इन लोगों के पास विज्ञान के बहुत अच्छी समझ थी। इन लोगों के पास अच्छे तरीके थे विज्ञान मेलो का अनुभव था। विजय वर्मा, प्रमोद श्रीवास्तव, पंचपकेसन आदि के पास छोटे- छोटे प्रयोग थे। इन प्रयोगोसे ये मासिक गोष्ठी में जान डाल देते थे। मासिक गोष्ठियों में ही इनका योगदान इतना जोरदार था कि हम सब स्तब्ध रह गये। घरेलू प्रयोगशाला नामक एक पुस्तिका विकसित की। शिक्षकों को जोश आया, हमको जोश आया व दिल्ली विश्वविद्यालय के लोगों को भी मंच मिल गया। तो यह जाहिर था कि बहुत लोगों को बहुत कुछ मिल गया करने को। तब इन लोगों ने दो प्रस्ताव तैयार किए- एक दिल्ली विश्वविद्यालय के लिये वह एक यू.जी.सी. के लिये। इस प्रस्ताव में लिखा कि हाई स्कूल से हमारे पास जो विद्यार्थी आते हैं वह कितने बेकार हैं। इसलिये हम लोग स्कूल स्तर पर काम करके समझना चाहते हैं कि हमको क्या भूमिका अदा करनी है व कैसे करनी है। इसको हम प्रयोग करके खुद समझना चाहते हैं। इस प्रस्ताव में जो ठोस मांग थी वह यह थी कि हम 10-12 लोगों को यह अनुमति मिले कि हम होशंगाबाद जिले में समय दे सके। अनुमति दो तरह की चाही थी। एक, हर मासिक गोष्ठी में किसी न किसी को जाने की अनुमति यानी तीन-चार दिन की छुट्टी में आने -जाने का किराया। दो, एक पूरे सत्र में दो लोगों को होशंगाबाद में रहने की, स्कूलों में जाने की अनुमति ताकि वे वहां से अनुभव प्राप्त कर पाठ्य पुस्तकों की नयी सामग्री व नया जोश दे पाये। एक सत्र करीब 4-4.30 महिने का होता था। इसके लिये इन्हें UGC फेलोशिप दे, इनके आने जाने का खर्चा दे, यह सब मांगे थी। सब ने जोर दिया कि यह सस्ता कार्यक्रम होना चाहिये इसलिये हम दूसरे दर्जे में ही चलेंगे। इन प्रस्तावों पर दिल्ली विश्वविद्यालय व यू.जी.सी. में जोरदार बहस हुई। उसके प्रतिवेदन कभी मिल जाये तो मालूम होगा और उन्हें विशिका के इतिहास के साथ जोड़ लेना चाहिये। वह बहुत लंबी लड़ाई थी। दिल्ली विश्वविद्यालय के उसमें दो गुट थे। एक इसके खिलाफ था जो बड़ा ग्रुप था। एक छोटा ग्रुप जो समर्थन करता था। दिल्ली विश्वविद्यालय के निर्णयो पर जो नियंत्रण रखते थे इसके खिलाफ थे, यह सबसे बड़ी दिक्कत थी। UGC में भी इसी तरह दो गुट थे। यह बहुत टेढ़ी लड़ाई थी जिसे साने, विजय वर्मा, प्रमोद श्रीवास्तव ने बहुत हिम्मत से लड़ा। विजय वर्मा जब दिल्ली विश्वविद्यालय की एकेडमिक काउंसिल में सक्रिय हुए थे तो उसके पीछे यह बात थी। यह लड़ाई चलती रही। उस समय यू.जी.सी. के अध्यक्ष थे, जॉर्ज जैकब। टी.आई.एफ.आर. के सैद्धांतिक भौतिकी समूह के प्रोफेसर उदगांवकर, बम्बई विश्वविद्यालय के विज्ञान परामर्शदाता बन गये थे। बम्बई विश्वविद्यालय का विज्ञान बहुत ही दकियानूस था व आज भी है। प्रो. उदगांवकर इसमें संसोधन करना चाहते थे। इस संबंध में उन्होंने पर्चे भी लिखे थे। उनकी UGC में काफी धाक बन गई थी। उन्होंने कहा वह जाकर जैकब को समझाएंगे। उन्होंने ऐसा किया व धीरे-धीरे UGC में एक वातावरण बनने लगा इस कार्यक्रम के पक्ष में और यू.जी.सी. ने दिल्ली विश्वविद्यालय की एक्जीक्यूटिव काउंसिल को लिखा कि यदि

दिल्ली विश्वविद्यालय अपने व्याख्याताओं को छुट्टी देगी इस काम के लिये तो यू.जी.सी. उनको समर्थन देगी। इस प्रकार दिल्ली विश्वविद्यालय की एक्जिक्यूटिव काउंसिल पर ऊपर से दबाव आये।

विनोद: दिल्ली विश्वविद्यालय का भौतिकी विभाग किन्ही वजहो से सन 1962 से लेकर सन 1972 तक विश्व में बहुत ही सक्रिय विभाग के रूप में जाना जाता था। 1965 -66 में पार्टिकल भौतिकी में विश्व में सबसे अधिक पर्चे दिल्ली विश्वविद्यालय से निकले थे। फैकल्टी में बहुत ही नौजवान लोग थे। टी.आई.एफ.आर. से भी ज्यादा सक्रिय ग्रुप था।

लंबी बहस चलती थी कि वहां पर कि टी.आई.एफ.आर. जैसा महंगा संस्था क्यों रखा है जबकि दिल्ली विश्वविद्यालय का टूटा-फूटा विभाग इससे ज्यादा शोध का काम कर रहा था। मैं 1970 में बी.एससी करके एम.एससी. में आया था। हम लोगों को पढ़ाने वाले यह नौजवान लोग थे। हमारे लिये ऐसे लोगों से पढ़ना बिल्कुल नया अनुभव था। 1971 में जब हम 6 महीने पढ़ चुके थे और हम को दिक्कत आ रही थी। यह हम लोगों को जो पढ़ाना चाहते थे वह हम पढ़ नहीं सकते थे क्योंकि हमारी पृष्ठभूमि बहुत कमजोर थी। यह लोग इतने सृजनशील थे कि कहते थे कि अच्छा जो तुम्हारा पाठ्यक्रम है वह छोड़ देते हैं। जो तुम्हें समझ में नहीं आया बी.एससी. मे, वहां से शुरु करते हैं। इन लोगों ने हमको एम.एससी.पढ़ाने के लिये भी ऐसी पढ़ाना शुरु कर दिया जिस प्रक्रिया से एक अजीब चीज निकली। उस साल के 5-6 लड़कों ने तय किया कि बी.एससी. में पढ़ाने के तरीके व पाठ्यक्रम को बदलने के लिये एक मंच बनाया जाये। उसमें 6 लड़कों में से अरुण कुमार, सुधीर नाथ व चार और थे। इन लोगों ने ग्रुप बनाया और कहा कि हम लोग अनौपचारिक चर्चा करना चाहते थे कि बी.एससी. में कैसे पढ़ाना चाहिये। इसके लिये दो-तीन महिने काम करके एक पूरी रूपरेखा बनाएंगे। लड़कों से बने हुए मंच में 10 -12 शिक्षक जुड़े। यह वही शिक्षक थे जिनकी बात अभी अनिल ने की। उन्होंने कहा कि हम इन विद्यार्थियों का साथ देंगे। विश्वविद्यालय में हंगामा हो गया और हम लोगों को बैठक न करने का आदेश मिल गया। इसे नक्सलवादी प्रभाव वाला कहा जाने लगा। हमने विश्वविद्यालय के लोन में यह काम किया व 2 महीने तक यह चला। पांच ग्रुप थे। हर ग्रुप में 4 लड़के 4 शिक्षक।

2 महीने तक मेहनत करके पर्चे बनाएं वह उस से 75 पृष्ठों की एक रिपोर्ट तैयार की और औपचारिक रूप से विभाग की काउंसिल को दे दी जो 15 मिनट की एक बैठक में अस्वीकृत हो गई। बिना पढ़े। यह बात सितंबर 1972 की है । 50 लोगों के विभाग में यह 10-15 शिक्षक बहुत कम पड़ गये थे वह हमको कहने आए थे कि भाई तुम लोगों का प्रयास बेकार गया। यानी होशंगाबाद कार्यक्रम व भौतिकी के शिक्षण को बदलने की बातें लगभग एक साथ चल रही थी। 1972 अक्टूबर में उसी समय अनिल वहां पर आए जब लोग किस भूमिका से गुजरे हुए

थे कि कहीं पर स्कूली क्षेत्र में काम करें। 1972 में रिपोर्ट अस्वीकृत होने से कम लोग बहुत निराश हुए। 1973 में हमने निर्णय किया कि हम कुछ लोग विदेश नहीं जायेंगे। तभी हमने लड़कों व शिक्षकों के संयुक्त प्रयास से बनी उस रिपोर्ट की एक प्रति यू.जी.सी. के अध्यक्ष जॉर्ज जैकब को दे दी थी कि कम से कम इस को देशभर के विश्वविद्यालयों मैं भिजवा तो दिया जाए ताकि लोग सोचे कि ऐसा कुछ किया गया था। जैकब बहुत खुश हुए और कहा कि लोग मेरे पास तरह तरह के कामों के लिये आते हैं पहली बार कोई शैक्षिक मुद्दे लेकर आया है और इसे प्रसारित करना तो मेरा कर्तव्य है। उनकी तरफ से वह रिपोर्ट एक पत्र के साथ दिल्ली के भौतिकी विभाग के अध्यक्ष को भेजी गई और कहा कि इसे आप औपचारिक रूप से स्वीकार करें और 1 महीने के अंदर अपने विचार भेजें। जब वह चिट्ठी के साथ आई तो फिर विभाग में एक समिति बनी उसे देखने के लिये। हमने एक औपचारिक चिट्ठी लिखी जब 1 महिने तक उन्होंने कुछ नहीं किया था। उस रिपोर्ट का बी.एससी. हाई स्कूल से उतरा लेना-देना नहीं था। वह एक अवधारणात्मक रिपोर्ट थी।

अनिल: दिल्ली विश्वविद्यालय की आपत्तियां कई प्रकार की थी। आपकी औकात क्या है स्कूलों में काम करने की? आप तो विश्वविद्यालयों के लोग हैं। दो, आपको अगर काम करना ही है तो इतनी दूर मध्यप्रदेश के स्कूलों में क्यो? यहां कीजिये दिल्ली के स्कूलों में। तीन, मध्यप्रदेश में शिक्षा के अपने बड़े- बड़े संस्थान हैं, बड़े-बड़े लोग हैं। वहां राज्य विज्ञान शिक्षा संस्थान आदि है। वहां आपकी क्या आवश्यकता है? इन सबका जो उत्तर दिया गया था वह यह था कि इस ढंग के काम के लिये एक खास ढंग के माहौल और ढांचे की आवश्यकता है और हमें लगता है वह माहौल और ढांचा दिल्ली में नहीं है। मध्यप्रदेश में आधार है, 2 संस्थाएं इसमें काम कर रही है, वहां की सरकार से इस में काम करने की स्वतंत्रता ले ली है। यह आधार, ढांचा व स्वतंत्रता जहां है हम वहां काम करेंगे।

यह काम मध्यप्रदेश के शिक्षाविदों को करना होता तो वह कबके कर चुके होते ।

अंत में एक बात कहूंगा कि यह बहुत साफ हो जाना चाहिये कि चाहे वह मध्य प्रदेश सरकार हो, चाहे दिल्ली विश्वविद्यालय

की कार्यकारिणी समिति, चाहे UGC, सब जगह व्यक्तियों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है। कहीं यह भ्रम नहीं हो जाना चाहिये कि व्यवस्था के साथ दिया। उन व्यक्तियों ने इस व्यवस्था के बावजूद काम किया।

रमाकांत: अभी यह सवाल नहीं आया कि काम प्राइमरी स्कूलों से शुरू किया जाये? यह सोचते हुए भी कि आपको ऐसे विद्यार्थी मिलेंगे जिनको काफी कुछ सीखा हुआ भुलाना पड़ेगा। तो क्या छोटे बच्चों के साथ काम करने की नहीं सोची आपने?

अनिल: आया, बहुत आया और इस संदर्भ में भी जिसका जिक्र किया आपने। मेरे ख्याल से इस सवाल को 2 तरह से समझने की जरूरत है। एक तो शुद्ध शिक्षा का संदर्भ व दूसरा किशोर भारती का संदर्भ। शिक्षा का संदर्भ यह है

कि मध्य प्रदेश में विज्ञान की पढ़ाई कक्षा 3 से शुरू होती है और यह सही है कि जब यह छठी में आते हैं तो काफी कुछ ऐसा सीखे होते हैं जो विज्ञान शिक्षण जैसे कार्यक्रम के लिये भूलाना पड़ेगा। हालत बहुत ही खराब थी, यह हमें स्कूल व्यवस्था में घुसते ही पता चल गया था। इसलिये बहुत खुशी होती थी जब क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय हमारे शिक्षकों को यह कह कर बुलाता था कि बी.टी.आई.आदि के शिक्षक क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय में इकट्ठे हुए हैं और आप अपने शिक्षकों को भेजिए ताकि वह बताएं कि वे कैसे पढ़ाते हैं?

3 दिन के वर्कशॉप में यहां के सहायक शिक्षकों(जो हाईस्कूल पास या फेल थे) ने B.Ed व बी.टी.आई. प्रशिक्षित शिक्षक प्रशिक्षकों के सामने बड़े आत्मविश्वास से जब अपने पढ़ाने के तरीकों का प्रदर्शन किया तो हम लोगों को बहुत ही अच्छा लगा। दूसरा, बच्चों के साथ जो इतना निकट से हम जुड़ पाए सभी लोग दिल्ली विश्वविद्यालय के लोग, हम लोग, रसूलिया के लोग IIT के लोग आदि। बहुत सघन अनुवर्तन हुआ जिससे हम उन बच्चों की समस्याएं, उन गांव की समस्याएं समझ पाए। इससे बहुत सीखे की शिक्षा में किस ढंग के काम की आवश्यकता है। तीसरी बात, हम शिक्षा के प्रशासन के विषय में बहुत कुछ सीखे। उसका चरित्र उसकी आंतरिक प्रक्रियाएं, आंतरिक अवरोध सबको उस स्तर पर संपर्क के आधार पर बहुत गहराई से समझा। उस समय टी.एस/ डी.ए. हम देते थे हालांकि तीसरे साल से सरकार देने लगी। इसी तरह जब शिक्षकों का ट्रांसफर होने लगा, तब ट्रांसफर की पूरी राजनीति समझ में

इसमें डी.पी. ई. की सीमाएं समझ में आयी। कैसे उनके आदेश लागू नही होते थे क्योकि राजनैतिक नेताओ का हाथ होता था। चौथी चीज, जो समझी वह यह थी कि स्कूली शिक्षक को अपनी सम्भावनाएं व सीमाएं क्या है। उन चालीस मास्टरो के परिवार आदि के बारे में भी विस्तार से जानते थे। उनसे क्या उम्मीद रखनी चाहिये क्या नहीं यह साफ था। कोई रोमांटिक कल्पना नहीं थी उनको लेकर। उनकी सामंती पृष्ठभूमि ऊपरी वर्ग का होना व उसी वर्ग की संस्कृति होना, सरकारी कर्मचारी होने के कारण सीमा बच्चों के प्रति उनके पूर्वाग्रह वह स्वयं उनके शिक्षा के प्रति पूर्वाग्रह, इन सबकी कितनी बड़ी-बड़ी सीमाएं होती है यह सब साफ था। इसी प्रकार से पांचवा, कि शिक्षा की दिक्कतों को लेकर इतने लोग चिंताएं तो दिखाते हैं परंतु इसमें कुछ करने को कितने लोग सक्रिय होंगे उसकी संभावनाएं व सीमाएं भी साफ हो गई। हमारा स्रोत दल कभी 20 से ज्यादा नहीं बढ़ा। मध्यप्रदेश के कॉलेजों में अथक प्रयासों के बाद आज ये पांच छह लोग केवल दिखते है। यह तो इसके सकारात्मक अनुभव थे। हमारी समझ काफी वास्तविकता के निकट पहुंची। इसके विपरीत एक तो विज्ञान के मामले में सुदर्शन सोचते थे कि यदि बच्चा कक्षा में सही ढंग से विज्ञान सीखेगा तो उसका असर अन्य विषयों का समाज पर भी पड़ेगा। वह अपनी वैज्ञानिक पद्धति से समाज व अन्य विषयों की और देखेगा । इस कार्यक्रम से आज जो घोर गैर वैज्ञानिक संस्कृति है समाज की उसको तोड़ने में मदद मिलेगी। इस समझ की बहुत सीमाएं दिखने लगी। हालांकि इसका कोई वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया। परंतु यह जरूर दिखने लगा कि जो बच्चे व शिक्षक विज्ञान के कक्षा में इस पद्धति को लागू करते हैं वह अन्य विषयों में भी कहां गई ऐसा करें यह कोई जरूरी नहीं है। उन विषयों में इसकी कोई मांग नहीं है। समाज में लागू करने का तो सवाल ही नहीं उठता। समाज की अपनी ताकत जो न केवल विज्ञान को बदलने के विरोध में है

बल्कि समाज को बदलने के विरोध में भी है। यथा स्थिति को बनाए रखने की ताकत इतनी ज्यादा है कि बच्चों ने 70 मिनट के पीरियड में जो कुछ सीखा वह सब गायब हो जाता है कक्षा से बाहर आकर। इसमें हमारे यहां वर्ग के सवाल उठने लगे। आनंद व रेक्स बताने लगे कि वह देखो उस बनिये का

लड़का जब विज्ञान की कक्षा में है तो अच्छा विद्यार्थी है पर बाप की दुकान में जाकर खेतिहर मजदूरों को लूटता है और जब लूटता है तो विज्ञान कोई प्रश्न नहीं उठवाता। इस तरह के प्रश्नों के कारण हमारे यहां इस कार्यक्रम को लेकर विरोध और तीव्र हो गया।

चांदौन स्कूल, जो 4-5 उत्तम स्कूलो में से है उसके विद्यार्थी आज नौकरियो में है। आम नौकरियो में,शिक्षक, पी.डब्ल्यू.डी. इंजीनियर और न जाने क्या क्या। हमारी प्रक्रियाएं कमजोर है व आम समाज से जोड़ने की और कोई प्रिक्रया नही है। यह प्रश्न यहां चांदौन स्कूल के संदर्भ में उठने लगा था कि क्या नया हुआ इन विद्यार्थियो के द्वारा चांदौन गांव के लिये सिवाय इसके कि बड़े -बड़े घरों की ये लोग, पढ़-पढ़ कर नौकरियों में जाने लगे। विज्ञान और समाज की कड़ी नहीं जुड़ पायी।

पुरे: इस पर जोर मत दीजिए कि बड़े वर्ग के लड़के विज्ञान पढ़कर नौकरियां करने लगे आदि। यह तो गरीब वर्ग के बच्चों के साथ भी होगा। प्रश्न तो हमारे द्वारा डाली जाने वाली चीजों का है।

अनिल: रेक्स ने जो बात की कि हमारे द्वारा जो तत्व डाले गये बहुत कमजोर हैं। कुल 70 मिनट 3 दिन में। उसमें भी यदि शिक्षक अच्छा है तो ठीक वरना वह भी नहीं।शिक्षक अच्छा है तो हेड मास्टर कैसा है इस पर भी निर्भर करता है। यानी इतनी सीमाएं है इस पूरे तंत्र की। पर एक विवाद है जो पहले से चल रहा है कि विज्ञान की शिक्षा में हम सब वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बात करते हैं तो इसका मतलब तभी है जब हम अन्य विषयों की भी बात करें। न ही प्राथमिक शाला में गए -जड़ नहीं पकड़ी। रसूलिया को इन सब सीमाओं के बावजूद हमेशा लगा कि यह अच्छा कार्यक्रम है करते रहना चाहिये जबकि यहां हंगामा होने लगा कि यह कार्यक्रम हमारे ऊपर लाद दिया गया है। इस सारे झंझट में एक बार सारी फाइलें आदि हमने रसूलिया को सौंप दी थी सन 1975- 76 में।

30

1978 की समझ: जिला स्तरीय विस्तार

अनिल: हम सब लोग फंस चुके थे। काम सरकारी तंत्र मे चालू था। अब कैसे निकलेंगे आप इसमे से? अपने आपको साफ बाहर निकाल लेने के लिये जिस ढंग की तैयारी चाहिये थी वह भी नही थी। भ्रम व अनिर्णय की स्थिती में दो- ढाई साल निकल गए।

रमाकांत: आज रसूलिया से कोई क्यों भ्रम नहीं जुड़ा हुआ है? उस समय आपने कार्यक्रम छोड़ने की बात की थी। फिर जुड़ने की बात की कैसे?

साधना: असल में मैं बहुत बुरे वक्त में आई थी यहां पर। जब विज्ञान शिक्षण का 1975 का सारा जोश जो सुनाते हैं विनोद और अनिल वह कुछ था नही। बल्कि मेरा पहला काम था कि विज्ञान शिक्षण की फाइलों को व्यवस्थित करके रसूलिया को सौंपना। मैंने तब विज्ञान शिक्षण के सारे कागजात व्यवस्थित व वर्गीकृत किये एवं रसूलिया को सौंप दिये। पर खैर इसका कोई मतलब नहीं था क्योंकि जब मासिक गोष्ठियां आती थी तब हम लोग फिर जोश में आकर तैयारी करते थे और पहुंच जाते थे। फिर यह भी चलता रहा था कि किट बहुत महंगी है। मैंने असल में दो बार बिल्कुल अकेले किट बांटी है। सबसे पहला काम मैंने यही किया था। यह वि.शि.का. का सबसे गंदा काम होता था। कोई 150 चीजे थी। ब्लेड- फुग्गो से लेकर सूक्ष्मदर्शी तक। किसी की रुचि नहीं थी। इसलिये होता था क्योंकि बांटने ही है इसलिये बांट दो। इस काम में शिक्षकों की भी रुचि नहीं होती थी क्योंकि जो किट लिस्टे हम उन्हें भरने के लिये भेजते थे या सामान की सूची बनाने के लिये भेजते थे इतने गंदे वह अजीब ढंग व अरुचि से बनी होती थी कि 16 शालाओं की उपलब्ध स्टॉक की सूचियों को व्यवस्थित करने में ही मुझे 15 दिन लग जाते थे। दूसरी बात यह थी कि मेरी एक प्रतिक्रिया थी कि मैं यहां विज्ञान शिक्षण का काम करने नहीं आयी हूं और किशोर भारती में एक नकारात्मक वातावरण बन गया था। इसकी क्या संभावनाएं हैं इसकी मुझे कोई समझ नहीं थी। क्या हो चुका है, इसको लेकर आजकल की तरह बैठेके नहीं होती थीं। यह सवाल बहुत होता था कि अगर 16 स्कूलों में यह कार्यक्रम टापू बनकर ही रहता है, तो इस से कोई मतलब नहीं है। एक व्यक्ति ढूंढ कर लाना चाहिये जो इसे फैलाये। वह व्यक्ति कभी विजय वर्मा दिखते थे तो कभी प्रमोद श्रीवास्तव।

उनसे बहुत बात होती थी और घूम-फिरकर पता चलता था कि अभी उनकी कोई तैयारी नहीं है। एक तो यह था कि एक सक्षम व्यक्ति हो जो इसे फैलाये और दूसरा कि लोग कहां से आयेंगे? ये दिल्ली वालो जैसे लोग कहां से आयेंगे। ये स्थिति है और 16 स्कूलों में चलाने का कोई अर्थ नहीं है तो इसे बंद कर देना चाहिये और जब बंद करने का निर्णय लेने की बात आती थी तो सवाल खड़े हो जाते थे कि क्या यह सब जो किया यह बेकार गया? यह सब 1975 से मध्य 1970 तक चलता रहा और न तो कोई नया विचार आया और न कोई सक्षम इंसान कहीं से टपका। स्कूल में हालत खराब होती गयी क्योंकि नियमित अनुवर्तन व अनुवर्तन का जोश खत्म हो गया। मेरे सामने तो अनुवर्तन जैसा कुछ होता ही नहीं था (1975)। मासिक गोष्ठियां होती थी। दो प्रशिक्षण शिविर हुए जिनमें किट ग्रामीणकरण व सस्ता करने के उपाय एवं कमी वाले स्कूलों के लिये शिक्षक प्रशिक्षण का मुद्दा था। बहस का प्रश्न फैलाव कैसे हो रहा?

माईज: कड़ी नहीं बन रही क्योंकि अनिल ने कहा कि भ्रम की स्थिति थी और आपने शुरू कर दी फैलाव की बात।

साधना: फैलाव की बात एक लगातार चलती हुई बात है 1972, 1973, 1974.....हमेशा। क्योंकि यह सिद्धांत था कि हमें एक टापू नहीं बनाना है। इसलिये शिक्षा के सरकारी ढांचे में काम शुरू किया। तो अगर फैलाव का कोई रास्ता दिख जाता तो कम से कम यह संतोष तो हो जाता कि हम एक टापू में काम नहीं कर रहे हैं।

माईज: सिद्धांत तो स्पष्ट है कि पहले से था दिमाग में पर इस पर ध्यान केंद्रित कब हुआ?

रमाकांत: अनिल ने बताया कि 1975 में एक दिशा भ्रम हुआ क्योंकि समाज से कड़ी नहीं बन रही थी और उसके साथ ही कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास भी नहीं हो रहा था। दूसरी बात कि कार्यक्रम को कमजोर बनाने वाली शक्तियां बहुत मजबूत है। इन 2 कारणों से कार्यक्रम से हाथ खींचना चाहा। फैलाव से कैसे जुड़ता है?

विनोद: किशोर भारती में 1975 के आसपास रेक्स आनंद बुखार काफी जोर पकड़ गया था। हम शिक्षा का कार्यक्रम सरकारी स्कूलों में क्यों कर रहे हैं?

जबकि हमें काम करना चाहिये किन्ही और
वर्गों के साथ यह प्रश्न था गहरे रूप में। न तो यह कार्यक्रम हमारे ख़यालात से जुड़ पाता था और साथ ही बहुत सीमित था। यह एहसास था कि और कुछ नहीं तो फैलाव ही होता है तो एक उपलब्धि है। वह भी नहीं हो पा रहा था क्योंकि अभी 16 स्कूल ही नहीं संभल रहे थे। फैलाव एक मायने में उपलब्धि होगी यह हमेशा था दिमाग में पर कैसे होगा यह अस्पष्ट था। 1977 में किशोर भारती क्या करें उसको लेकर सघन चर्चा हुई केवल वि.शि.का. को लेकर नहीं,सब कार्यक्रमों को लेकर।

गुप्ते: पर फैलाव में हो.वि.शि.का. को केवल शैक्षिक जिम्मेदारी हमारी होगी ऐसा कहने पर भी जो दो प्रश्न थे कि किस वर्ग के साथ काम करे व वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले, वे तो फिर भी थे?

साधना: हां, समाज में वैज्ञानिक मानसिकता कैसे विकसित होगी व गरीबों के साथ कैसे काम होगा वे प्रश्न हो.वि.शि.का. की बहस से हल नहीं होंगे यह स्पष्ट था। उसके लिये क्या किया गया यह अलग मुद्दा है। सकारात्मक रास्ता था फैलाव का। हमारी भागीदारी शैक्षिक व ऐच्छिक हो जायेगी और कार्यक्रम चलता रहेगा।
इसके प्रशासनिक काम डी.एस.ई, डी.ई.ओ., डी.पी.आई. तक भागना, टी.ए/ डी.ए. के झगड़े बहुत थकाने वाले थे। शैक्षणिक काम का तो मौका ही नहीं मिलता था। अचेतन में था कि शैक्षणिक रुचि है परंतु प्रशासन के पचड़ो में हम नहीं पड़ना चाहते थे। तब तक शिक्षकों के टी.ए/ डी.ए को छोड़कर किट, किताबे, परीक्षा आदि सबका खर्चा किशोर भारती व रसूलिया का था, सरकार को इससे कुछ लेना-देना न था। सरकारी व्यवस्था में इसके किसी भी पहलू को लेकर कोई जिम्मेदारी की भावना न थी। वह रसूलिया विज्ञान व किशोर भारती विज्ञान था। 1977 में सत्यम(डी.पी.आई) के साथ गोष्ठी हुई। सत्यम ने गोष्ठी में कहा कि फैलाव तभी होगा जब मूल्यांकन से जाहिर हो कि यह कार्यक्रम बेहतर है। उपलब्धियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया।
हो.वि.शि.का. का एक बैच तब तक दसवीं में पहुंच गया था व एक नवीं में सन 1977 तक। इसके विद्यार्थी अलग-अलग हाई स्कूलों में पहुंचे थे। इन विद्यार्थियों के नवीं व दसवीं में प्राप्त अंकों की तुलना सामान्य प्रणाली से पढ़ें विद्यार्थियों के अंकों से की गयी। एक रिपोर्ट तैयार की गई जो

तत्कालीन शिक्षा सचिव दाते, शिव मित्रा, क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय प्राचार्य, डी.पी.आई निर्मला बुच आदि के साथ हुई औपचारिक गोष्ठी में प्रस्तुत की गयी।
माईज: सवाल इसलिये भी था कि सिर्फ एक ही विषय में सिर्फ 3 घंटे बाद तीन पीरियड देकर हम क्या करेंगे? फैलाव के लिये और विषयों में और अन्य कक्षाओं(प्राथमिक व उच्च माध्यमिक) के लिये क्यों नहीं सोचा गया?
रेक्स: इसे समझने के लिये हमें किशोर भारती में उस समय हो रही चर्चा/ बहसो में जाना पड़ेगा। दो -तीन समस्याएं थी आत्मनिर्भर होने की, अनुदान की, किशोर भारती की छवि की। हमें लगता था कि आस-पास के गांव में किशोर भारती की छवि एक बड़ी जमीदार की थी। जमीन छोड़ने की बात उठी। देश के दूसरे हिस्सों में जैसे, शाहदा, भूमि सेना(मनोहर थाना में), आदिवासी आंदोलन चल रहे थे और हम सब उनसे उत्साहित थे।

वि.शि.का. से इसलिये भी परेशान थे क्योंकि यह हमारे प्रमुख कार्यकर्ताओं का बहुत समय लेता था। हमारा भावनात्मक झुकाव गांवों में जाकर भूमि सेना और शाहदा जैसे काम करने की ओर था। इन आंदोलनों में एक लगातार संपर्क भी था। हम लोग उस समय अपने अनुभवों का विश्लेषण भी कर रहे थे। कभी व्यापक पैमाने पर विकास कार्य सही लगता था तो कभी जमीन छोड़कर गांव में काम करना। हममें से प्रत्येक को लगता था कि किशोर भारती आई.सी.एस.एस.आर. जैसी किसी शोध संस्था को देकर गांवों में काम शुरू करना चाहिये। खेती में समय जाता था व आत्मनिर्भरता तक पहुंच नहीं पाते थे और लगता था कि हम यह कोशिश ही क्यों कर रहे हैं? तो ये विभिन्न विचार थे जो उस समय किशोर भारती में चल रहे थे। गांव जाने का प्रश्न उठते ही सवाल सामने आता था क्या हिम्मत है? हममें से कई को लगता था कि नहीं है। हो.वि.शि.का. को लेकर एक समझ बन रही थी कि एक तो उसका अपना संवेग (MOMENTUM) था फैलाव के लिये। बिना फैलाव के शिक्षक निरुत्साहित हो रहे थे कुछ नया नहीं हो रहा था। फैलाव की जरूरत नीहित थी। मुझे लगता है कि इस कार्यक्रम में जो एक अलग-थलग पर जाने की भावना आ गयी थी वह एक बड़े क्षेत्र में फैलने से समाप्त हो जाएगी। शिक्षक अकेले पड़ गये थे और इस इलाके में उनका मखौल उड़ाया जाने लगा। यही अब जिला स्तर पर दोहराया जा रहा है। परंतु 16 स्कूलों के स्तर पर यह भावना बहुत थी।

साधना: विकास कार्यक्रमों की सीमाएं हो.वि.शि.का. की सीमाएं, अपना आकर्षण गांव में जाकर काम करना, गरीबों को संगठित करना, किशोर भारती को हटा लेना, यह जमीन छोड़ देना चाहिये, विज्ञान शिक्षण से क्या हो रहा है, आदि। यह सब चर्चाएं चल रही थी और इस पूरे परिप्रेक्ष्य में सोचना था कि अब आगे क्या करना है।

रेक्स: कई व्यक्ति बहुत ही मौके से यहां पहुंचे और हमें समाज व सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया पर सोचने को मजबूर किया। शोषण की प्रक्रिया क्या है, यह प्रश्न भी उन्ही व्यक्तियों के कारण उठा। यह सब समझ बहुत विकसित हुई उन दिनों करीब 1-2 सालों की छोटी अवधि में।

साधना: हर कार्यक्रम की सीमाएं दिखने लगी। रास्ता एक ही दिखा गरीबों के साथ संगठन। तब वि.शि.का. को एक नए ढंग से देखने का मौका मिला। अभी तक विज्ञान शिक्षण से विज्ञान के कार्यक्रम व वैज्ञानिक मानसिकता शायद विकसित होगी इस रूप में देखा गया था। पर अब लगा कि फैलाव से यह हमारे लिये पूरे जिले के गांवों में संपर्क सूत्र होगा। घुसने का रास्ता मिलेगा, एक पहचान मिलेगी कि यह विज्ञान वाले हैं। इस समझ से कार्यक्रम का फैलाव महत्वपूर्ण हो गया हमारे लिये। यह उस समय की समझ थी। ऐसी योजना बनने लगी थी कि बस पहला प्रशिक्षण शिविर खत्म होते ही कोई हरदा में रहेगा, कोई टिमरनी में और कोई जिले के किसी और हिस्से में और.....

रेक्स: समझ यह थी कि जाते ही गांव-गांव में संगठनात्मक काम शुरू कर देंगे।

साधना: इस बात पर भी कुछ असहमति थी। सबसे पहले यह उद्देश्य था कि हमको इस जिले की सामाजिक, आर्थिक व ऐतिहासिक परिस्थिति समझने में, गरीबों के साथ क्या काम करें यह समझने में मदद होगी। फिर हम काम शुरू करेंगे।

रमाकांत: बात साफ नहीं हुई। विज्ञान में काम सुविधा व परिस्थिति जन्य बात थी शायद इस कारण 10 सालों तक काम हुआ। परंतु सामाजिक संदर्भ हमेशा मन में था तो गांवो में (16 स्कूल वाले) केवल 'विज्ञान वाले' हैं जैसी पहचान क्यों बनी? सामाजिक काम करने आये हैं यह पहचान क्यों नहीं बनी यह बनायी गयी?

अनवर: जब विज्ञान का काम शुरू किया गया तब क्या सामाजिक असर होगा इसको लेकर जो विश्वास था, उसके बारे में कुछ कहेंगे ?

अनिल: भ्रम दूर हो जाना चाहिये कि किशोर भारती के कारण सुविधा व परिस्थिति जन्य थे। रसूलिया के कारण दूसरे थे। उनको विश्वास था कि यदि हम विज्ञान को इस तरह पढ़ाएंगे तो उसका फायदा अन्य विषयों व समाज को मिलेगा। यह अलग प्रश्न है कि इस विश्वास के पीछे उनका समाज का क्या विश्लेषण था? दूसरा,(रमाकांत का प्रश्न) रिंग के कुअोंं या संकर गाय वाले गांवो में पहचान अलग है। बात 10 साल की नहीं 72-75 तक की है, चार-पांच साल की बात है। बनखेड़ी के 7 गांवो में भी जहां अन्य कार्यक्रम थे वहां छवि अन्य कार्यक्रम वाली भी थी। यह छवि जो गतिविधि जहां चलती थी उससे जुड़ी थी। आपसे कड़ी न हमें साफ थी न उनके दिमाग में साफ थी।

रमाकांत: अस्पष्ट अभी भी।

साधना: काम को लेकर हमारी अपनी स्पष्टता कितनी थी वह गांव वालों में यह समझ विकसित करने में हमारा अपना योगदान कितना था? उदाहरणत: आज जब शिक्षक टी.ए./ डी.ए. की समस्या प्रस्तुत करता है तो हम केवल यह वायदा नहीं करते हैं कि हम करवाएंगे वरन टी.ए./ डी.ए. की समस्या के सामाजिक पहलुओं पर बात करते हैं, सरकार की प्राथमिकताओ व उनमें शिक्षा के स्थान पर बात करते हैं। यह अलग ढंग का तरीका है। पहले शायद ऐसा था (चर्चाओं से लगा) कि वि.शि.का. को सफल बनाने के लिये ये समस्याएं हमें ही हल करवानी है चाहे जैसे भी, इसी व्यवस्था में। यानी शिक्षा से आगे सामाजिक मुद्दों पर बात जाती ही न थी। कार्यक्रम में भाग लेने के उद्देश्य अच्छी विज्ञान पढ़ाने के कुछ सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं शुरू करवाने तक के थे। यानी अनिल चांदौन में अनुवर्तन करते थे तो विज्ञान के अतिरिक्त सामाजिक मुद्दों पर भी शिक्षकों व अन्य लोगों से चर्चा करते थे। परंतु विजय वर्मा नये विचार देकर आते थे लेकर आते थे अच्छी विज्ञान सिखाते थे पर अन्य सामाजिक मुद्दे जानबूझकर नहीं उठाते थे।

हार्डी: यानी स्कूली कार्यक्रम का किशोर भारती के सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्यो से क्या लेना-देना है यह सोचा ही नहीं इसलिये ऐसी कड़ी संभव ही नहीं थी।

अनिल: बिल्कुल।

हार्डी: यह समझ तो शायद 1977 में बनी। पहले तो कार्यक्रम उठाया है इसलिये करना ही है, इसलिये किया गया।

अनिल: वि.शि.का. और समाज कैसे जुड़ते हैं आज कहते हैं अस्पष्ट है। उस समय तो स्पष्ट था कि ऐसा नहीं है।

इसी कारण जो वि.शि.का. कि काम के लिये जाते थे स्वाभाविक रूप से अन्य कामों से उसे जोड़ते नहीं थे। दूसरी बात कि विकास के कार्यक्रमों का प्रभाव इन गांवो में था जिस कारण लोग हमें उस नजर से देखते थे। तीसरी बात है वह अस्पष्टता जो 1977- 78 तक कुछ साफ हुई। उस समय तो क्या करें समझ में नहीं आता था। कोई मान लीजिए कुएं में खुदने की समस्या लेकर आये तो यह मालूम नहीं था कि ऐसे कितने कुएं हम खुदवा पाएंगे। इसलिये हरिजनों की पानी की समस्या को कैसे हल करें व विज्ञान शिक्षण का इस से क्या लेना-देना है यह एकदम अस्पष्ट था। जमीन के असमान वितरण से, मजदूरी की समस्या से क्या लेना-देना है स्कूली शिक्षा का या क्या करें ऐसी समस्याओं के लिये यह समझ ही नहीं थी तो कैसे कोई और पहचान बनाते?

फैलाव क्यों किया इसके कारण अभी भी अधूरे हैं। पर बाकी प्रश्नों का समाधान हुआ क्या?

रेक्स ने इस सवाल को एक परिप्रेक्ष्य में पेश करने का प्रयास किया।

किशोर भारती एक छोटी सी संस्था थी और समाज की कई ताकतें हम पर प्रभाव डाल रही थी।यह समय था जब आपातकाल आया व चला गया। इसका प्रभाव था इसका प्रभाव था। राजनैतिक परिस्थिति इतनी बदली स्वतंत्रता पर कुठाराघात हुआ और हम लोग केवल पर्यवेक्षको के रूप में देखते रहे। संस्था की आम गतिविधियों पर भी जो असर होना था वह हुआ। राजनैतिक लोगों पर जो हमला होता था और उनकी मदद हम नहीं कर पाते थे तो अपनी असहायता का भी असर था। वि.शि.का. हमारे लिये एक अलग थलग सा कार्यक्रम नहीं था। इन सब परिस्थितियों के संदर्भ में देखना जरूरी है। दूसरा सशिका 1974 दिसंबर से 1976 तक चला। वह किशोर भारती की मूल कल्पना को टेस्ट करने वाला कार्यक्रम था। किशोर भारती के दो बहुत सक्षम कार्यकर्ताओं ने इसमें अपना पूरा समय दिया साधना व कमल। 80-90% समय उसका इसमें गया व ग्रुप का हर हफ्ते 3-4 घंटे का समय इसे समझने में लगता था। सन 1975 तक इस कार्यक्रम के विवेचन से परिवर्तन के एक औजार के रूप में काम करने की जो सीमाएं हमें दिखी उसने हम सभी को झकझोर दिया। यानी हमारे यहां आने का कारण वह था।

इसलिये यह हमारे लिये काफी बड़ी बात थी। सशिका के इस अनुभव को हम कैसे आत्मसात करें, इसे किस परिप्रेक्ष्य में समझे व इससे कैसे आगे बढ़े? ये बहुत वास्तविक प्रश्न थे हमारे सामने। आत्म आलोचना इत्यादि बहुत थी इस ग्रुप में। सशिका से वि.शि.का. में जाना और वि.शि.का को जिला स्तरीय कार्यक्रम तक ले जाना उसे एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में सकारात्मक रूप में देखने का नजरिया कमल ने हीं प्रस्तुत किया था और उसके बाद से जिला स्तरीय फैलाव को लेकर हमारा सारा नजरिया बदला। होशंगाबाद विज्ञान के फैलाव की चर्चा पूरे ग्रुप में हुई थी और 1977 मध्य से अंत तक खत्म हो गयी थी। 1978 फरवरी तक प्रस्ताव पेश कर दिया था।

विनोद: परिप्रेक्ष्य तो बन गया परंतु कारण क्या थे फैलाव के ?

साधना: छोटे-छोटे ढांचो में हुए कामों का प्रभाव नहीं होगा। परिवर्तन के लिये वातावरण बनने की आवश्यकता होती है क्योंकि छोटे पैमाने पर जो काम किया जाता है उसे खत्म करने वाली ताकतें समाज में बहुत मजबूत है और इसलिये आगे बढ़ पाने की संभावना नहीं रहती। इसलिये सघन काम के साथ-साथ वातावरण बनाने की भी आवश्यकता होती है। यानी बड़े पैमाने पर काम करने की। उदाहरणत: स.शि.का. के बच्चों से कहा कि वे पंचो व सरपंच से बात करके पंचायत के कार्यों व सरपंच से बात करके पंचायत के कार्यों के विषय में पता लगाएं व उसकी तुलना पंचायत द्वारा अपेक्षित कामों से करें। बच्चों के लिये गांव में जाकर, लोगों से प्रश्न पूछ कर यह जानकारी निकलवाना टेढ़ा मामला था। किशोर भारती के लोगों से प्रश्न पूछना एक बात है। वहां उनकी हिम्मत भी नहीं होती है। यह सीमा है छोटे स्तर के कामो की जिसके कारण बड़े पैमाने पर वातावरण बनाने वाले कामो की आवश्यकता महसूस होती है। दूसरे, बड़े पैमाने पर काम का अर्थ है कि किशोर भारती का जो अड्डा है वह छोड़ना पड़ेगा। जिले में अलग-अलग जगहों में फैलकर बसना पड़ेगा। गांवों में लोगों के साथ समय लगाकर गांवों को समझना पड़ेगा और तभी हम फैसला कर पाएंगे कि हम आगे क्या करें। हम संगठनात्मक काम करेंगे, हम प्रौढ़ शिक्षा का काम करेंगे या कुछ और। ऐसी परिस्थिति में विज्ञान शिक्षण एक ऐसा कार्यक्रम था जो तार्किक रूप से हमारे माध्यम बनने के उद्देश्यों को पूरा करता था और इसका अनुभव हमें था। हम ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ रहे थे। विशिका से संगठनात्मक काम का प्रौढ़ शिक्षा का काम। यह मुख्यत: दो बातें थी

जिनके कारण फैलाव का मतलब दिखा और जोश पैदा हुआ।

रेक्स: विभिन्न वर्गों की भूमिका और सामाजिक संरचना स्पष्ट हो रही थी। हमें लगा कि यदि हम शोषितों के साथ अभी काम नहीं कर सकते तो हम कम से कम मध्यम वर्ग के साथ काम करें जिससे बाद में शोषितों के साथ काम

करने पर मध्यमवर्ग उनके पक्ष में एक सकारात्मकता रख ले। कम से कम मेरी समझ में हो.शि.वि. का हमें जिला स्तर पर एक आधार मिल रहा था। हमें लगा कि वि.शि.का के साथ हम अन्य कार्यक्रम उठा सकते हैं और मध्यम वर्ग में एक माहौल बनाने का काम कर सकते हैं। इसके बाद और कोई काम कर सकेंगे।

अनवर: स.शि.का एक समय में मुख्य कार्यक्रम माना गया। उससे सामाजिक परिवर्तन का काम हो सकता है यह विश्वास था। फिर उसकी सीमाएं दिखी तब उस कार्यक्रम की उपयोगिता समझ में आयी जो पहले छोड़ने की इच्छा थी। फिर इस कार्यक्रम वि.शि.का. का महत्व मध्यम वर्ग के संदर्भ में, मध्यम वर्ग के कामों के लिये समझा। इस पूरे अनुभव को प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

डी.पी.सिंह: अंतर्विरोध मालूम पड़ा। पहले कहा गया कि वि.शि.का. के कामों के कारण हम कई वे काम नहीं कर पा रहे या उसके लिये समय नहीं निकाल पा रहे जो हम करना चाहते हैं। इसलिये फैलाव की सोची ताकि हमारी जिम्मेदारी केवल शैक्षणिक रहे। प्रशासनिक काम सरकारी तंत्र के पास होंगे और हमारे पास अन्य काम करने का समय होगा और दूसरी तरफ यह कहा जा रहा है कि वि.शि.का जब जिला स्तर पर फैलेगा तो बहुत लोग जुड़ेंगे। इन दोनों बातों को कैसे समझें?

अनिल: जब यहां पर सब 1977 से समाज को नये ढंग से समझने की शुरुआत हुई। खासकर समाज को वर्ग विश्लेषण की दृष्टि से देखना शुरू हुआ। हिंदुस्तान में वर्गों के टकराव को लेकर किस ढंग से काम हो चुके हैं, अन्य इलाको, गरीब तबके के संगठनों का इतिहास क्या है? जब इस तरह की बहस शुरू हुई तब इसमें रसूलिया की कोई रुचि नहीं थी। सुदर्शन कपूर की भी रूचि नही थी। उन्हें हमेशा लगा कि यह बेकार के सवाल है और ये नहीं उठने चाहिये और हमें इमानदारी से विज्ञान पढ़ाने का काम करते रहना चाहिये या संकर गाय का काम, या दूध वितरण का काम या खेती की नई तकनीक सिखाने का काम या बायोगैस का काम, रिंग के कुओं का काम, सहकारी समितियां बनाने का काम करते रहना चाहिये ईमानदारी से।इसलिये

जब हमने विज्ञान शिक्षण को नये दृष्टिकोण से फैलाने का निर्णय किया तो उस समय स्थिति बिल्कुल उल्टी हो चुकी थी। रसूलिया की इस काम में रुचि बिल्कुल खत्म हो चुकी थी और उनको बिल्कुल समझ में नहीं आ रहा था कि किशोर भारती की इस काम में फिर से रुचि क्यों जागी है? इसलिये 1978 में फैलाव का निर्णय हुआ तो हम को रसूलिया को लगभग हाथ पकड़कर खींचना पड़ा, हालांकि जब एक बार ढकेल दिया तो फिर उन्होंने जोश के साथ काम किया । पर हमारी और उनकी भागीदारी के कारण भिन्न थे। हमको जो चीज प्रेरित कर रही थी वह उनको नहीं कर रही थी और उनको जो प्रेरित कर रही थी वह हमको नहीं। परंतु काम एक ही था, मंच एक ही था। काम इतने थे किताब लिखो, छपाई करवाओ, ट्रेनिंग करो.... सरकारी कर्मचारियों से मिलो आदि।

गुप्ते: जब आप रसूलिया की बात करते हैं तो वास्तविकता में एक ही व्यक्ति की बात होती है।

हार्डी: रसूलिया की क्या रूचि थी विज्ञान शिक्षण में?

अनिल: मैंने बताया न, विज्ञान को सही ढंग से को पढ़ाया जायेगा तो समाज पर असर पड़ेगा। इसी समझ से उन्होंने 1978 में भागीदारी की। हमको शिक्षकों को प्रेरित करना है, बच्चों को सही विज्ञान पढ़ाना है, अच्छा पाठ्यक्रम विकसित करना है। सब ईमानदारी से करना है व इस पर कोई सवाल खड़े नहीं होने चाहिये। ये किशोर भारती वाले लगातार बहस करते रहते हैं। इससे ही सुदर्शन की बहुत तंगी है।

देवतादीन: जब सुदर्शन ने सुना कि हम क्यों फैलाव के काम में जुड़ रहे हैं तो वे बहुत नाराज हुए और उन्होंने कहा कि आप कार्यक्रम का दुरुपयोग कर रहे हैं। बहुत विरोध किया। वह यह सुनना चाहता था कि यह जो कार्यक्रम है वह विज्ञान के लिये ही चलेगा। यानी जो वह कहता था वह ही हो और बात कुछ सुनता ही नहीं था।

विनोद: किशोर भारती में वाकई एक भ्रम की स्थिति थी। समाज के परिवर्तन में वे क्या रोल अदा करें इसकी स्पष्टता नहीं थी। वि.शि.का के शैक्षणिक मुद्दे को अपना रहे हैं या सामाजिक को यह भी स्पष्ट नहीं था। साथ-साथ किशोर भारती में छोटे-छोटे सामाजिक प्रयोग हुए। उन्होंने विकास में कुछ काम किए चाहे संकर गाय, चाहे खेती, चाहे रिंग और उसमें सीमाएं देखी कि विकास के काम का फायदा तो गरीब किसान को नहीं संपन्न किसान को ही मिलता है।

गरीबों के साथ काम करना चाहते हैं पर क्या करें? औपचारिकेतर शिक्षा के क्षेत्र में कमल और साधना ने काम किया तो सीमाएं दिखी, बच्चों का खुद के परिवेश से अलगाव हो गया। उसके मूल्य और संस्कृति गांव से हटकर किसी छोटे शहर के होने लगे, इससे घबराहट हुई। इन सबके साथ वि.शि.का चलता हुआ कार्यक्रम था पर दिखता नहीं था कि किसी बुनियादी मुद्दों के साथ जुड़ा है। बाकी सब कार्यक्रमों की सीमा दिख रही है। सबको कहीं न कहीं जरूरत होती थी कि कोई काम होता रहे, चलता रहे। हो सकता है मैं गलत होउं पर ऐसा मुझे लगता है।

अनिल: पिछले सत्र में हमने बताने की कोशिश की थी हमारी 1978 की समझ व फैलाव के कारण। इस को समग्र रूप में प्रस्तुत करेंगे। 5 कारण पेश करेंगे, दो मैं और तीन साधना। जब सशि◌ाका बंद किया 1976- 77 में तो उस से सीखे सबक वि.शि.का. फैलाव की नींव बने। सशिका में 8-10 गरीब बच्चों के साथ नयी शिक्षा प्रणाली विकसित करने का काम किया था। उससे यह सामने आया था कि जब तक सारा समाज या उन बच्चों के संदर्भ में उनके सारे गांव बदल नहीं रहे हैं और हम उन बच्चों को नये मूल्य, नये तरीके, नयी शिक्षा प्रणाली से पढ़ाते हैं परंतु उनका घर बार, मोहल्ला नहीं बदलता है तो जितना हम सब करते है, वह बेकार हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला यदि शिक्षा से परिवर्तन का काम कर रहे हैं तो जो काम शिक्षा का बच्चों के साथ कर रहे हैं उसी दिशा में, उसी ढंग का काम आप बाकी समाज में भी करे। आपको बच्चों के समाज, उनकी बिरादरी के साथ भी उसी तरह संपर्क करना पड़ेगा। तभी नयी हवा बनेगी अन्यथा समाज के पुराने विचार, पुराने ढंग, पुराने रिवाज इन बच्चों पर हावी होते रहेंगे। शिक्षा से माहौल खड़ा करना, सब उम्र के लोगों के साथ अलग-अलग कार्यक्रम चलाकर यह बहुत हावी हो गया था। जब विज्ञान शिक्षण में माहौल बनाने की, बड़े पैमाने पर विचार फैलाने की संभावनाएं दिखी तो यह हमें सकारात्मक कार्यक्रम के रूप में दिखने लगा। दूसरा मुद्दा, 1977-78 में हम लोगों ने हिंदुस्तान में गरीब

लोगों के संगठनों को समझने का प्रयास किया था। इससे साफ हुआ कि इन्होंने अपने अपने इलाकों में क्या महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिका अदा की। परंतु, साथ-साथ यह भी साफ हुआ कि इन जबरदस्त आंदोलनों की अपनी सीमाएं कैसे आयी। वह सीमाएं कैसे हमारी पूरी समाज

व्यवस्था से जुड़ी हुई है। इन सीमाओं को तोड़ने में उस इलाके के मध्यम वर्ग के लोगों ने कुछ भूमिका अदा की है। साथ-साथ जब गरीबों को संघर्ष करना पड़ा तो मध्यम वर्ग के लोगों ने समर्थन के रूप में कारगर भूमिका अदा की। चाहे अखबार के माध्यम से, चाहे पैसा इकट्ठा करके चाहे सैद्धांतिक विश्लेषण के माध्यम से या शैक्षणिक कार्यक्रमों में योगदान देकर। महाराष्ट्र, केरल, पश्चिम बंगाल जहां मध्यम वर्ग बहुत बड़ा है वहां यह हुआ। इसके विपरीत पूरे मध्यप्रदेश में बहुत ही सामंती वातावरण दिखा। जो यहां पर नये विचार भी नहीं आने देता व काम की संभावनाएं भी क्षीण करता है। अक्सर हमने देखा कि जब हम गरीब लोगों के साथ कुछ करते हैं तो पिपरिया कॉलेज के लड़के भी हमको नहीं समझ पाते थे। हमें लगा कि भविष्य में कभी भी, कोई भी शक्तियां इस इलाके में गरीब लोगों के साथ काम करेंगी तो यह उनके सामने बहुत बड़ा अवरोध होगा। इसलिये हम कुछ ऐसे काम करें, बड़े पैमाने पर जिससे यहां मध्यम वर्ग को चुनौती दी और इस चुनौती से हमें उनके दिमाग में नए विचार डालने का परिवर्तन की संभावनाएं दिखाने उजागर करने का मौका मिलेगा। परंतु उसका ज्यादा स्थापित तरीका है कि सामंती स्थिति से पूंजीवादी विकास की तरफ बढ़े पर वह हमारे हाथ में नहीं है। तो हमें लगा कि चाहे इस इलाके का पूंजीवादी विकास नहीं हो रहा है पर कम से कम प्रगतिशील विचार इस इलाके में फैला सकते हैं और इस भूमिका में हमें दिखा कि हो.वि.शि.का जो इस इलाके के 500- 600 शिक्षकों को शिक्षित लोगों को जोड़ेगा,लगभग 30 हजार बच्चों तक पहुंचेगा तो यह बहुत जबरदस्त मौका है हमारे पास मध्यम वर्ग के साथ काम करने का। यह हमें भूमिका दिखी हो.वि.शि.का कि मध्यम वर्ग को तैयारी करने में।

साधना: यह बहुत साफ था कि हम लोगों में से कुछ लोगों को स्कूलों में अनुवर्तन करने में बहुत रुचि थी, एक बात। दूसरी बात, गांव में जाकर लोगों से संपर्क बढ़ाना कुछ आगे के कार्यक्रम तय करने के लिये। दिक्कत सबसे बड़ी थी कि हमारा बहुत समय इसके प्रशासन में जाता था। इसके दो चरणों की कल्पना की गयी। पहला, कि कार्यक्रम की प्रशासनिक जिम्मेदारी सरकार को सौंप देंगे और हम शैक्षणिक भूमिका अदा करेंगे जिसमें प्रशिक्षण दे देंगे शिक्षकों

को तीनो कक्षाओं का, किताब तैयार कर देंगे वह इसके अलावा कोई छोटी -मोटी बात होगी तो वह कर देंगे। फिर कल्पना उस स्थिति की थी

जिसमें हम सब लोग (उस समय लगभग 6 थे), जो इस काम में रुचि रखते हैं वे पूरे जिले में फैल जायेंगे और अलग-अलग गांवो व छोटे कस्बों में जाकर अपने आपको जमा लेंगे। दो काम करेंगे अनुवर्तन में रुचि थी (अभी भी है)। ऐसा नहीं लगना चाहिये कि विज्ञान शिक्षण को केवल एक उपयोग की दृष्टि से देख रहे थे। बच्चों के साथ काम करना, शिक्षकों व बावजूद सब सवालों के विज्ञान शिक्षण में मदद करना आदि स्कूल स्तरीय काम को लेकर एक उत्साह रहा। स्कूल एक आधार बन गया हर गांव में, जिसके आधार पर आगे गांव के स्तर पर कुछ कार्यक्रम बनायेंगे। मतलब यह था कि होशंगाबाद जिले के स्तर पर गांवों में रहकर हम जानकारी इकट्ठी करेंगे, अध्ययन करेंगे और यह पता लगाएंगे कि गांव के स्तर पर क्या कार्यक्रम विकसित किये जा सकते हैं। प्रौढ़ शिक्षा होगी, स्वास्थ्य का काम होगा या मजदूरों की मजदूरी के मुद्दे होंगे, यह एकदम तय कर पाना मुश्किल था और लगा था कि इस जिले का इतिहास व एहसास होना जरूरी है।

अनिल: कुछ लोग तो घूमघाम कर आये थे उनके अनुसार इस जिले में बहुत विविधता है, सामाजिक, आर्थिक एवं पर्यावरण की। किसी इलाके में प्रमुख खेती धंधा है, वही वनोपज, कुछ ऐसे इलाके हैं जहां तेजी के साथ तवा बांध के संदर्भ में औद्योगीकरण हो रहा है, कहीं शुद्ध आदिवासी इलाका है। कहीं कपास है तो कहीं धान। अगर हम काम करना चाहते हैं तो हमें अलग-अलग इलाकों के अध्ययन का मौका मिले ताकि हम मुद्दे पहचान सके जिनके आधार पर लोगों को सक्रिय किया जा सकता है। तो इसे वि.शि.का. का चरण क्रमांक 2 कहा गया इसमें अध्ययन करने, मुद्दे ढूंढने, सक्रिय लोगों से पहचानने का मौका मिलेगा अनुवर्तन के साथ-साथ।

साधना: दूसरी बात। यह बात होती रहती थी कि आज की शिक्षा क्या गड़बड़ है? हमको यह लगा कि शिक्षा में गड़बड़ है यह कहना काफी नहीं है अब इसका एक ठोस विकल्प हमारे पास है और इस कारण एक बड़े स्तर पर, शिक्षा कैसी होनी चाहिये व कैसी नहीं होनी चाहिये यह बहस करना संभव होगा, एक ठोस उदाहरण के आधार पर। इस दृष्टि से भी लगा कि यदि वि.शि.का को फैलाने का मौका है तो वह करना चाहिये। 1977- 78 में यह केवल समझ थी लोगों की परंतु बहुत शीघ्र ही इसका ठोस स्वरूप दिखा। तीसरी बात जैसा विनोद ने कहा एक खास अनुभव व कौशल विकसित हो गया था। वह था छोटे-छोटे गांव व कस्बों के शिक्षकों में एक

नई संस्कृति विकसित करना वि.शि.का के माध्यम से। नई संस्कृति क्या है यह स्पष्ट करेंगे। यानी हम केवल विज्ञान पढ़ाने का नया तरीका खोज पाए हैं या इससे ज्यादा कुछ कर पाए हैं, शिक्षक विद्यार्थी संबंध शिक्षक प्रशिक्षण संबंध और अन्य कई मुद्दों को देखने की, अनुभव करने की नई दृष्टि हम विकसित कर पाए शिक्षकों में, पालकों में, बच्चों में, आम लोगों में । इससे आत्मविश्वास बना। एक ठोस कार्यक्रम सामने दिखता था ऐसा, जिसमें एक प्रगतिशील तत्व है जिसको हम बहुत सारे प्रश्नों के बावजूद स्वीकार करते थे। ऐसी परिस्थिति में जब हम कोई नया ठोस कार्यक्रम सोच नहीं पाये, इस कार्यक्रम में रूचि है तो फैलाव में हमारी रूचि हुई। इसलिये जब जुड़े तो पूरे दिल से, बोझ मानकर नहीं।

प्रश्न: क्या शिक्षा से वास्तव में सामाजिक परिवर्तन होता है? यदि हां तो विश्व के इतिहास में कोई उदाहरण है? हो सकता है हम यहां औपचारिकेतर शिक्षा की बात कर रहे हो पर हमने जो भी आज तक पढ़ा है उससे मालूम हुआ कि नहीं होता।

अनिल: इसका उत्तर तभी मिल सकता है जब साफ-साफ पारिभाषित करे कि सामाजिक परिवर्तन का अर्थ क्या है? सामाजिक परिवर्तन एक ऐसा शब्द है जिसको हर व्यक्ति अपने ढंग से उपयोग करता है। आज हमारे देश में उत्पादन के साधनों पर एक खास तबके का नियंत्रण है इसलिये उसका लाभ वे अपने ढंग से कर लेते हैं। सामाजिक व सांस्कृतिक प्रतिभाओ व राजनैतिक ढांचो का उपयोग भी अपने हित में कर लेते हैं। इसको बदलने के लिये उत्पादन का रिश्ता बदलना पड़ेगा। इससे साफ है कि जो लोग उत्पादन में बड़ी संख्या में लगे हैं उन्हें उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण प्राप्त करना पड़ेगा। शिक्षा में परिवर्तन लाने से यह नहीं होता है। ऐसा उदाहरण दुनिया के इतिहास में नहीं है। परंतु जिन लोगों ने हमारे साथ ऐसे देशों के विषय में चर्चा की, जहां क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं उन्होंने बताया कि कैसे यह काम सहायक की भूमिका अदा करते है। उदाहरणार्थ तेलंगाना आंदोलन के 20-25 वर्षों पहले से यहां कुछ प्रगतिशील लोग पुस्तकालय आंदोलन चला रहे थे। इसलिये सहायक भूमिका अदा की, यह बहुत लोग मानते है। इसी प्रकार रूस में क्रांति के पहले 19वीं शताब्दी के अंतर्गत 20वीं के शुरू में गांव में जाकर प्रयोगात्मक काम करते रहे। जब क्रांतिकारी माहौल बना तो इन सब सहायक कामों में एक भूमिका अदा की चाहे पृष्ठभूमि बनाने की

चाहे समर्थन की। अपने कामों की यही भूमिका देखी पृष्ठभूमि तैयार करने की वह सहायक कामों की। दूसरा नजरिया केरल शास्त्र साहित्य परिषद के काम से सोचने को मिला। उन्होंने वैज्ञानिक जानकारी को फैलाने के एक खास दायरे में काम किया। अब इस दायरे से क्रांतिकारी परिवर्तन होंगे ऐसा वे नहीं मानते परंतु इससे जो राजनैतिक व सामाजिक प्रक्रियाओं उभर रही है उनको क्रांतिकारी दिशा की तरफ मोड़ने में उपयोग करने या उभरने वाली शक्तियां केरल में मौजूद है। एक दायरे में काम करते हैं व जो लोग सीधे राजनैतिक कव सामाजिक दायरो में काम करते हैं वह इन प्रक्रियाओं का उपयोग करते हैं इससे जो ज्ञान , चेतना आती है उसका उपयोग करती है। उन्होंने

कहा कि मात्र हम अपना काम करते रहें और कुछ न हो तो कोई अर्थ नहीं है। तो हम ने भी माना कि चरण क्रमांक 1 के काम से ऐसी प्रक्रियाएं उभरेंगी जिनका उपयोग चरण क्रमांक 2 के काम में करेंगे हम लोग। हमारे अलावा और शक्तियां विकसित होंगी या करेंगे पूरे मध्यप्रदेश में जो ऐसी प्रक्रियाओं का उपयोग करेंगी।

विनोद: शिक्षा का सामाजिक परिवर्तन में क्या योगदान है मुझे लगता है ऐतिहासिक संदर्भ है इसका। सामाजिक परिवर्तन क्या है आखिर? यदि मतलब संगठनात्मक काम से है तो हमारे देश में एक गलती है कि हम रूस और चीन का उदाहरण लेकर ही सोचते हैं। स्वाभाविक भी है, पर हमारे देश में बहुत बड़ा संगठनात्मक काम हुआ है, यह है हमारा राष्ट्रीय आंदोलन। वह इतने व्यापक स्तर पर हुआ जिस के पहलू हम आमतौर पर नजर अंदाज कर देते हैं। अगर इसमें शिक्षा व मध्यम वर्गीय की भूमिका पर ध्यान दिया जाये तो एक ऐतिहासिक संदर्भ मिलता है। वह एक मध्यम वर्ग के संगठन का काम था जिस में शिक्षा का व शिक्षा जैसे अन्य काम का एक गहरा असर रहा है। इसे नजरअंदाज करना क्योंकि वह एक वामपंथी संगठन नहीं था, ठीक नही। यह अलग बात है कि क्या वही तरीके अपनाकर आप वामपंथी संगठन बना सकते हैं?

अनवर: औपचारिक शिक्षा का क्या महत्व था?

विनोद: औपचारिक, औपचारिकेतर दोनों का था नेतृत्व करने में। चाहे अखबार लिखने वाला हो, चाहे और कोई। इसको बहुत नजरअंदाज किया

गया आज तक पर अब नहीं किया जा रहा है और सोचा जा रहा है कि ये संगठनात्मक का क्यों हुए और कैसे हुए? इनमें किस प्रकार के संगठनात्मक शक्तियां जुड़ी। वामपंथी लोग क्यों नहीं जुड़े, वह अलग बात है।

हो.वि.शि.का के पिछले 7 सालो के इतिहास का पिछले सत्र का सार- डॉ. विनोद रैना।

विनोद: वि.शि.का का प्रादुर्भाव सन 1967-68 में फिजिक्स स्टेडी ग्रुप के द्वारा हुआ। उसमें टाटा इंस्टिट्यूट, बम्बई के प्रो. यशपाल और कुलकर्णी के शामिल होने की वजह से कार्यक्रम म्युनिसिपल स्कूलों में शुरू हुआ था। सबसे मुख्य बातें यह उभर कर आए कि टाटा इंस्टीट्यूट जैसी संस्था प्रो. यशपाल, प्रो. मेनन जैसे व्यक्तियों के बावजूद यह कार्यक्रम रुक गया क्योंकि परीक्षा का नियंत्रण नहीं दिया गया था। यह शुरुआत थी जिसमें हमें मालूम पड़ता है कि सरकारी तंत्र में काम करने पर कहां समर्थन मिलता है और कहां पर बात रुक जाती है।

वही लोग जो कहते हैं कि कार्यक्रम अच्छा है, जब मूलभूत कदम उठाने की बात आती है तो रुक जाते है, या हिम्मत नहीं होती है। इसके बाद इस कार्यक्रम के होशंगाबाद जिले में शुरू होने की भूमिका दी गयी। इसमें मुख्य बात यह थी कि एक संस्था और एक व्यक्ति जिसने मुख्य भूमिका निभाई वह वैज्ञानिक नहीं था। परंतु इसके साथ ही एक और व्यक्ति जिसकी इस कार्यक्रम को चलाने में रुचि नहीं थी और जो वैज्ञानिक था, कैसे आहिस्ता-आहिस्ता इस कार्यक्रम में फंस गया और उसके फंसने के साथ-साथ एक संस्था फंस गई जो इस कार्यक्रम को चलाने के लिये बनायी नहीं गयी थी। इसमें से उभरता है कि कैसे बहुत सारे कार्यक्रम निश्चित निर्णय के बदले, छोटी-छोटी घटनाओं से जड़ पकड़ते है। एक संस्था ने यह काम इसलिये उठाया क्योंकि उन्हें यह बहुत अच्छा शैक्षणिक काम लग रहा था, दूसरी संस्था इसमें एक व्यक्ति के सहयोग की वजह से जुड़ी हुई थी और वास्तव में दूसरी संस्था का जो साथ रहा वह एक या दो व्यक्तियों के समय के कारण रहा। किशोर भारती में बहुत प्रश्न उठे कि इस क्षेत्र में उनकी भूमिका

क्या है और उस भूमिका में इस कार्यक्रम का क्या योगदान है? यह स्थिति कोई दो- ढाई साल तक चली। बहुत सारे कारणों से जब सन 1977 में किशोर भारती की भूमिका को लेकर बहुत चर्चाएं हुई कि समाज के किन वर्गों में काम करे, कैसे कार्यक्रम उठाएं, वि.शि.का के अलावा जो कार्यक्रम उठाए थे उनकी सीमाएं क्या है, साथ ही दिन वर्गों के साथ काम करने की जो भावनात्मक इच्छा थी उसको लेकर जब 1976-77 में बहुत से किसान आंदोलनों को देखा तो मालूम हुआ कि यह किसान आंदोलन चालू तो हुए पर बहुत जल्दी

उनकी सीमाएं भी आ गयी। साथ ही साथ यह समझ में आया कि इन आंदोलनों में एक बहुत बड़ी भूमिका थी मध्यमवर्ग की (पत्रकार, कॉलेज, विद्यार्थी, शिक्षक आदि)। दूसरी तरफ यह बात थी कि वि.शि.का एक चलता हुआ कार्यक्रम था, बाकी सब कार्यक्रमों में सीमा दिख गयी थी । कुछ लोगों की इस कार्यक्रम के अनुवर्तन के पहलू में वाकई रुचि थी। ऐसा नहीं था कि इस कार्यक्रम को बिल्कुल बेकार समझा जाता था। यह बात थी कि शायद यह उतना क्रांतिकारी कार्यक्रम नहीं है जितना और करने की इच्छा हो, पर यह बात मन में नहीं थी कि यह नकारात्मक है। इसको एक प्रगतिशील कार्यक्रम के रूप में देखा जा रहा था। यह भी बात साफ होने लगी थी कि यदि जिला स्तर पर, शिक्षा के बाहर, समाज के और वर्गों में काम करना है तो जिले भर में एक माहौल बनाने की जरूरत है, जिससे लोग स्वीकार करें इस संस्था को, इसके कार्यकर्ताओं को, और इस माहौल में इस कार्यक्रम का बहुत बड़ा योगदान हो सकता है। इस कार्यक्रम के इर्द-गिर्द बहुत सारे और काम जो समाज के और वर्गों के बीच किए जा सकते है। तो इन सब बातों पर बहुत चर्चा करके 1977 में यह निर्णय हुआ कि इस कार्यक्रम को जिला स्तर पर फैलाया जाए। जब यह निर्णय हुआ तो रसूलिया इस बात से कि इसका फैलाव होना चाहिये सहमत होते हुए भी उनका यही दृष्टिकोण था कि यह एक अच्छा शैक्षणिक कार्यक्रम है। इसके सामाजिक पहलू क्या है उससे उनको इतना मतलब नहीं था। 1978 में स्थिति बदल गयी। दोनों संस्थाएं प्रसार में लगी पर उनके दृष्टिकोण एकदम अलग थे (शायद एकदम नहीं, बहुत कुछ अलग थे)। यह दोनों संस्थाएं ग्रामीण क्षेत्र में काम करने आई थी और इन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय से समर्थन बिल्कुल ही अलग कारणों से मिला। एक सामान्य कारण यह था कि विज्ञान शिक्षण या शिक्षा अच्छी बनाने में लगन थी। शासन में भी 1-2 व्यक्ति ऐसे मिले जिन्होंने मदद की जैसे तत्कालीन डी.पी.आई, बी.डी. शर्मा। जो बात महत्वपूर्ण है (मेरी नजर में) वह यह कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है समाज में के अलग व्यवसायों के और अलग-अलग दृष्टिकोण के लोग किसी अच्छे प्रगतिशील कार्यक्रम में जुड़ सकते हैं। यह जरूरी नहीं कि एक कार्यक्रम बनाने से पहले यह तय किया जाये कि कार्यक्रम में जुड़ने वाले सब लोग कार्यक्रम के दर्शन से हर स्तर पर सहमत है। यह इस कार्यक्रम की मुख्य बात रही है कि एक संकीर्ण दृष्टिकोण के बदले अलग-अलग दृष्टिकोण से भी लोग एक साथ काम कर सकते है। यह बात भी उन्हीं के नवाचार के कार्यक्रम जो और बहुत

व्यापक स्तर पर उठाए गये थे और दिन में बहुत ही शक्तिशाली व्यक्तित्व जुड़े हुए थे (गांधी तक) वे क्यों नहीं चल पाए (जैसी बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम)? इसका कल शायद स्पष्टीकरण या उल्लेख भी हुआ था कि क्यों अब तक वि.शि.का के साथ ऐसा नहीं हुआ? यह एक प्रक्रिया थी जिसमें नवाचार की संस्कृति थी। यह बात भी सामने आई कि कौन लोक संस्कृति को नहीं अपना सकते थे और कैसे स्रोत दल के 80-90 सदस्यों में से केवल 30-40 ही इस संस्कृति को अपनाकर चलें। दो संस्थाओं के कार्यक्रम के प्रसार के निर्णय के और भी कारण थे:-

यदि कोई कोई कार्यक्रम एक टापू बन जाये तो समाज की अन्य प्रक्रियाएं उसको कहीं न कहीं खत्म कर देती हैं, यदि उसे जिंदा रहना है तो उसका बढ़ना बहुत जरूरी है। किशोर भारती के सदस्य व अन्य लोग कार्यक्रम के आंतरिक मूल्यांकन से इस बात से संतुष्ट थे कि यह कार्यक्रम परंपरागत कार्यक्रम से अच्छा है। इस निर्णय में 2 संस्थाएं शामिल थी, और शासन भी शामिल था। स्रोत दल की सहमति थी। एन.सी.ई.आर.टी. जैसी संस्था भी शामिल हो गयी क्योंकि उन्होंने कहा कि वे किसका पैसा देंगे।

हार्डी: मैं यह जानता हूं कि सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि हो.वि.शि.का. ग्रुप में एक संस्कृति बनी थी जिससे अलग-अलग लोग, एक कार्यक्रम में, अपने-अपने विचार तो मत रख कर जुड़ पाए। यह खुलापन था कि कार्यक्रम में अलग-अलग समझ से जुड़कर भी काम किया जा सकता था।

मुझे लगता है कि एकलव्य के बनने का और होने का सबसे बड़ा कारण यही है। मैं बताऊंगा कि आज हम लोगों के बीच मतभेदों के मुख्य मुद्दे क्या है। ये मुद्दे उद्देश्य, कार्यप्रणाली, कार्यकारी ढांचो से लेकर रोजमर्रा में क्या करना है, यहां तक जाते हैं। पर इस सबके बावजूद एक दूसरे में जो विश्वास है,एक काम करने की इच्छा है, जिसे 'हस्तक्षेप करने की भवनात्मक इच्छा' कह सकते है, वह बहुत जरूरी है समझने के लिये कि एकलव्य क्यों?

कई बार एक व्यक्ति के कार्य से पूरे ग्रुप धकेला गया निर्णय लेने को जैसे, जनवरी 1982 में रेक्स ने निर्णय लिया कि बाकी सब कुछ भी करें मैं यहां आकर बैठ जाऊंगा। इसे एक दबाव बना बहुत लोगों पर निर्णय लेने का और इस काम में जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी आने का। दूसरी बात यह समझना जरूरी है कि इस खुलेपन व लचीलेपन के पीछे एक समझ भी है कि समाज में शिक्षा की क्या भूमिका है, हस्तक्षेप का क्या असर है। इसके बारे में कोई सिद्धांत या आसान विश्लेष्ण करना संभव नही है और शायद यह काम करने वाले ग्रुप या संस्था के लिये यह जरूरी है व अच्छा है कि उसमे बहुत सारे विचारो का काम एक साथ होता रहे और कौन सा विचार कारगार सिद्ध होता है यह संवाद से तय हो। कोई सैद्धांतिक बहस करके यह निर्णय करना संभव नही है कि कौन सा कार्यक्रम ज्यादा महत्वपूर्ण है। यह हमारी एक मान्यता है। इसलिये अलग-अलग तरह से काम करे या अलग-अलग तरह से हस्तक्षेप करे, जिसमें एक मोटी-मोटी समझ हो तो उसमें कौन सा हस्तक्षेप ज्यादा कारगार सिद्ध होता है, इस आधार पर तय करना चाहिये कि कौन सी दिशा अपनानी है।

इसमें मैं थोड़ा बहुत इतिहास बताउंगा। इसके तहत अलग-अलग समय में क्या-क्या बहस व मतभेद हुए है, कौन से मतभेद अभी भी बाकी है जिनके रहते हम लोग एक समझ के तहत काम कर रहे है। सवाल एकलव्य क्यो के साथ यह भी जुड़ जाता है कि एकलव्य कैसे और किधर?

अभी तक तो बातचीत हुई है उसमें सन 1978 की जिला स्तर प्रसार की बात हुई है। इस समय अलग-अलग जगह पर काम रहे लोगों में अलग-अलग कारणों से यह सोच बना कि इस कार्यक्रम को चलाने के लिये और कुछ करना होगा।

एक तरफ तो बेहार साहब (शरतचंद्र बेहार) का जोर था इस कार्यक्रम को बहुत जल्दी पूरे प्रदेश स्तर पर फैलाना चाहिये। इसके लिये उन्होंने काफी प्रयास भी किए। पूरे प्रदेश में कार्यगोषष्ठियां की और होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम को एक मॉडल के रूप में प्रस्तुत किया। इससे शिक्षाविदों और कार्यक्रम में कार्यरत लोगों के बीच एक संवाद शुरू हुआ, बहस शुरू हुई। किशोर भारती के कार्यकर्ता इससे प्रभावित थे पर उनकी इस काम में पड़ने की तैयारी न थी। उनकी रूचि कुछ और थी। वे लोग चरण 2 के काम में कुछ खोजबीन करना चाहते थे। इस काम के प्रदेश स्तरीय प्रसार का महत्व इन लोगो की खोज करना अपनी जम्मेदारी समझी जो कार्यक्रम को प्रदेश स्तर पर चलाने का, अलग-अलग विषयो व अलग-अलग कक्षाओ में ले जाने का काम कर सके। इसी समय दिल्ली विश्वविद्यालय में लोग अपनी गिरती हुई भागीदारी को लेकर चिन्तित थे। उन्हे लग रहा था दिल्ली में रहते हुए, ज्यादा स्थायी रूप से, ज्यादा गंभीर रूप से जुड़ पाना संभव नही है। इसलिये वहां के कुछ लोगो को जरूरत महसूस हो रही थी यहां आकर कुछ ढांचा बनाने व उसमें रहकर काम करने की। मुख्य सवाल यह था कि किशोर भारती के जो वेतनमान थे, रहने की जगह थी वह बहुत सारे लोगो के रहने के लिये ठीक नही थी। यह भी एकलव्य की शुरूआत का एक कारण था। दिल्ली ग्रुप के भौतिकशात्री डॉ. कृष्णा साने ने इसी समय एक विज्ञान संस्थान का प्रस्ताव लिखा था जिसका मुख्य उद्देश्य हो.वि.शि.का का प्रसार करना था। इस प्रस्ताव में शिक्षको को विषयवस्तु का प्रशिक्षण देने की कमियो, कार्यकरी दल की विषयवस्तु व अनुवर्तन की समझ की कमियों और किट व्यवस्था की कमजोरियों को दूर करने के लिये काम करने का उद्देश्य लिखा गया था। इसमें एक किट उत्पादन इकाई बनाने का भी हम कर प्रावधान था ताकि हमें सरकारी तंत्र से किट खरीदने के लिये जूझना न पड़े। इस प्रस्ताव व कार्यक्रम के प्रदेश स्तरीय प्रसार के मुद्दों के आधार पर दिसंबर, 1980 में

एक गोष्ठी बुलाई गई। इस गोष्ठी में कुछ प्रमुख बातें उभरी। पहली यह कि यदि हम एक संस्थान की कल्पना कर रहे हैं तो सिर्फ विज्ञान नहीं और विषय भी होने चाहिये। दूसरा, यदि हम प्रदेश स्तरीय प्रसार की सोच रहे हैं तो उसके कुछ तरीके भी सोचना चाहिये। तीसरा, समाजशास्त्र को कैसे पढ़ाया जाये? मैं इसमें से दूसरे पर केंद्रित करूंगा क्योंकि वह अभी के लिये महत्वपूर्ण है। इसमें एक और मॉडल प्रस्तुत किया गया था। जिसमें बुनियादी प्रशिक्षण संस्थानों व शिक्षा महाविद्यालयो को हस्तक्षेप का एक माध्यम माना गया था। इसके पीछे तर्क था कि आप कब तक छोटे -छोटे स्तर पर लोगों से बातचीत करते रहेंगे व होशंगाबाद सरीखे टापू बनाते रहेंगे? इसका तरीका यह है कि बी.टी.आई. व शिक्षा महाविद्यालयो कि फैकल्टी से चर्चा की जाए कि शिक्षकों को नये ढंग से प्रशिक्षित करें ताकि जो नया शिक्षक समूह आ रहा है उसे दोबारा प्रशिक्षित करने की आवश्यकता न पड़े। इस संस्थान में B.Ed व M.Ed और विज्ञान में विशेष B.Ed जैसे डिग्री को चलाने की कल्पना थी ताकि इससे जो शिक्षाविद निकले वे

कार्यक्रम को आगे फैलाने में मददगार हो। यह मॉडल चर्चा का एक प्रमुख आधार बना और इस पर बहुत मतभेद रहे। बेहार ने इस पर एक प्रस्ताव भी लिखा जिसके आधार पर फरवरी 1981 में एक बैठक हुई। इस बैठक में यह संस्थान औपचारिक, अनौपचारिक शिक्षा या दोनो, किस क्षेत्र में काम करे इसको लेकर एक नयी बहस शुरू हुई। इसमें हर तरह का अनौपचारिक शिक्षा का काम होगा से लेकर किसी भी प्रकार का अनौपचारिक शिक्षा का काम नहीं होगा तक के मत थे। इसके बाद मार्च 1981 में एक गोष्ठी हुई। यह सब बैठके बहुत अनियमित थी और इनसे ऐसा लग रहा था कि कुछ निकल नहीं रहा है और दिसंबर 1980 में जो स्पष्ट कल्पना उभरी थी वह धूमिल होती दिख रही थी। इसके बाद मार्च में फरवरी की मीटिंग के निर्णय को आत्मसात करके यह निर्णय लिया गया कि ये सब बहसे तो चलती रहेंगी हमें अभी तो इस संस्थान के लिये कुछ आधार ढूंढना है और इस बहस को भी कारगर ढंग से करने के लिये कुछ लोगों को इकट्ठे बैठकर काम करना होगा। मार्च की मीटिंग में (जिसमें कुछ नए लोग भी आए थे) एक नया सवाल उठाया गया कि भोपाल में स्थित संस्थान कैसे ग्रामीण व उच्च स्तर की गतिविधियों से जुड़ पाएगा?

वह क्या धीरे-धीरे एक अभिजात्य संस्थान के रूप में नहीं उभरेगा? इस सवाल को किसी ने महत्वपूर्ण नहीं माना क्योंकि सब लोग काम में जुटना चाहते थे। उनका अपने ऊपर एक विश्वास था कि हम भोपाल में रहकर भी कार्य क्षेत्र से जुड़ाव रखने के तरीके ढूंढ पाएंगे। भोपाल में रहने का जो प्रमुख कारण दिमाग में था, हमारी कल्पना दिल्ली, बम्बई से ऐसे लोगों की कल्पना थी जो इस कार्यक्रम में जुटेंगे और उनके लिये एक माहौल से दूसरे माहौल तक पहुंचना एक कदम था। वह कदम किशोर भारती तक हो या भोपाल तक हो? सवाल यह था। इस सवाल पर काफी व्यक्तिगत दिक्कतें जाहिर की गयी थी कि हम भोपाल में रहना चाहते हैं काफ़ी बहस हुई थी पर यह सवाल रहा। समाजशास्त्र और औपचारिकेतर का भी सवाल रहा। उसी गोष्ठी में फिर बात हुई किशोर भारती की कार्यकारिणी समिति से इस संस्थान को आर्थिक मदद देने की। उस मदद मांगने का आधार यही था कि कुछ लोग हैं जिनमें आपस में बहुत बहस है, स्पष्टता नहीं है, मुख्य रूप से एक काम करना चाहते हैं, काम करने की इच्छा है, आप हमें मदद देने को तैयार है कि नही? इस आधार पर किशोर भारती की कार्यकारिणी समिति ने यह निर्णय किया कि संस्थान खड़ा करने के लिये 1 साल तक आर्थिक मदद किशोर भारती देगी। डॉ. अरविंद गुप्ते जो इस संस्थान में काम करने के इच्छुक थे, उन्होंने बेहार साहब के साथ मिलकर 1 साल का बजट बनाया जो 180000 रुपये का था। इस बजट को किशोर भारती की कार्यकारिणी समिति ने पास किया। उसमें जो मुख्य आधार था निर्णय लेने का वहीं था कि यह लोग है, यह कुछ करना चाहते हैं, अच्छे लोग हैं, इनको करने देना चाहिये। यह खुद तय करेगी क्या करना चाहते हैं। इसी गोष्ठी में बेहार साहब ने, काफी जोर से कहा कि यह संस्थान हर तरह का काम

कर सकती है। इसकी कोई सीमाएं ही नहीं है। यह सरकार के साथ स्कूली शिक्षा में भी काम कर सकती है, औपचारिकेतर शिक्षा के क्षेत्र में हर तरह का काम उठा सकती है। किशोर भारती ने जो कार्यक्रम उठाएं है वे कार्यक्रम उठा सकती है। इससे सब लोग सहमत नहीं थे और इसमें मतभेद था। कुछ लोगों का मत था कि इस संस्थान की क्या सीमाएं हैं यह पहचानना जरूरी है। इसके साथ-साथ एक बिल्कुल ही अलग ढंग का प्रस्ताव भी चला आ रहा था। एक संचार माध्यम केंद्र का। डॉ. मनमोहन चौधरी ने कई बार संपर्क किया प्रस्ताव के रूप में संचार माध्यम केंद्र की अपनी परिकल्पना भी भेजी इसमें बताया कि वह लोगों में

विज्ञान की समझ बढ़ाने में, रुढ़िवादी विचारों को तोड़ने में कैसे-कैसे नये विचार डालने की जरूरत समझते है, कैसे याद किया जा सकता है और उनके अपने एन.सी.ई.आर.टी. के अनुभव का कैसे उपयोग किया जा सकता है। उन्होंने पूरा मॉडल बनाकर दिया। उस मॉडल से कई लोगों को दिक्कत थी और उस पर उनसे बहस की। बहस में भी काफी कुछ हमसे सहमत भी हुए। कुछ लोगों का जोर था कि आज की परिस्थिति में अगर हमें शिक्षा में हस्तक्षेप करना है तो हमारी समझ के अनुसार जो मुख्य काम होना चाहिये वह छोटे शिक्षण साधन, चार्ट, स्लाइड आदि विकसित करना है न की फिल्में आदि। काफी विचार जो उस समय से चले आ रहे हैं उनको क्रियांवित करने का अब मौका मिला है, जैसे, छोटे- छोटे स्तर पर पत्रिकाएं निकालना (अभी तो एक होशंगाबाद विज्ञान है), संगम केंद्र या केंद्र स्तर पर साइक्लोस्टाइल करके पत्र निकालना ताकि इसमें लोग जुड़ सके और बच्चे खुद लिख सके। लोगों की कल्पना एक ऊंची टेक्नोलॉजी वाले संचार माध्यम केंद्र की जगह 1 सस्ते में भागीदारी आधारित शिक्षण साधन वाले संचार माध्यम केंद्र की थी, इसलिये मनमोहन चौधरी वाले प्रस्ताव का काफी विरोध हुआ। ये सब बहस मई 1981 में चल रही थी। उसके बाद विनोद ने एक बड़ा काम किया। ये स्पष्ट करना जरूरी है कि उस समय विनोद एक पर्यवेक्षक के रुप में था, जो इस संस्थान को बनने में मदद करना चाहता था और समझना चाहता था कि संस्थान क्या करेगा। उसने सब लोगों से अलग-अलग बात की और उन सबका एक समग्र दृष्टिकोण एक पर्चे में लिखा । उस पर्चे में बहुत मदद मिली क्योंकि सारे अलग-अलग दृष्टिकोण सामने आए। इसके आधार पर लोगों को समझ में आया कि लोगों के आपसी विरोध क्या है, क्या क्या समस्याएं है, और यह भी समझ में आया कि इन समस्याओं का निराकरण शायद अभी नहीं हो सकता है। दूसरी समझ यह समझ बनी कि अंतरो के साथ ही कुछ मोटे-मोटे दायरो में सीमित भी है। ये जो समझ बनी उसके आधार पर अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग समय पर निर्णय लिया कि वे एकलव्य में जुड़ेंगे। पर कोई ऐसा ठोस सत्र नहीं था जिससे लोग कहते कि हम काम शुरू कर सकते हैं। हम सब लोग अलग-अलग जगह पर बैठे संस्थान के बारे में सोच रहे थे और आपस में संपर्क कर रहे थे। यह महत्वपूर्ण था कि कोई निर्णय नहीं कि मैं संस्थान में आ गया हूं। जनवरी 1982 में रेक्स ने यह निर्णय लिया। अभी तक संस्थान की जो कल्पना हुई थी उसमें

अलग-अलग स्तर पर विकेंद्रीकृत संस्थान की बात हुई थी पर कोई ठोस प्रस्ताव नहीं आया था। रेक्स ने किशोर भारती मैं आकर एक प्रस्ताव लिखा जिसमें अलग-अलग केंद्रों पर काम करने की कल्पना थी। प्रस्ताव बहुत संक्षिप्त और अधूरा था पर उसमें जो मुख्य चीज थी कि कैसे अलग अलग केंद्र बनाकर एक विकेंद्रित ढांचे में काम किया जा सकता है। इस आधार पर संस्थान के मुख्य प्रस्ताव को लिखने की शुरुआत हुई। इस समय गौतम और विनोद ने संस्थान में आने की स्पष्ट इच्छा जाहिर की। मुख्य प्रस्ताव लिखने की जिम्मेदारी विनोद, गौतम और यक्ष ने उठायी और 'इवील्विंग सिस्टम वाला प्रस्ताव किशोर भारती में तैयार किया गया। इसके बाद कुछ बैठकों के दौरान आपसे समझ बढ़ी। साथ-साथ यह तय होता रहा कि इस संस्थान को बनाने के प्रशासनिक कदम क्या होंगे? मुख्य प्रशासनिक कदम जो लिये गये इस प्रस्ताव को अलग-अलग संस्थाओं में मदद के लिये देना। विनोद की पहल से डॉ.एम.एस. स्वामीनाथन, तत्कालीन सदस्य, योजना आयोग से बातचीत हुई। उन्होंने योजना आयोग के तत्वावधान मैं अलग-अलग संस्थाओं को जैसे एन.सी.ई.आर.टी., विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग व काउंसिल ऑफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी की एक मीटिंग बुलाई। इसमें इस प्रस्ताव पर बातचीत करने की कोशिश की। वहां पर सब संस्थाओं ने इस प्रस्ताव का जोर से समर्थन किया वह अलग-अलग तरह के वायदे किए। इस मीटिंग में निर्णय अनुसार कुछ लोग विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से टीचर फेलोशिप लेकर आए हैं ,कुछ पैसा विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग, नई दिल्ली ने दिया है, कुछ पैसा राज्य सरकार ने दिया है। अब मैं दोबारा से अभी के सवालों को केंद्रित कर देता हूं और कुछ जो हमारी मुख्य मान्य चीजें हैं उनको बता देता हूं। पहले काम करने के सिद्धांत: पहला तो यह कि आपसी मतभेदों के रहते काम कर पाना। दूसरा, व्यक्तिगत पहल को दबाने का प्रयास रोकना। हम में से कोई भी समय पर कोई निर्णय ले सकता है और निर्णय के आधार पर संस्थान को आगे बढ़ा सकता है, यह बाद में पूछा जा सकता है कि निर्णय सही था या गलत। पर यह सवाल उससे नहीं पूछा जायेगा कि निर्णय क्यों लिया गया। यह हमारा सिद्धांत है। मुझे लगता है एक स्वयंसेवी संस्थान के लिये यह एक बहुत जरुरी बात है कि वह कैसे अपना सरकारीकरण रोक सके। यदि हम एक दूसरे से सवाल पूछने लगे और तभी निर्णय ले जब सब से पूछ लिया है तो बहुत जल्दी हम एक सरकारी ढांचे में बदल जाएंगे।

जमीन से जुड़कर काम करने को बहुत महत्व दिया जाए। इसी समझ के साथ हमने यह तय किया कि हम केंद्र में नहीं रहेंगे। एक केंद्र में नहीं रहने के और भी पहलू है, फायदे है, नुकसान है। पर जो मुख्य कारण है एक जगह नहीं रहने का वह है कि यदि हम ज्यादा व्यापक रूप से लोगों के संपर्क में नहीं आएंगे ताकि कुछ कार्यक्रम उनके साथ उठाए जा सके, हमारा क्षेत्र से जुड़ा हो सके, तो यह संस्थान बहुत जल्दी किसी भी और शिक्षा संस्थान जैसा हो जायेगा। इसके अलावा एक और बात हम लोगों के दायरे में तकरीबन हर तरह की गतिविधियां संभव है ,कोई बंधन नहीं है, औपचारिक, औपचारिकेतर, अनौपचारिक कोई भी। इसके अलावा शोध को हम बहुत महत्व देते हैं। वैज्ञानिक खोज बिन हर विषय में, हर चीज जिसमें हम हस्तक्षेप कर रहे हैं, जरूरी है। एक एहसास के आधार पर हस्तक्षेप करना ठीक नहीं है। शोध अलग-अलग विषयों में इतिहास, भूगोल, विज्ञान व शिक्षा में जरूरी है, यह हमारे उद्देश्यों में है। इसलिये यह सवाल उठ जाता है कि हमारी संस्थान में निर्णय लेने की प्रणाली कैसी हो? हमने जो तरीका अपनाया वह है जो भी नीति के निर्णय होंगे वे सामूहिक होंगे। जैसे यह निर्णय कि क्या आप संस्थान रिंग बेचना शुरू करें यह एक नीति का प्रश्न है और निर्णय सामूहिक होगा। पर यदि कोई व्यक्ति विज्ञान शिक्षण के सिद्धांतों को समझने के लिये सवाल बनाना चाहता है, तो उसके लिये किसी की अनुमति की जरूरत नहीं है।

अगला सिद्धांत है कि हमारा रोल एक उत्प्रेरक का है। हम लोग कम से कम खुद के ढांचे बनाने में विश्वास करते है। हमारी ही एक प्रकाशन इकाई हो, हमारा ही एक संचार माध्यम केंद्र हो यह आवश्यक नही। पर बगैर ढांचे विकसित किए हस्तक्षेप करना भी संभव नहीं है। कैसे ढांचे बनाना है इसकी कुछ समझ है। कुछ ढांचे खुद बनाने की जरूरत है ताकि लोग उनसे जुड़ सकें। उन ढांचो के आधार पर मांग की जाए कि ये समाज में भी क्यों नहीं बनाए जाते। इस तरह की शुरुआत अलग-अलग जगह पर अलग-अलग तरह से लोग करने की सोच रहे हैं। होशंगाबाद में 50-60 किताबों का एक छोटा सा पुस्तकालय शुरू किया है। अब कुछ लोग इसे लोगों से

जोड़कर एक पुस्तकालय बनाने की कोशिश में है। उद्देश्य यह है कि आपने कुछ शुरू किया और उसे लोगों को सौंप दिया। जितने भी प्रगतिशील ढांचे खड़े किए जा सकते हैं हमारा उद्देश्य है कि हम इसमें मदद करें। स्पष्टपता

है कि हम क्रांति करने नहीं आए। इसकी हमारी मानसिकता और व्यक्तिगत तैयारी नहीं है। हमारा काम है मध्यम वर्ग के साथ, स्कूलों में और स्कूल के बाहर छोटे-छोटे काम शुरू करना और एक व्यापक स्तर पर उदारवादी शिक्षा का काम करना। चाहे सामाजिक उद्देश्य कितना भी व्यापक हो हम जो कार्यक्रम बना रहे हैं उसकी शैक्षणिक गुणवत्ता का एक स्तर होना चाहिये। उनके प्रति हमारा एक आत्मविश्वास होना चाहिये कि वह अच्छे कार्यक्रम है, उनकी शैक्षणिक गुणवत्ता को लेकर हम किसी भी शिक्षाविद से बहस कर सकते है। जब तक यह आत्मविश्वास नहीं होगा तब तक हमें नहीं लगता कि हस्तक्षेप का कोई फायदा है। इसके पीछे एक और भी समझ है उसमें शायद मतभेद है की शिक्षा की समाज परिवर्तन में भूमिका क्या है। चाहे किसी भी समझ से आप हस्तक्षेप करें, यह हस्तक्षेप एक सकारात्मक काम है। कुछ लोगों का मत है कि शिक्षा में एक ऐसा मॉडल प्रस्तुत करना जो आदर्श के बहुत करीब होता कि इसके माध्यम से एक बहस शुरू की जा सके कि यदि यह एक अच्छा कार्यक्रम है तो फिर क्यों नहीं इस व्यवस्था में चलता? दोष कार्यक्रम का है या व्यवस्था का? दूसरी समझ है कि जब लोग आपसे नहीं जुड़ेंगे, लोगों का दबाव नहीं पड़ेगा, तब तक हस्तक्षेप का कोई असर नहीं पड़ेगा और आपकी भूमिका खत्म हो जायेगी। इस मत के लोगों को लगता है कि यदि थोड़ा समझौता करके लोगों को जोड़ लिया जाये और अभी से बेहतर कल्पना प्रस्तुत की जाये लोगों के सामने जो इस व्यवस्था में चल सके ऐसा काम करना बेहतर होगा। ये विवाद चल रहा है। परिवर्तन में लोगों का जुड़ाव बहुत जरूरी है और लोगों के सामने बहुत आगे की बात करना जिसे भी समझ न पाए, सही नहीं है। कार्यक्रम ऐसा होना चाहिये जो व्यवस्था में दिक्कत तो उत्पन्न करें पर चल पाए। यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि हमें कार्यक्रम सोचकर उसके लिये लोगों को नहीं भूलना बल्कि जब लोग मिल जायें तो उनके आधार पर कार्यक्रम शुरू करना है। इससे हम टी.आई.एफ.आर. मॉडल कहते हैं। यह इसलिये ताकि शिक्षा और काम करने की व्यक्तिगत शिक्षा को महत्व मिले।

अभी हमारे सामने कुछ सवाल है कुछ विवाद के रूप में और कुछ संवाद के रुप में-

1. कार्यक्रम का प्रसार कैसे हो?
2. शिक्षा में हस्तक्षेप क्यों? शिक्षा से समाज परिवर्तन में क्या भूमिका है?
3. सामाजिक विज्ञान के संबंध में बहस। शिक्षा उदासीन है या किसी विचारधारा से प्रभावित? सामाजिक विज्ञान को वैज्ञानिक ढंग से समझना क्या बगैर कुछ बुनियादी मान्यताओं के हो सकता है?
4. स्कूल के बाहर कैसे काम करना है, संस्थान की क्या सीमाएं हैं,उन सीमाओं के तहत कैसे काम उठाए जा सकते है? यह मान्यता तो हमेशा रही है कि स्कूल में काम करने के लिये (खासतौर से सामाजिक विज्ञान के लिये) कुछ औपचारिकेतर काम तो जरूरी है। जो विवाद है वह इससे हटकर है। जो लोग बिलकुल सीमाएं नहीं देख रहे थे उन्होंने सीमाएं देखना शुरु किया है और जो लोग सीमाएं बहुत जकड़े रूप में देख रहे थे उन्होंने थोड़ी कम जकड़न देखने शुरू की है।

5. शिक्षा व्यवस्था में काम करने में हमारा रोल क्या होना चाहिये। शिक्षा व्यवस्था में लोगों से कितनी जबरदस्ती करनी चाहिये और कितनी नहीं? क्या जबरदस्ती किए बगैर काम हो सकता है? अगर जबरदस्ती करते हैं तो काम होता है यह देखा है। पर कितनी करें यह तय करना है। यदि जबरदस्ती करते हैं तो क्या पूरा दारोमदार हमारे ऊपर नहीं आ जाता? इससे व्यवस्था में जो कार्यक्रम चलाने के लिये जिम्मेदार हैं उनकी पहल करने की इच्छा और निर्णय लेने की क्षमता कुंठित हो जाती है। यदि हमें प्रदेश स्तर पर काम करना है तो जबरदस्ती ज्यादा न हो, इस डर से कहीं काम ही न रुक जाये। एक प्रकार के संतुलन का सवाल है।

6. बहुत कम रूप में एक सवाल सामने है विकेंद्रीकरण और केंद्रीयकरण का। इस पर सोच जारी है कि प्रदेश स्तर पर कैसे विकेंद्रीकृत तरीके से काम होगा? परंतु यह एक सामान्य समझ है कि ढांचा विकेंद्रीकृत होगा। इसके क्रियान्वयन को लेकर कुछ स्पष्टपता नहीं है।

एकलव्य के बनने का प्रमुख कारण है एकलव्य में और एकलव्य के बाहर समय-समय पर ऐसे लोगों की भूमिका, जिन्होंने बहुत मतभेद की परिस्थिति में निर्णय लेने में लोगों की मदद की। किशोर भारती की बहुत अहम भूमिका है कि गहरा मतभेद होते हुए भी उन्होंने संस्थान की मदद करने का निर्णय लिया। उन लोगों की हमारे काम करने के ढंग से पूरी तरह से सहमत नहीं है (आंशिक सहमति है)। उसके अलावा विनोद की पहल सब लोगों को एक दूसरे तक पहुंचाने में और रेक्स की पहल यहां आकर बैठ जाने में, बहुत जरूरी है, समझने के लिये कि एकलव्य आज क्यों है?

अनिल: अगर मतभेदों की बात करनी है तो बेहार का सबसे मतभेद होने के बावजूद भी वह आगे बढ़ गये।

हार्डी: एकलव्य नाम के पीछे भी एक समझ है कि इसकी कई व्याख्याएं संभव है। अलग-अलग लोग इसे विभिन्न तरीको से समझेंगे जो हमारी संस्था का वास्तविक चरित्र भी है।

विनोद: एक प्रक्रिया चल रही थी जो 1972 से शुरू हुई उसका एक दौर 1975 का था और उसी प्रक्रिया में अगर देखा जाये तो मुख्य सवाल होते हैं कि जिला स्तर से आगे वि.शि.का और विषयों में प्रसार कैसे करें? जिला स्तर पर जब कार्य चला तो उसकी क्या सीमाएं दिखी, उन सीमाओं को देखने में क्या चीज जरूरी लगी, उन जरूरतों को

पूरा करने के लिये किस तरह के कदम सामने दिखे, उनमें एकलव्य जैसी संस्था का किस तरह से महत्व दिखा? किस तरह से अलग-अलग प्रक्रिया से यही बात और लोगों के मन में थी, वह कैसे उभरी और यह सब बातें मिलकर कैसे कार्यान्वित हुई, एक संस्था बनी। उसमें बेहार साहब के विचार व और लोगों के विचार थे प्रसार का काम होना चाहिये, शिक्षा में ग्रामीण स्तर पर काम करना

चाहिये या ऊपर से नीचे की प्रक्रिया से काम करना चाहिये, ये सब बातें जुड़ जाती है। मेरी व्यक्तिगत रूचि होगी इस प्रक्रिया को केंद्र बना कर चलने की इस समय। बाद में जो एकलव्य बना उसने क्या काम किया, उसके काम करने के सिद्धांत क्या है, यह निर्णय कैसे होते हैं, यह भी है एक महत्वपूर्ण पहलू है, मैं सोचता हूं कि उसको अभी थोड़ी देर के लिये फॉकस से अलग कर दें। वे तो बहुत स्वाभाविक चीजें हैं जो हर एक घटना में होती हैं।

बेहार: विनोद कह रहे कि यदि प्रसार के तरीको गैर रणनीतियों पर बात हो तो अच्छा है।

विनोद: काम करना चाहिये, इसमें कोई मतभेद नहीं है। कल जब किशोर भारती की चर्चा हो रही थी तो उमरा कि जब किशोर भारती में वि.शि.का का काम शुरू हुआ तो किशोर भारती के लोगों के कैसे अलग विचार थे। किशोर भारती में जो विवाद था, उन विवादों से यह विवाद कुछ कम है। किशोर भारती में जो विवाद था की शिक्षा में काम करना चाहिये या नहीं करना चाहिये। यहां तो एक समझती की शिक्षा में काम करना है, और जो मतभेद थे वे उसके क्रियान्वयन में और औपचारिकेतर से जोड़ा जाए या नहीं यह था। एक बात तो थी विज्ञान शिक्षा, सामाजिक विज्ञान, औपचारिक व अनौपचारिकेतर शिक्षा के क्या पहलू थे उसको सामाजिक परिवर्तन से कैसे जोड़ते हैं यह मुख्य बात थी। दूसरा, बड़े स्तर पर काम करने के जो कारक ढूंढने की बात थी वह कैसे करे?

इसमें जो अलग-अलग नजरिए थे बेहार मॉडल और दिल्ली ग्रुप का मॉडल उन दोनों में क्या समानताएं थी और उनसे अभी क्या समझ आता है? मेरा विचार है कि इन पर ध्यान केंद्रित करके विचार करें।

पाठ्यक्रम के उद्देश्य विजय शंकर वर्मा

विज्ञान शिक्षण में काम तो बहुत दिनों से चल रहा है पर जिस ढंग से हम काम करना चाहते हैं उसकी शुरूआत 19 57-58 में अमेरिका में हुई थी। उन दिनों लग रहा था कि सोवियत यूनियन काफी आगे बढ़ता जा रहा है इसलिये काफी अमेरिकी लोगों में खलबली मची हुई थी कि क्या हमारे विज्ञान पढ़ाने के तरीके गलत है, क्यों हम पीछे छूटे हुए है। इसी संदर्भ में दो-तीन कार्यक्रम शुरू हुए थे जैसे पी.एस.एस.सी हावर्ड व बर्कले की भौतिकी परियोजनाएं। इनमें कुछ कोशिश की गयी थी कि कैसे हम लोग अपने बच्चों को विज्ञान की ओर आकर्षित करें ताकि जो बच्चे अभी विज्ञान नहीं पढ़ रहे थे वह विज्ञान पढ़ने के लिये प्रेरित हो। इसके बाद ही इंग्लैंड में भी ऐसे कार्यक्रम शुरू है। स्कॉटिश स्कूल में 'फिजिक्स इज फन' शुरू किया और इसके बाद नफिल्ड कार्यक्रम शुरू हुआ। इनका लोगों पर काफी प्रभाव था उन पर भी जो स्कूली शिक्षा से सीधी नहीं जुड़े थे। एन.सी.ई.आर.टी. और ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन ने भी सन 1968 के आसपास 3 साल का एक कार्यक्रम बनाया था। यह पहले दो स्कूल में चला, फिर बम्बई के म्युनिसिपल स्कूलो में। इसमें मुख्य बात यह थी कि उसे विज्ञान अच्छी तरह पढ़ाया जाए, पर इस बात पर कोई जोर नहीं था कि उसे पर्यावरण से जोड़ा जाए या किट सस्ती हो या पैसा कम खर्च हो। किंतु यह कार्यक्रम न तो पब्लिक स्कूल में और न ही बम्बई के स्कूलो में सफल हुआ।

हो.वि.शि.का के पाठ्यक्रम बहुत के विकास के निम्नलिखित प्रमुख मुद्दे है:-

एक, यह गतिविधि आधारित है, जिसमें बच्चे खुद प्रयोग करें। विज्ञान वैसे नहीं पढ़ाया जाना चाहिये जैसे इतिहास पढ़ाया जाता है(अभी जो इतिहास पढ़ाने का तरीका है)। पहले इस बात पर कभी विचार नहीं होता था कि दिए गये पाठ्यक्रम को पूरा करने के लिये प्रयोग किये जा सकते हैं यदि प्रयोग सोचे भी जाते थे तो यह विचार नहीं किया जाता ताकि उन प्रयोगों को करने के लिये सामग्री उपलब्ध है अथवा नहीं, या यदि उपलब्ध है भी तो क्या शिक्षक पर जोर भी है कि वह इन प्रयोगों को करे ही, या इन प्रयोगों की बात करके ही आगे बढ़ जाये। हम लोगों के दिमाग में था कि माध्यमिक स्कूलों में जो कुछ भी हम

करना चाहते हैं उसमें प्रयोग एक बुनियादी गतिविधि होनी चाहिये। केवल शिक्षक द्वारा प्रयोग करके दिखा देने भर से काम नहीं चलेगा। हर एक बच्चा प्रयोग करें, प्रयोग करके उस पर सवाल हो, उस पर चर्चा हो, इस चर्चा से विज्ञान के सिद्धांत निकले। एक तो प्रयोगों पर जोर हो और दूसरा शुरू से इन प्रयोगों का निष्कर्ष मालूम न हो। कुछ खोज जैसी चीज भी हो ताकि खुशी से बच्चे प्रयोग करें।

तीसरी बात है कि हमारा पाठ्यक्रम उनके पर्यावरण से संबंधित हो। जीव विज्ञान में ऐसा करना आसान है। जीव विज्ञान से संबंधित जितने भी अध्याय हैं उनमें हमने खेती से संबंधित जानकारी दी और कभी ऐसी बातें नहीं की कि समुद्र में ऐसे जीव पाए जाते हैं या पहाड़ों में ऐसे पेड़ मिलते हैं। आसपास जो पेड़ पौधे या जानवर मिलते थे उन्हीं पर प्रयोग करने की हमेशा कोशिश रही। यह कुछ हद तक भौतिकी और रसायन के अध्यायों में भी किया गया है। कोशिश हमेशा यही रहेगी बच्चों की जिंदगी में भौतिकी के कुछ सिद्धांत या उपकरण या कोई मशीनरी हो तो उसकी चर्चा जरूर हो और वहां से अध्याय शुरू करें जिससे उन्हें लगे कि हमारे आसपास की चीजों के बारे में हम कुछ सीख रहे हैं। हमेशा हमने कोशिश की कि पाठ्यक्रम बोझिल न लगे। बच्चे खुशी से प्रयोग करें, प्रयोग उनको रुचिकर लगे, प्रयोग करने में आनंद आए। क्लास में ही नहीं, क्लास के बाहर घर पर भी प्रयोग करें और सिर्फ प्रयोग न करें इन पर आपस में चर्चा करें, शिक्षक से चर्चा करें और इससे जो मूल सिद्धांत निकलते हैं उनकी ओर वे बढ़े।

एक और कोशिश की कि प्रयोग और अध्ययन के दौरान विज्ञान पद्धति भी बच्चे सीखें। केवल जानकारी ही न दे, वैज्ञानिक पद्धति के तत्वो, प्रयोग करना, प्रयोग के निष्कर्षो पर चर्चा करना, इसके आधार पर सिद्धांत विकसित करना व सिद्धांत को परखने के लिये और प्रयोग विकसित करना, से भी परिचित हो। आजकल लोग कहते है कि हमारे कार्येक्रम में दस साल बाद तबदीली की जरूरत है।जानकारी का विस्फोट हो रहा है और इसलिये यदि ऐसा नही किया तो बच्चे नयी जानकारियो से वंचित रह जायेंगे। वे लोग बाते करते हुए यह नही सोचते कि न तो बच्चो की मानसिक क्षमता असिमित है और न ही हमारे कार्यक्रम का समय। यदि हम जानकारी के विस्फोट के नाम पर

अपने कार्यक्रम को बढ़ाते ही जाएं तो एक ऐसा समय आएगा जब सारी बातें डालना असम्भ हो जायेगा और इसलिये यदि केवल जानकारी आधारित पाठ्यक्रम बनाया जाए तो ऐसी स्थिति 5-10 साल के बाद ही आ जाएगी।

इसलिये हमने सोचा कि यह बहुत जरूरी है कि बच्चों को हम यह सिखाएं कि वे खुद कैसे सीख सकते हैं और जब तक बच्चे यह नहीं सीख जाएंगे तब तक आप अपने पाठ्यक्रम में चाहे आज उपलब्ध सारी जानकारी भी ठूंस दे तो भी तो भी आज से 10 साल बाद जब यह बच्चे जानकारी का इस्तेमाल करना चाहेंगे तो पाएंगे कि उनकी जानकारी 10 साल पुरानी है। इसलिये हमने खुद सीखने और अवधारणा विकसित करने पर जोर दिया है। इस प्रक्रिया में यह जरूरी नहीं है कि शिक्षक ही मार्गदर्शन करें, जरूरी यह है कि बच्चे भी उस में भाग ले। चूंकि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें बच्चे भी शामिल है इसलिये हमने शुरू से मान रखा है कि इसमें समय लगेगा। प्रयोग इस तरह से क्रमबद्ध हो जिससे भी धीरे-धीरे उस ओर बढ़े जिधर हम उनको ले जाना चाहते हैं। हर गतिविधि उनके समझ के स्तर को ध्यान में रखकर की जाये। जितनी जानकारी और कार्यक्रमों में मिलती है उतनी हम जानबूझकर नहीं देंगे। यदि किसी अवधारणा को विकसित करना है तो अवलोकन बार-बार दोहराये जाने चाहिये। यह नहीं कि आपने इस प्रयोग कर दिया और तराजू के सिद्धांत बच्चा सीख गया। उसे बार-बार अलग-अलग तरह के प्रयोग करवाने पड़ेंगे जिससे वह कदम कदम लेकर आगे बढ़े। अक्सर लोग कहते हैं कि आपने विषयवस्तु बहुत कम रखी है परमाणु संरचना, रासायनिक सूत्र, पौधों का वर्गीकरण आदि का जिक्र तक नहीं किया। हमने जानबूझकर ऐसा नहीं किया। एक तो हमने ऐसा इसलिये नहीं किया क्योंकि जीव विज्ञान में वर्गीकरण का एक आधार है, विकास से उसकी एक कड़ी है। यह कोई अमूर्त सी चीज नहीं है बल्कि एक प्राकृतिक ढांचा सा है। इसलिये विकास की बात किए बिना यदि आप पौधों के वर्गीकरण पर जोर दें तो यह केवल रटने वाली बात रह जाएगी। पर हमने यह अवश्य महसूस किया कि बच्चों को वर्गीकरण आना चाहिये और उनसे वर्गीकरण पर काफी काम करवाया जाता है। पर यदि कोई बच्चा तितली और चमगादड़ को एक ही

वर्ग में इस आधार पर रखता है कि उनके पंख तो है हमने इस आधार पर कभी उसे गलत नहीं कहा कि चमगादड़ तो स्तनधारी है और तितली कीट है। इसी प्रकार परमाणु संरचना और रासायनिक सूत्रो की बात नही की क्योकि हमें बहुत शक है इस उम्र में बच्चे की मानसिक क्षमता इतनी है कि वे परमाणु संरचना समझ सकें। दूसरी बात कि अगर परमाणु संरचना सिखानी है तो हम उन्हे ऐसे प्रयोग करके दिखा सके कि वे विश्वास करे जो चीजे हमें ठोस लग रही है वे वास्तव में छोटे-छोटे परमाणुओ से मिलकर बनी है। ऐसे प्रयोग है जो उन्हे बता सकते है कि परमाणु संरचना का आधार है पर यहां दो तीन तरह की कठिनाई आयी। एक तो इन प्रयोगो को समझने में काफी बौद्धिक विकास की जरूरत होती है। दूसरी चीज इन प्रयोगो के लिये उपकरण बहुत महंगे है। हम नही चाहते थे कि शिक्षक उनको किसी प्रकार बता दे कि कैसे मॉडल के आधार पर परमाणु संरचना का सबूत मिलता है। इन सब बातो को सोचकर हमने जानबूझकर यह निर्णय लिया कि ऐसी चीज हम कार्यक्रम में नही रखेंगे।

इसके बाद मैं ज्यादा ठोस चीजो की बात करूंगा जिन पर हमने शुरू के सालो में और बाद के पाठ्यक्रम विकास में जोर दिया। सबसे पहले तो हमने नापने की क्रिया सिखाने को काफी महत्व दिया। हम यह सिखाना चाहते है कि आंकड़े क्या होते है, कैसे इकट्ठे किये जाते है और आंकड़ो को व्यवस्थित करके कैसे प्रस्तुत करते है। स्तम्भलेख, ग्राफ आदि बनाकर आंकड़ो का विश्लेषण कैसे करते है? आंकड़ो के आधार पर कौन से निष्कर्ष निकाले जा सकते है। एक और भी कोशिश रही है। लोगो की धारणा है कि विज्ञान में हम जब भी कुछ नापते है तो यही नाप आता है। हमने हमेशा यह बताने की कोशिश की कि जब कभी आप कोई नाप लेते है तो उसमें घट-बढ़ होती है और घट-बढ़ कभी शून्य नही की जा सकती। आप अपने प्रयोगो को बेहतर करके ज्यादा शुद्ध परिणाम निकाल सकते है पर विज्ञान में यह कभी नही कह सकते कि अमुक परिणाम एकदम शुद्ध है। इस अवधारणा को बच्चो के साथ तो नही पर अध्यापको के साथ करने में हमें हमेशा बहुत तकलीफ हुई। हमने हमेशा इस पर जोर दिया है कि बच्चे इस अवधारणा के बारे में कुछ सीख सके।

अगला, हमने वर्गीकरण के बुनियादी सिद्धांतों पर जोर दिया। नापना हमेशा एक तुलना की क्रिया होती है। एक मानव से तुलना करके कहते हैं कि यह उससे इतना गुना कम या ज्यादा है। पर यह तुलना तभी हो पाती है जब दोनों में कोई एक गुण समान हो। आप लंबाई को क्षेत्रफल और आयतन से तुलना नहीं कर सकते। इसलिये यह बहुत जरूरी है कि बच्चा गुणों को अलग-अलग पहचान सके। इसलिये पहले समूहीकरण सिखाया फिर वर्गीकरण। एक और चीज जिस पर जोर दिया है वह हाथ के कौशल का विकास। यदि बच्चे प्रयोग करते हैं, प्रयोग की सामग्री भी खुद बनाते हैं तो हमें और हमारे शिक्षकों को बहुत खुशी होती है। हमने शुरू से इस पर भी जोर दिया कि बच्चे अपने शब्दों में अपने अनुभवों को व्यक्त करें। हमेशा प्रयोग करने के बाद प्रश्नों के उत्तर बच्चों से खुद अपने शब्दों में लिखने पर जोर दिया जाता है। कभी यह कोशिश नहीं हुए कि प्रयोग हो जाएं, चर्चा हो जाए और फिर शिक्षक खड़ा होकर कह दे कि बच्चों आज हमने यह सीखा। हमें मालूम है कि बच्चों के लिखने में बहुत स्पष्टता नहीं होगी, जरूर खामी रहेगी पर फिर भी उन्हें कुछ लिखवा देने से उतना फायदा नहीं है जितना कि खुद अपने टूटे फूटे शब्दों में लिखे जो उन्होंने देखा, जो सीखा।

अनिल: इस बात पर भाषा वैज्ञानिक ध्यान दें कि इसका संबंध कहां हिंदी के साथ स्थापित हो सकता है।

स्याग: देवास, हाटपिपल्या के शिक्षकों का कहना है कि लिखना तो दूर की बात उनके बच्चों को किताब में जो लिखा है उसी को नहीं समझ सकते और यहां तो बात खुद निष्कर्ष निकाल कर उनको लिखने की हो रही है।

वे शिक्षक बहुत परेशान थे। वे तो किताब से जो नकल करते हैं वही सही नहीं कर सकते। इसलिये शिक्षक लिखवा देते हैं।

अनिल: यदि शिक्षक कोशिश करें तो आ सकता है, पर लिखवाना इतना सरल तरीका है कि कौन मेहनत करें।
पुरे: इसमें अतिशयोक्ति भी हो जाती है जब शिक्षक कहते है कि बिल्कुल ही नहीं पढ़ पाते। इतना जरूर है कि अधिकतर थोड़ा धीरे और कुछ तेजी से पढ़ते हैं। यह एक पुरानी आदत है कि अध्याय में दिये गये प्रश्नों के उत्तर लिखवा दिए जाते हैं। गृह कार्य को प्रधान पाठक या

ए.डी.आई. एस. देखते हैं। इसलिये इस विज्ञान में भी उसी तरह से चलाते रहते हैं। उनको इस बात की ज्यादा चिंता रहती है कि उनकी कॉपी में गृह कार्य ठीक है या नहीं। इसलिये शिक्षक ज्यादा चिंतित होता है। यहां तक दूर-दराज के गांवों के भील -भीलाले भी आसानी से पढ़ लेते हैं।
स्याग: बड़ी-बड़ी क्लासों में और भी मुश्किल हो जाता है जब प्राइमरी में बड़ी-बड़ी क्लास होती है और उस पृष्ठभूमि के बच्चे छठी में आ जाते हैं तो शिक्षक क्या करेगा?
पूनम: हमारे प्राथमिक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकल रहा है कि बच्चा पढ़ ही नहीं सकता। यह निष्कर्ष इस सारे कार्यक्रम को ही नकार देता है। जब वह पढ़ ही नहीं सकता तो प्रयोग क्या करेगा?
अनिल: हमें समस्या तीन स्तर पर आती है। एक तो बच्चे पढ़ ही नहीं सकते। दूसरे, पढ़कर समझ नहीं सकते आदत रटने की है, इसलिये पढ़ती भी रटने वाली शैली में है। तीसरी दिक्कत है अभिव्यक्ति की जो किया उसे शब्दों में लिख नहीं पाते। अभिव्यक्ति में दूसरी दिक्कत है चित्रों की दिए हुए चित्रों को समझना और फिर जो किया उसको चित्रों में दिखा देना यह बिल्कुल असंभव काम है। यह लड़ाई कई मोर्चों की है अगर आप इन चीजों पर जोर नहीं देते, कहते हैं हम मानक पाठ्यपुस्तक लिख देते है, जिसमें जानकारी है, वह भी तो समझ नहीं आती। इसमें अपेक्षा यह है कि अच्छा मेहनती शिक्षक न सिर्फ बच्चों को बल्कि अभिव्यक्ति भी उभरेगा। अब अगर शिक्षक अभिव्यक्ति वाली मेहनत नहीं करना चाहता, तो न पहले करता था और न इसमें कर रहा है। यह पहले विज्ञान वाली कक्षा में उसकी संभावना नहीं थी। अब कम से कम संभावना तो बना दी गयी है। पर यह काम वैसे प्राथमिक स्तर पर होना चाहिये।
साधना: इसमें एक और बात पर ध्यान चाहिये कि शिक्षक का रवैया क्या है? जब शिक्षक कहता है कि बच्चे लिख नहीं पाते तो या सही नहीं लिख पाते तो शिक्षक की अपनी कल्पना सही और गलत की क्या है ?

विजय : अभी अभीव्यक्ति पर चर्चा हुई है। किताब में भी कोशिश है कि चित्र रहे। हमारा अनुभव यह है कि शब्दों से तो समझते ही है, यदि अच्छा चित्र, सामने वह तो और अच्छी तरह समझते हैं और यदि खुद समझ गये हैं तो यदि चित्र बनाकर दिखाएं तो उनकी समझ और भी ज्यादा विकसित होती है।

हमने कुछ प्रायोगिक कौशल की बात की थी जब हम कहते हैं कि उनमें प्रायोगिक कौशल विकसित हो तो हम समझते हैं कि वे साथ-साथ कुछ प्रयोग बनाने की कुशलता भी हासिल करें। हम चाहते हैं कि वे प्रयोग में तुलना के प्रावधान के बारे में कुछ सीखें ताकि अगर एक प्रयोग में दो तीन अलग-अलग कारक है तो तुलनात्मक प्रयोग करके कह सकते कि कौन से कारक के कारण यह क्रिया हो रही है। हमारे कार्यक्रम की किताब पाठ्यपुस्तक नहीं है वह कार्य पुस्तक है और अपने आप में वह पूरी नहीं है। उसका एक महत्वपूर्ण अंग वह अभ्यास पुस्तिका है जो हर एक विद्यार्थी के पास है। पुस्तक में मात्र प्रश्न दिए गये है। यह उम्मीद की जाती है कि हर एक प्रयोग के बाद जो प्रश्न दिए गये हैं उनके उत्तर अभ्यास पुस्तिका में अपने शब्दों में लिखेंगे और दोनों को साथ मिलाकर अपनी विज्ञान की पुस्तक समझेंगे। हमने शुरू से इसकी कोशिश की है। आठवीं कक्षा में परीक्षा में पुस्तक व अभ्यास पुस्तिका ले जाने की अनुमति होती है। इससे स्पष्ट है कि हमने रटने पर आधारित पाठ्यक्रम से दूर हटने की कोशिश की है। हमारे इम्तिहान में भी यही कोशिश रही है। पाठ्यक्रम का एक और महत्वपूर्ण अंग किट है। यह इसलिये जुड़ा है क्योंकि हम जो भी प्रयोग देते हैं उसे एक तो बच्चे कर सके और उसके लिये आवश्यक सामग्री या तो स्थानीय क्षेत्र में उपलब्ध हो या उसे हम किट के माध्यम से पहुंचा सके। क्योंकि चाहे आप अच्छे से अच्छे प्रयोग आधारित कार्यक्रम विकसित कर ले पर यदि ये प्रयोग स्कूल में नहीं किये जा सकते तो इन कार्यक्रम का कोई मतलब नहीं निकलता।

परिभ्रमण भी हमने अपने कार्यक्रम में रखे हैं। इनमें हम कोशिश करते हैं कि बच्चे अपने स्कूल की चार-दीवारी से बाहर निकलें, चीजें इकट्ठी करे, आस पास जो चीज है, पौधे हैं उनकी जानकारी इकट्ठी करे। इसके साथ-साथ किसान पटवारी आदि से बात करें, उनसे जानकारी

ले, समझने की कोशिश करें कि कीड़े कैसे लगते हैं और कीड़े लगते हैं तो उसकी रोकथाम कैसे करते है। परिभ्रमण पर्यावरण आधारित शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह तो पाठ्यक्रम बनाने के पीछे की अवधारणाएं थी। अब शायद कुछ लोग क्रियान्वयन के तरीकों पर बात करना चाहते हैं कि कैसे हम पाठ्यक्रम वास्तव में विकसित करते हैं और इसमें शिक्षक प्रशिक्षण और अनुवर्तन की क्या भूमिका होती है? इसे अभी के लिये छोड़ना चाहूंगा।

विषय वस्तु –अनिल सदगोपाल

विषय वस्तु निश्चित करते हुए हमने किन बातों का ध्यान रखा है इसकी बात करूंगा। एक बात साफ करना चाहूंगा की विषयवस्तु तय करते हुए हमने पहले से ही सब सिद्धांत तय नहीं कर लिये थे और न ही हमें मालूम थे। ये जो सिद्धांत जिनका मैं जिक्र करूंगा यह अनुभव से उभरे थे और जैसे–जैसे काम करती गये अनुभव आए फिर उनका सैद्धांतिकरण किया आदि। जो सबसे महत्वपूर्ण बात हमने सीखी पिछले 10-12 सालों में वह यह कि जिस भाषा में पूरी शिक्षा होती है उसके तीन पहलू है – एक तो जो लोग आमतौर पर समाज में बोलते हैं, दूसरी वह भाषा जो शिक्षक विद्यार्थियों के साथ बोलता है और तीसरी वह भाषा जो शिक्षक जोर देता है कि लिखी जाए। हम लोग भी उस चक्कर में पड़े और लाल वैज्ञानिक (पहली बाल वैज्ञानिक) उस चक्कर का प्रतिफल है। हम लोगों ने जब बाल वैज्ञानिक पुस्तकों का नया रूप तैयार किया तो इस बात का बहुत ध्यान रखा कि बच्चे जिस भाषा का इस्तेमाल करते हैं वह हमारी किताब में अधिकतर आए और जब हमने ऐसे शब्दों का उपयोग किया जो उनकी भाषा में नहीं है तो ऐसा खास कारणों से सोच समझकर किया। या तो कोई वैकल्पिक शब्द नहीं दिख रहा था या लगा कि हायर सेकेंडरी पर जाने के लिये इन शब्दों का उपयोग इस चरण पर करना आवश्यक है। कई बार इस कारण से और कई बार इसलिये की शिक्षा विभाग के अधिकारी बहुत हल्ला न कर दे, इसलिये उनका मुंह बंद करने के लिये एक समझौते के रूप में ऐसे शब्द डाल दिए। खासकर यह समस्या आई पारिभाषिक शब्दों के सवाल पर। बहुत जोर रहा कि हम वे सारे शब्द इस्तेमाल करें जो हाई स्कूल और कॉलेज के स्तर

पर इस्तेमाल होते हैं। हमने बहुत जागरूकता के साथ इसकी अवहेलना की। जब भी ऐसे शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है तो अक्सर उन शब्दों को रटना और उन्हीं के बोझ के नीचे दबने की बात ज्यादा होती है बजाय उनके पीछे जो विचार हैं उसे समझने की। उदाहरण के लिये हड्डियों वाला अध्याय। अधिकांश पाठ्यपुस्तकों में कंकाल के एक ही चित्र में ढेर सारे मुश्किल नाम थे संस्कृत से निकले हुए। हमने सोचा कि इसे सरल करेंगे। पर हमने अंदाज

किया कि शिक्षा विभाग के अधिकारी बोलेंगे कि आपने इसे इतना सरल कर दिया कि सड़क की भाषा बना दिया, विज्ञान तो है ही नहीं। तो हमने समझौता किया और कोष्ठको में पारिभाषिक शब्द लिख दिए आंख का गड्ढा (नेत्र कोटर) आदि। समझौता भी पूरी तरह नहीं किया। शिक्षकों को यह कहा गया कि यदि बच्चे सामान्य नाम से हड्डियों को पहचान लेते हैं तो बिल्कुल जो न दे कि वे तकनीकी नाम जाने ही। प्रमुख उद्देश्य है कि बच्चे हड्डियां पहचाने बजाये इसके कि वे हड्डी न पहचानने पर मुश्किल सा नाम रट ले। पारिभाषिक शब्दों को लेकर यह समस्या काफी गंभीर है। इस संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब इसी जिले के दो हिस्सों में अलग-अलग शब्द आ गये तो शिक्षकों की आपत्ति के बाद हमने खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग किया।

तीसरा मुद्दा है कि हमने छठी कक्षा में गुणाात्मक अवधारणाओं को अधिक महत्व दिया और जैसे-जैसे सातवी, आठवीं में पहुंचते है, परिणात्मक अवधारणाएं बढ़ती जाती है। ये अनुभव से सीखा कि छठी में बच्चे गुणात्मक चीजों को जल्दी पकड़ते हैं और आगे परिणात्मक चीजों की तैयारी होती है। इसके कई उदाहरण है। जैसे समूहीकरण (गुणात्मक) छठी में है पर क्षेत्रफल और आयतन नापना सातवीं में है, इससे ज्यादा जटिल परिणात्मक चीजें जैसे संभावित आठवीं में कर दिये।

प्रश्न: गुणात्मक क्या है?

अनिल: जैसे रसायन शास्त्र में चीजों को अलग-अलग करना या पृथक्करण छठी में है जबकि अम्ल, क्षार और लवण जिसमें गणना करनी पड़ती है उसे आठवीं में डाला गया। ऐसा नहीं है कि छठी में परिणात्मक अवधारणाएं है ही नहीं, पर ज्यादा गुणात्मक है जैसे दूरी नापना है। पहले क्षेत्रफल और आयतन भी छठी में था पर पता चला कि बच्चों को दिक्कत आ

रही है और इसके पहले बच्चों को बहुत कुछ सीख जाना चाहिये इसलिये बाद में इन्हें सातवें में कर दिया। ये वे अवधारणाएं हैं, जिनको समझने के लिये गहन नाप जोख नहीं करना पड़ता जैसे संवेदनशीलता।

अनवर: क्या इसके पीछे यह समझ थी कि मापन के लिये ज्यादा अमूर्त, ज्यादा अवधारणात्मक कौशल चाहिये?

अनिल: ये तो है ही, और गणितीय कौशल भी होना चाहिये जैसे बच्चे दशमलव के भाग खासतौर से नहीं कर पाते हैं। दूसरों कि मापन के लिये हस्तकौशल की आवश्यकता है- उतनी सावधानी से नहीं कर पाते जितनी जरूरत होती है। यह ज्यादा अच्छा है कि कुछ दूसरी अवधारणाएं छठी में बढ़ा दी जाये बजाय इसके कि क्षेत्रफल और आयतन मापने में फंस जाएं।

विजय: मुख्य बात यह है कि कितना अमूर्त चिंतन चाहिये। ठोस वस्तुओं के गुणधर्म ज्यादा आसान है। यह निहित नहीं है कि गुणात्मक अवधारणाएं परिणात्मक से ज्यादा आसान है।

अनिल: चौथी चीज थी जिसे शिक्षा के लोग ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की बात कहते है। इस सिद्धांत को हम लागू करते हैं तो अक्सर पर्यावरण से जुड़ी हुई बात की जाती है। पर्यावरण को किसी पर पाठ्यक्रम का आधार बनाना या हम जो भी सीखते हैं उसको पर्यावरण पर लागू कर देना ये दोनों बातें है। एक उदाहरण- आयतन का अध्याय विकसित करते हुए हमें लगा कि लोगों और बच्चों की आयतन को लेकर पूर्व धारणाएं है और उन्होंने आयतन को अलग-अलग ढंग से समझा है। हमने इन अवधारणाओं के आधार पर अध्याय विकसित किया और यदि हमें दिखा के उन अवधारणाओं और वैज्ञानिक अवधारणाओं में कुछ अंतर्विरोध है तो उसे भी उभारने की कोशिश की। यहां पाई का प्रचलन है। उसमें अनाज नापते हैं। लोग जानते हैं कि इससे अलग- अलग अनाज का वजन अलग मिलता है। यह सारा मजदूरी के लेनदेन से जुड़ा हुआ है। हमने इस उदाहरण को लिया। दूसरी बात का उदाहरण कि जो कुछ सीखा उसको पर्यावरण पर लागू कर दें: जंतुओं का जीवन चक्र अध्याय में इसका बहुत इस्तेमाल किया गया है। बच्चों की बहुत-सी गलत अवधारणाएं जैसे, मक्खी अपने आप गोबर में से निकल आती है। इसके लिये हमने प्रयोग बनाया। इससे साफ हो जाता है कि जिस गोबर में अंडे नहीं थे उसमें मक्खी पैदा नहीं होती। इसके बाद यह प्रश्न पूछा जाता है कि अब

बताओ गोबर की इल्ली क्या है? इस तरह से प्रचलित अंधविश्वास को भी प्रयोग के माध्यम से चुनौती दी। इसी प्रकार से बारिश के साथ मेंढक बरसने की धारणा को भी प्रयोग के माध्यम से चुनौती दी।

पांचवा सिद्धांत है कि बच्चो को अर्मूत चिंतन सिखाना चाहिये। जब हम लोगो ने पाया कि बच्चो का छठी, सातवी में अर्मूत चिंतन का या नियम निकालने का, सामान्यीकरण करने का कोई अभ्यास नही है तो हम लोगो ने बच्चो से ऐसी कोई अपेक्षा नही की। जो अपेक्षा की वह यह थी कि जिस परिस्थिति का अध्ययन उन्होने किया है उससे एक चरण मैं सीधे-सीधे जो निष्कर्ष या सिद्धांत निकाल सकते है, वे निकाल ले। परंतु एक चरण से बढ़कर दो,तीन, चार चरणो की बात छठी से निकाल दी। उसे सातवी में थोड़ा -सा डाला और आठवी में और ज्यादा डाला। पहली बार सातवीं में इस प्रकार की प्रक्रिया पत्तियो द्वारा मंड बनाने के संबंध में है। जब वे सीख गये कि बिना सूर्य के प्रकाश के पत्तियां मंड नही बना सकती तो हमने यह प्रश्न उठाया कि हरी पत्तियो और सूर्य के प्रकाश का तुम्हारे जीवन में क्या महत्व है?इसमे उनसे आशा की गयी कि वे कई अवधारणाओ को जोड़े और इसका जबाव दे। जैसे, उन्होने भोजन के अध्याय में सीखा कि भोजन का महत्वपूर्ण अंग मंड है। इसी प्रकार का प्रश्न है, जो अध्याय में है कि यदि पृथ्वी पर हमेशा अंधेरा रहे तो क्या तुम्हें दूध मिलेगा? इसी प्रकार रेखा चित्र द्वारा दिखाने की भी बात की।

पर यह आकाश के ओर वाले अध्याय में बहुत ज्यादा हो गया। छह-सात प्रयोगों के निष्कर्ष को जोड़ करके निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया है। इन सारे आंकड़ों को समझने के दो तरीके हैं। इनमें से एक सरल हल है इसलिये बेहतर है। इसको समझने में बहुत मुश्किल आई। इसके पीछे विज्ञान की समझ है कि जो सरल हल हो वही अपेक्षाकृत बेहतर हल होगा। शिक्षकों को भी यह समझाने में काफी मुश्किल आई। इसमें मॉडल के आधार पर समझाने की

तकनीक का उपयोग किया। दूसरे अध्याय में भी इसका उपयोग किया गया है पर आकाश की ओर में यह असफल हो गयी और पूरे अध्याय को ही निकाल देना पड़ा। इसका उपयोग सातवीं और आठवीं में ज्यादा किया है।

साधना: अभी तो यह था कि प्रयोगों के आधार पर सामान्यीकरण करना, ऐसे निष्कर्ष निकालना जो अवलोकन से सीधे पता चल जाते हैं और इन निष्कर्षों के आधार पर आगे बढ़ना। जैसे सहयोग और संभाविता में एक प्रयोग के अवलोकन से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। बहुत सारे अवलोकन एक साथ लेकर और उनको जोड़कर एक निष्कर्ष निकालना होता है। प्रयोग भी अपने आप में टुकड़ों-टुकड़ों में होते हैं और बहुत अमूर्त है। उन सारे अवलोकनों से भी सीधे कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। फिर आप इन आंकड़ों का प्रस्तुतीकरण करते हैं अलग-अलग तरह से और फिर उसमें कोई पैटर्न (सामान्यताएं) समझ कर निष्कर्ष निकलता है। यह और भी ऊंचे स्तर पर अमूर्तीकारण है।

अनिल: इस अध्याय में बहुत आंकड़े है, उसे समेकित (इंटीग्रेट) करना होता है, स्तंभ लेख बनाने होते है। हालांकि सारा अध्याय प्रयोगों पर आधारित है पर फिर भी पूरे अध्याय की अवधारणा अमूर्त है। प्रमोद श्रीवास्तव ने बार- बार कहा है कि जब हम बच्चों को प्रयोग व अमूर्तीकारण की इस प्रक्रिया में से गुजरते हैं तो हमें स्पष्ट होना चाहिए कि उससे हमारी क्या अपेक्षा है कि वह क्या सीखें? यदि वह इसमें सिर्फ मोटे-मोटे एहसास कर पाता है तो काफी है। जैसे यदि वह 6 स्तंभ लेखों में से सिर्फ इतना बता पाते हैं कि कौन सा उन्हें उनके प्रयोग के दौरान कभी नहीं मिला तो काफी है।

रमाकांत: क्या यह जरूरी है कि मध्यप्रदेश सरीखे राज्य के बच्चे आठवीं कक्षा तक यह बातें सीखें, क्योंकि लगता है कि इसमें काफी आत्मसात व समेवित करने की प्रक्रिया है और एक तार्किक निष्कर्ष निकालना पड़ता है। यह बहुत जटिल है। क्या यह विज्ञान शिक्षण की दृष्टि से जरूरी है कि आठवीं कक्षा के बच्चे (13-14 साल) को यह सिखाया ही जाए? यह मानते हैं कि ये कौशल जरूरी है पर क्या इस सामाजिक मनोवैज्ञानिक संदर्भ में इस उम्र पर यह जरूरी है।

विजय: मुझे आपत्ति है इस बात पर कि तुमने सामाजिक संदर्भ की बात की। एक तो मेरा ख्याल है कि एक स्तर तक हमें आठवीं कक्षा के बच्चों को अमूर्त चिंतन सिखाना चाहिए, कम से कम एक दो मुद्दों को लेकर जिनमें बच्चों की रूचि हो। मेरी मान्यता है कि ' आकाश की ओर' में भी हो सकता है और संयोग और संभाविता में भी। दूसरी चीज जो तुमने कही कि क्या इस सामाजिक संदर्भ में संभव होगा.....

रमाकांत: मैं एक स्पष्टीकरण दूंगा। इस बात से कोई मतभेद नहीं है कि हर बच्चे में अमूर्त चिंतन का एक स्तर होना चाहिए पर सवाल यह है कि क्या बच्चा तैयार है? दूसरी बात कि क्या अमूर्त चिंतन सिखाने का यही एक तरीका है कि इतनी सारी बातें और इतने सारे प्रयोग जो उसके पर्यावरण से इतनी दूर हो को लेकर ही सिखाया जाये? यह बात नहीं है कि गांव के बच्चे को अमूर्त चिंतन नहीं सीखना चाहिए।

विजय: मेरा मानना है कि इन दोनों उदाहरणों में सीधे पर्यावरण से एकदम जुड़ी हुई है। आकाश की ओर में गांव वाले बहुत आसानी से यह अवलोकन ले सकते हैं। खैर, सवाल यह है कि क्या हम बच्चों को आकाश के बारे में जानकारी दे सकते हैं या नहीं? क्या यह पर्यावरण से जुड़ा हुआ है या नहीं? यदि आप देखें तो यहां के सारे त्यौहार (संक्रांति को छोड़कर) चंद्रमा की कलाओं से जुड़े हैं। जो कुछ भी होता है लगन या शादी तो पंडित पोथे पढ़कर निकालता है। तो क्या यह जरूरी नहीं है कि जो चीज बच्चों के जीवन से इतनी जुड़ी है उसके बारे में बच्चों को हम कुछ बताएं? दूसरी बात, जब भी विज्ञान की बात उठती है तो नाम गैलेलियो, न्यूटन और आइंस्टीन के आते है, सारे ही हमारे देश के नहीं है। इससे कोई आपत्ति नहीं है पर यदि किसी विषय में हमें मौका मिलता है यह बताने का कि उसमें हमारे देश में भी बहुत महत्वपूर्ण काम हो चुके हैं तो यह हमें करना चाहिये। इससे उनकी एक पहचान बन जाती है, यह नहीं कि यह सिर्फ सफेद चमड़ी वाले लोगों की गतिविधि है। ' संयोग और संभाविता' में भी सारे वितरण जिनकी हम बात करते हैं उन्हीं के पर्यावरण में मौजूद है। सवाल यह उठता है कि यदि पर्यावरण से जुड़ा भी है तो भी क्या इस स्तर के अमूर्त चिंतन की बात करने की जरूरत है? और दूसरा कि इस सामाजिक परिवेश में यह सम्भव है या नहीं? मेरा अनुभव है कि मुश्किल काम है, पर संभव है। बच्चों की प्रतिक्रियाओं से लगता है कि कुछ ग्रहण करते हैं वे लोग। यह जो धारणा है लोगों की कि गांव वाले बच्चों के पर्यावरण में अमूर्त चिंतन की उतनी जरूरत नहीं होती, उनकी दुनिया सीमित है आदि तो मेरा अनुभव है कि यहां के बच्चों, दिल्ली और अमेरिका के बच्चों सबसे मैं यह बात कर सकता हूं। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि ये सारे बच्चे सब मायनों में समान है पर इस उम्र के बच्चों के साथ इस स्तर का अमूर्त चिंतन संभव है। वंचित सामाजिक पृष्ठभूमि या वंचित बौद्धिक पृष्ठभूमि की बात मैं मानने को तैयार नहीं हूं।

अनिल: मास्टर लोग कई बार कहते थे कि यह हमें पढ़ाया क्यों जा रहा है– इसका हमारी जिंदगी से क्या लेना–देना है। टी.बी. की खखार की तीन बार जांच, ग्राम सेवक द्वारा मिट्टी के कई नमूने लेना आदि उदाहरणों के आधार पर इस बात का महत्व स्पष्ट किया जाता है। हमारे समाज में बहुत कुछ घटता है। ये घटनाएं भी हमारे पर्यावरण का हिस्सा है सिर्फ पेड़ पत्तियां नहीं।

हार्डी: यह अध्याय मुझे सामाजिक संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण लगता है इनमें ऐसे सवाल उठाए गये हैं जो हमारी कई स्थापित मान्यताओं को चुनौती देते हैं जैसे, भाग्य।

रमाकांत: यदि आप के अध्ययनों में इसी ढंग के सवाल उठाए गये हैं तो कोई झगड़ा ही नहीं है। सवाल यह है कि क्या उस अध्याय को इतना जटिल रखना जरूरी है कि उसमें परेशानी महसूस हो?

विनोद: पहले तो यह कैसे तय करें कि अर्मूत चिंतन का स्तर क्या हो?

अनिल: इससे पहले कि हम इस पर बात कर पाएं उन अध्याय को गहराई से देखना जरूरी होगा। शायद मैंने कुछ ज्यादा ही बता दिया। मैं बात सिर्फ सिद्धांत की कर रहा था।

विनोद: यह प्रश्न अक्सर एक दूसरे रूप में पूछा जाता है कि जो चीज बी.एससी., एम.एससी., वाले के बस की नहीं है(जैसे संयोग संभाविता) उसे आपने आठवीं में ही डाल दिया है। इसका क्या मतलब है? मेरी समझ में या तो यह सिद्ध किया जाये कि अमूर्त चिंतन का जो इस तरह अपेक्षित है वह 13-14 साल के बच्चे की मानसिक तैयारी से बाहर है तो फिर कोई दिक्कत नहीं है। पर ऐसा नहीं है। हमारे पास 13-14 साल के बच्चों की से बाहर है। जहां तक आकाश को ओर अध्याय को हटाने की बात उसके कारण सिर्फ उसका यह स्तर ही नहीं था, कुछ व्यवहारिक कारण थे। उसमें जो प्रयोग है वे तीन–तीन हफ्ते, रात को करने पड़ते है। इसलिये प्रयोग करवाना मुश्किल हो गया। शायद यदि ये दिक्कत नहीं होती तो आकाश की ओर को हम सैद्धांतिक करते–करते संभव बना लेते। जैसा संयोग और संभाविता के साथ वास्तव में हुआ। किंतु मैं एक ज़्यादा सामान्य बात करना चाहता हूं,

जो बच्चा एक एम.एससी. में दिल्ली में समझ सकता है उसे हम स्टैंडर्ड लेकर चलते हैं। यदि उसे समझ में नहीं आ रहा है तो मध्यप्रदेश में बच्चे को आठवीं में कैसे समझ में आएगा? मेरा प्रश्न यह है कि यदि मैं शिक्षण की इस प्रक्रिया से निकलता जिससे यह बच्चा निकल रहा है, और ये प्रक्रिया लगातार ऐसी ही होती तो फिर भी क्या मेरा कहना वही होता? क्या मैं अपनी सीमाओं का एक स्टैंडर्ड बना कर थोप नहीं रहा हूं?

साधना: मुझे लगता है कि यह सवाल काफी महत्वपूर्ण है कि बच्चे कितना समझ पाते हैं कितना नहीं? पर हमारे पास इसका उत्तर देने के लिये काफी जानकारी नहीं है। संयोग संभाविता अध्याय के दो हिस्से हैं। एक है जिसमें संभाविता की गणना करनी होती है। दूसरा हिस्सा काफी एहसास पर आधारित है और हमारे पास कोई स्कूल नहीं है कि इस अध्याय में यदि संभाविता की गणना के प्रयोग नहीं भी करवाये जाते तो भी क्या बच्चे इन प्रश्नों के उत्तर वही देते जो गणना के बाद देते हैं। वे सवाल बहुत पर्यावरण आधारित है इसलिये तो अपना कुछ एहसास, कुछ समझ वैसे भी है। मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि इस अध्याय के कुछ हिस्सों में शिक्षकों को भी बहुत दिक्कत आती है। अनिल ने एक उदाहरण दिया था ऐसे ही स्कूल का जहां बच्चों ने इस अध्याय को बहुत अच्छे से समझा पर मैं बिल्कुल अलग उदाहरण दूंगी जहां शिक्षक ने बहुत मेहनत की पर इस अध्याय को बिल्कुल नहीं समझा पाए और जो निष्कर्ष निकले हुए बिल्कुल गड़बड़ थे। इस अध्याय की भावना कि बिना बहुत से अवलोकन के आप निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, उसका बिल्कुल उल्टा उन शिक्षक ने किया। इसलिये, इन उदाहरणों से हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। इसलिये इस महत्वपूर्ण सवाल कि क्या यह अध्याय बच्चों के स्तर का है? शिक्षकों के स्तर का है का जवाब हमारे पास है नही।

स्याग: पियाजे की बच्चो के मानसिक विकास को लेकर धारणा है कि बच्चे के मानसिक विकास की अवस्थाएं होती है और ये अवस्थाएं एक के बाद एक आती है पर इससे बिल्कुल उल्टी धारणाएं ब्रूनर की है कि अगर हमारे पास ऐसे प्रयोग व उदाहरण है तो बच्चे की परिग्रहण (Perceive) और समझने की मानसिक क्षमता बहुत ज्यादा है। ये शिक्षक या माध्यम की सीमाएं है कि हम बच्चे उस स्तर तक नही पहुंचा सकते।

हार्डी: शिक्षको के लिये यह अध्याय एक चुनौती है क्योकि यह बात जीवन के सारे इतिहास के खिलाफ जाता है। शिक्षको के साथ एक दिक्कत है। व्यवहारिक स्तर पर प्रयोग करवाना, वितरण देखना यह सब वह करते है। पर इसका जो दूसरा स्तर है कि उससे हमारे जीवन में जो संयोग और संभाविता की कल्पना है उसको समझे, वह मुश्किल है। उनके साथ लगातार प्रयासो के बाद उनके सवालो का स्तर बदला है। ये एक संकेत है कि उनकी समझने की क्षमता बदली है और उन्होने लगातार इच्छा दिखाई है इस अध्याय से जूझने की। हरेक मासिक गोष्ठी में कहते है कि हमसे नही बनता आप फिर करवाइये। उन्हे बच्चो के साथ इसे करने में अपनी सीमा नजर आती है, इसलिये वे कहते है कि पूरी अवधारणा क्या है? वह हमे समझाइये। मैं एक और बात कहना चाहूंगा। एक तरीका यह है कि इससे थोड़ा ज्यादा दिया जाये व्यापक स्तर पर और वह थोड़ा -थोड़ा एहसास कर पाए कि इसके पीछे गहरी क्या अवधारणा है।

विजय: हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि बहुत बच्चों के लिये यह आखिरी साल होगा विज्ञान का और हमारे कार्यक्रम में हमेशा ऐसा कोई तत्व रहना चाहिये जो बच्चों को चुनौती दे। केवल वही रखना जो औसत बच्चों को समझ में आए, यह अच्छी बात नहीं है। चुनौती वाला हिस्सा बहुत जरूरी है। ' आकाश की ओर' पर भी मैं कुछ कहूंगा। अनिल ने प्रस्तुत किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है, यह बच्चे जान जाएं। यही उसका उद्देश्य नहीं है। उसमें और बहुत सी चीजें हैं जैसे, चंद्रमा की कलाएं कैसी होती हैं, उन्हें कैसे समझ सकते है, ग्रहण कैसे होते हैं? और यदि अंत में आपको लगता है कि बच्चे यह नहीं समझ पाए कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तो यही एक कारण नहीं होना चाहिए अध्याय को निकालने का। यदि व्यवहारिक दिक्कते है तो हमें उनको संशोधित करने का निर्णय लेना चाहिए। तीसरी बात कि जब हम कहते हैं कि ऐसे कुछ अध्याय हो जो बच्चों को चुनौती दे तो हमें अपनी परीक्षा में भी यह दिखाना होगा। आप यह नहीं कह सकते कि हम नहीं चाहते कि बच्चे संभाविता की परिभाषा जाने और फिर आप उनसे संभाविता की परिभाषा पर सवाल पूछ लें इम्तिहान में। यह नहीं चलेगा। आपको यह कहना होगा कि यह सब चीजें सिर्फ अवधारणात्मक समझ के लिये है, हम उन्हें नहीं जांचेंगे, आप ऐसे अध्ययनों को रख सकते है।

बृज: हम सभी का मत है कि यह अध्याय जीवनोपयोगी है। पर इसमें जो क्रियाएं है वह लंबी और मुश्किल है, रोचक नहीं है (हमारे हिसाब से बच्चों को हमने नहीं देखा था) ।

अनिल/ साधन: तुम्हें जो ड्राफ्ट भेजा था उसके बाद से अध्याय में से भी लंबी प्रक्रियाएं कम कर दी गयी है।

अनिल: जैसा कि आप सुन चुके हैं कि जितनी विषयवस्तु है उसमें एक खास ढंग की योजना होती है कि पर्यावरण के किसी आधार को लेकर शुरुआत होती है। कुछ प्रश्नों के माध्यम से बच्चों के पास जो पहले से जानकारी है उसको उभारा जाता है, व्यवस्थित किया जाता है। इसके बाद उस विचार को आगे बढ़ाने के लिये कुछ प्रयोग किए जाते हैं और हर प्रयोग के निर्देश देने के बाद उन प्रयोगों से जुड़े सवाल, जो हमने अनुभव से अनुमान किया कि उठेंगे यह उठने चाहिये, उनको एक बढ़ते हुए क्रम में दिया जाता है और अपेक्षा यह है कि जो आंकड़े इकट्ठे किए गये हैं बच्चे उनको समझेंगे और दिये हुए सवालों की मदद से निष्कर्ष निकालेंगे। यह एक सामान्य प्रक्रिया है। इसलिये हमने तय किया है कि हम अपनी ओर से वे परिभाषाएं नहीं देंगे, जिन्हें बच्चे रट ले। परिभाषाएं बच्चे स्वयं विकसित करेंगे। अपनी टूटी-फूटी भाषा में जितना उन्होंने प्रयोग से निकाला है, विकसित करेंगे। इसी प्रकार से हमने एक और बात पर जोर दिया कि हमारी ओर से जानकारी नहीं दी जाएगी। पर इसको लेकर थोड़ा सा भ्रम है जिसको दूर करने की जरूरत है। समय-समय पर जब हमको लगा कि यह जानकारी बच्चों के प्रयोग को आगे बढ़ाने के लिये या बच्चों के द्वारा विश्लेषण को आगे बढ़ाने के लिये जरूरी है तब हमने यह जानकारी सोच-समझकर, नपी तुली मात्रा में दी। ऐसे कई उदाहरण है तो ऐसी रुकावटों को तोड़ने के लिये या जब लगा कि उसके बिना अवधारणा अधूरी ही

छूट जायेगी और उस जानकारी को पाने के बच्चों के पास और कोई तरीके नहीं है तो वहां पर जानकारी बच्चों को दी है। मैंने पत्तियों में स्टार्च बनने का उदाहरण दिया था। हमें लगा कि यह बहुत जरूरी है कि वह जाने की मंड उन्हीं पत्तियों से बनता है जिनमें हरा रंग होता है। इसके प्रयोग है पर हम

नहीं करवा पाएंगे। तो जब बच्चों ने सूर्य की रोशनी वाला प्रयोग कर लिया तो हमने बताया कि सूर्य की रोशनी से स्टार्ट तभी बनता है जब हरा रंग होता है और तब हरे रंग और सूर्य की रोशनी को लेकर सवाल आने शुरू हुए। ऐसा बहुत जगह किया गया है। मैं विषय वस्तु में कड़ियो की बात करूंगा। इस पर हम लोगों ने काफी मेहनत की है। कड़ियों के दो पहलू है–एक है विषयवस्तु का क्रमिक विकास। दूसरा पहलू है विषयवस्तु या अवधारणाओं के बीच में कड़ी केवल क्रम के आधार पर नहीं अवधारणा के स्तर पर। उदाहरण के लिये ग्राफ बनाना। ग्राफ बनाने को हमने सीधे ग्राफ दिखाकर शुरू नहीं किया। हमने ग्राफ बनाने के अध्याय को छठी से शुरू कर दिया जब हमने स्तंभ लेख सिखाया। उसके बाद सातवीं में एक अध्याय डाला जिसका नाम है नक्शा बनाना सीखो। इसमें बच्चे क्लास में कैसे बैठते है, उनको क्या दिखाए हैं, उसको एक नक्शे के रूप में समझने की कोशिश करते है। नक्शा बनाना सिखाने के बाद ग्राफ बनाने का अध्याय शुरू किया। तो एक क्रमिक प्रक्रिया थी उसकी। और आठवीं में एक अध्याय डाला जिसमें यह सिखाया जाता है कि जो ग्राफ बनाया उस ग्राफ को कैसे समझा जाता है। इस तरह का क्रमबद्ध नियोजन बहुत जगह मिलता है। हमने कई बार बच्चों का ध्यान भी खासतौर से आकर्षित किया है। उनको बताया है कि छठी कक्षा के बीज और उनका समूहीकरण का उपयोग तुम्हें जड़ और पत्ती वाले अध्याय में करना होगा। इसमें क्रमिक कड़ी भी है और अवधारणा की कड़ी भी कि बीजों में जो अवधारणा विकसित हुई उसका उपयोग जड़ और पत्ती में किया जाएगा। इसी प्रकार से बताया है कि 'वृद्धि' अध्याय के बाद अध्याय है 'विकास' ।

सवाल है कि क्या विकास का अध्ययन वृद्धि से पहले किया जा सकता है? नहीं, क्योंकि वृद्धि के अध्याय में सीखी हुई बाते विकास के अध्याय का आधार है और वृद्धि के अध्याय से पहले 'ग्राफ बनाना' भी बहुत जरूरी है क्योकि ग्राफ बनाना होता है। इसी प्रकार 'ग्राफ बनाना' अध्याय से तुम्हें 'नक्शा बनाना' सीखो करना जरूरी है। ये सब एक क्रम से जुड़े हुए हैं, इनको मन–मर्जी से आगे पीछे नहीं कर सकते है।

इसी प्रकार कुछ अवधारणाओं को समझने की बात कुछ अध्यायो में है। एक अध्याय हवा का है– हवा के कुछ गुणधर्मों का इसमें अध्ययन

किया जाता है। इसके बाद एक अध्याय गैसों का है– कार्बन डाइऑक्साइड और ऑक्सीजन का अध्ययन उसमें है और उसके बाद तीसरा अध्ययन हमने लिया है श्वसन। यह अध्याय हम तभी कर पाते हैं जब हवा और गैसों के 2 अध्याय हम कर लेते हैं। जब गैसों के गुणधर्म समझ ले तभी यह अध्याय हो सकता है। इस प्रकार के बहुत सारे सचेष्ट अवधारणात्मक कड़ियां और क्रम है।

अगला मुद्दा जो मैं तुम्हें बताना चाहता हूं की बहुत कोशिश की गयी है विषयवस्तु को प्रस्तुत करने या संप्रेषित करने के नये–नये तरीके खोजने की जो दिलचस्प और सरल हो। जैसे विद्युत मोटर क्यों घूमती है इसे लोगों को समझाने में बहुत दिक्कत आ रही थी। तो हमारे कुछ साथियों ने जुड़कर बिल्कुल एक नया ढंग इजाद किया इसको समझाने का इसमें एक विद्युत नट की कल्पना की गयी। इसी प्रकार से जब हमने शरीर की आंतरिक रचना के अध्याय को तैयार किया और हमें लगा कि एक बहुत गलत धारणा बच्चों तक पहुंच जाती है कि हमारे सारे आंतरिक अंग एक ही स्तर पर है। जबकि वे वास्तव में अलग–अलग स्तरो पर है। इसको विकसित करने के लिये एक खेल बनाया गया। इसमें बच्चे इन अंगों को काट–काटकर, बताई प्रक्रिया के अनुसार एक बड़े रेखाचित्र में जमाते हैं और जब जमाते हैं तो ये अंग अलग–अलग स्तरो पर आ जाते हैं। इस प्रकार के बहुत सारे उदाहरण दिए जा सकते हैं। मैं बिना उदाहरण के कहना चाहूंगा इस बात को कि बच्चों में सृजनात्मक शक्ति जागृत हो और ये दो स्तरों पर एक तो वैचारिक सृजन शक्ति और दूसरी चीजों को बनाने की सृजन शक्ति। इन दोनों को लेकर विषय वस्तु में प्रयोग व अभ्यास दिए गये हैं। विषयवस्तु में एक बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि यदि किसी प्रयोग से कोई अवधारणा विकसित हो रही है तो मात्र अवधारणा को विकसित करना ही हमारा उद्देश्य नहीं है परंतु वह अवधारणा बच्चों को साफ–साफ समझ में आए इसके लिये सही ढंग के प्रश्न, सही ढंग के अभ्यास दिये जाएं। एक दिलचस्प बात है कि किसी भी विषयवस्तु या अध्याय के उद्देश्य क्या है? हम लोगों की समझ काफी अलग है इस पर आम शिक्षा प्रणाली की राय से। जैसे फूलों का अध्याय है आमतौर पर जो

फूलों का अध्याय होता है उसका उद्देश्य यह होता है कि बच्चे फूलों के अंग सीख जाएं, उनके अंतर्सम्बंध और रूपांतरण वगैरह की जो सामान्य जानकारी है वह बच्चों तक पहुंच जाए। हमने बच्चों को जोर से बताया है कि हमारे पास इस अध्याय का केवल यह उद्देश्य नहीं कि खूब सारे फूलों के अंग और उनके रूपांतरण की जानकारी उन तक पहुंचे हालांकि बच्चे बहुत सारे फूलों का अध्ययन करते हैं। हमने उद्देश्य रखा कि बच्चे जो भी फूल मिले उसकी रचना खुद समझना और दूसरों को समझाना शुरू कर दें। इसकी जो प्रक्रिया है उसको पकड़ ले। कहने का मतलब यह है कि जब पुस्तक के अध्याय स्कूलों में खत्म होंगे तब उनकी खोज ('तुम्हारी खोज') स्कूल से बाहर शुरू हो जाएगी।

एकलव्य क्यों, पाठ्यक्रम का विषयवस्तु की चर्चा का सार

-साधना सक्सेना

कल की सारी बैठक दो भागों में बांटी जा सकती है। पहला हिस्सा एकलव्य क्यों, उसका इतिहास, उसका परिप्रेक्ष्य इत्यादि को लेकर था। दूसरे हिस्से में विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के दो तत्वो को लेकर बात हुई थी पाठ्यक्रम व विषयवस्तु। इस चर्चा का सिलसिलेवार सार, मुख्य प्रश्न और उन प्रश्नों के संदर्भ में जो मुख्य मुद्दे उभरे थे वे प्रस्तुत है:

एकलव्य की बात कैसे शुरू हुई? यह वह समय था जब बेहार शिक्षा सचिव थे। दिल्ली ग्रुप में कुछ लोग वि.शि.का मैं अपनी भागीदारी को लेकर कुछ ढूंढ रहे थे। वि.शि.का. जिस रूप में चल रहा था उसको लेकर जरूर कुछ असंतोष था और किशोर भारती की भी वि.शि.का को जिला स्तर पर करते-करते सीमाएं आ गयी थी व्यवहारिक सीमाएं ज्यादा थी। ये तीन कारण थे जो लगभग एक ही समय पर सामने आए और वही समय था जब साने साहब ने प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि प्रशिक्षाण का काम बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओ के माध्यम से होना चाहिए।इस पृष्ठभूमि में कुछ लोगों की गोष्ठी सन 1980 में किशोर भारती में हुई थी। बातचीत की शुरूआत एेसे होती थी कि वि.शि.का का फैलाव होना चाहिये,काम एक ही जिले में रहेगा तो उसका क्या मतलब है? इसके अलावा यह भी प्रश्न उठता था कि सिर्फ विज्ञान शिक्षण में काम क्यों होना चाहिए? लोगों की रुचि शिक्षा में और भी ज्यादा व्यापक रूप में थी। अन्य विषयों में भी काम होना चाहिए कुछ लोग थे जो अपने लिये कुछ लंबे समय के लिये काम ढूंढ भी रहे थेऔर उनकी शिक्षा में रुचि थी। इस पृष्ठभूमि में विकल्प प्रस्तुत हुआ कि एक संस्थान बनना चाहिये। विकल्प के प्रस्ताव में इस पर भी विचार थे कि संस्थान का ढांचा कैसा होना चाहिये? किशोर भारती इस काम को क्यों नहीं करता, इस बात को लेकर बहुत बड़ा विवाद हुआ था। मुख्य बात यह थी कि किशोर भारती का ढांचा, वेतनमान व उसकी भौगोलिक स्थिति बहुत सीमाएं पैदा कर देता है और अगर उद्देश्य बड़े पैमाने पर और प्राथमिक व उच्चतर माध्यमिक स्तर पर काम करना है तो इसके लिये ढांचा खड़ा होगा वह किशोर भारती से भिन्न होगा। इन चर्चाओं के दौरान बहुत सारे मुद्दों पर एक सामान्य समझ नहीं उभरती थी। मैं उनमें से कुछ मतभेद के मुद्दे बताती हूं

संस्थान का ढांचा कैसा हो फील्ड सेंटर वाला हो या भोपाल में एक केंद्रीय मुख्यालय टाइप हो या कुछ और? संस्थान का दायरा क्या हो उसे औपचारिक दायरे में काम करना चाहिये, या औपचारिकेतर में भी? औपचारिक क्षेत्र में किस तरह के काम होने चाहिये? औपचारिकेतर क्षेत्र में जो भी गतिविधि हो सकती है उसे क्या शिक्षा के दायरे में माना जाना चाहिये? एक प्रश्न जो बहुत चर्चा का कारण बनता था कि शिक्षा की समाज परिवर्तन में क्या भूमिका है इस पर

भी बहुत कम समझ नहीं बनी थी। शिक्षा क्या एक उदासीन चीज है या यह हमेशा एक विचारधारा से प्रभावित होती है? और इससे जुड़ा हुआ सवाल था कि क्या हम चाहते हैं कि संस्थान में एक खास विचारधारा से प्रभावित लोग ही आए या हम इसका दायरा बहुत कम खुला रखना चाहते हैं? डॉ. मनमोहन चौधरी के संचार माध्यम केंद्र के प्रस्ताव को लेकर भी बहुत बातचीत हुई थी। इस पर इतने ज्यादा मतभेद नहीं थे। अंततः जो समझ में नहीं उससे सबकी सहमति थी। बात होते-होते ऐसा लगने लगा कि ये जो विवाद है शायद चर्चाओं से हल नहीं होंगे। यदि कहीं कुछ काम शुरु नहीं किया तो लोग बिखर जायेंगे। इसलिये उस समय बेहार साहब का सकारात्मक सुझाव था कि हमारे लिये जरूरी है कि हम काम शुरू करें। इसमें गुप्ते जी का यह मत था कि हमारे पास एक साफ कार्यक्रम है ही इसलिये उस ठोस आधार पर हमको काम शुरू कर देना चाहिए और इसी आधार पर काम शुरू हुआ। इस संबंध में जो लिखित प्रपत्र है उनकी सूची में एक बार फिर से पढ़ दूं: चारों गोष्ठियों की रिपोर्ट, साने साहब का प्रस्ताव, बेहार साहब का प्रस्ताव (जो उनका कहता है कि उन्होंने यहां पर हो रही सब चर्चाओं को जोड़कर प्रस्तुत किया था वह यह बेहार मॉडल का प्रस्ताव नहीं है), मनमोहन चौधरी का संचार माध्यम केंद्र का प्रस्ताव, कृष्ण कुमार का भाषा के काम व बच्चों की पत्रिका का प्रस्ताव, विनोद का पर्चा संस्थान का प्रस्ताव, योजना आयोग के तत्वाधान में हुई गोष्ठी का प्रतिवेदन, एकलव्य की वार्षिक रिपोर्ट।

मुख्य बात यह है कि रेक्स आया और उसने काम शुरू किया और उसी दौरान संविधान व प्रस्ताव पर काम शुरू हुआ। उसके बाद एक लंबा दौर है जिसमें ढेर सारे प्रशासनिक मामले निपटाये गये। धीरे-धीरे लोग संस्थान में आने शुरू हुए।

इन बहुत से मतभेदों के बावजूद भी एक बात को लेकर सहमति थी कि संस्थान का ढांचा कुछ भी हो पर कभी भी लोग इसलिये नहीं लिये जायेंगे कि जगह खाली है (टी.आई.एफ.आर. मॉडल)। जब काम करने वाले उपयुक्त लोग मिलेंगे तभी वह काम शुरु करेंगे। दूसरी सहमति की बात थी कि हमें शिक्षा में काम करना है। यह बहुत व्यापक दायरा है पर शिक्षा में अलग-अलग लोगों की तो समझ है उसके अनुसार ही हम काम शुरू कर देंगे। इसके बाद हार्डी ने बताया कि हम लोगों ने धीरे-धीरे काम करते हुए कुछ सिद्धांत, विकसित किये हैं। वे सिद्धांत निम्नलिखित है:-

1. आपसी मतभेदों के रहते भी हम काम करेंगे।
2. हर व्यक्ति को अपनी इच्छा व समझ के अनुसार काम करने का मौका मिलेगा, जब तक कि वह बहुत व्यापक दायरे में फिट होता हुआ दिखेगा।
3. कभी भी कारण बताओ सरीखी बात नही रहेगी क्योकि लोगों में यह शंका या डर रहा है कि कहीं यह संस्थान सरकारी संस्थान का रूप न ले ले।

4. यह सब समझती कि काम फील्ड सेंटर के द्वारा होगा। हम कोई मुख्य कार्यालय नहीं बनाएंगे जहां से काम हो।
5. दायरे को भी सीमित नहीं किया गया। हर तरह की गतिविधि जो औपचारिक, औपचारिकेतर और अनौपचारिक के दायरे में ही, की जायेगी।
6. नीति निर्धारण एक व्यक्ति के आधार पर नहीं होगा। वह हमेशा सामूहिक निर्णय के आधार पर तय होगा पर छोटे-छोटे निर्णय लेने की स्वतंत्रता व्यक्तियों को होगी।
7. समाज में हमारी भूमिका एक उत्प्रेरक की है पर इसका मतलब यह नहीं है कि हम नया कुछ नहीं करेंगे।
8. हम सभी लोगों को स्पष्ट था कि हम कोई क्रांति करने नहीं आए हैं। हमारा उद्देश्य मध्यम वर्ग के साथ जागृति फैलाने का काम करने का है। यह बहुत स्पष्ट है कि हम मजदूर संगठन का काम नहीं करने वाले। हम शिक्षा की गुणवत्ता को लेकर बहुत सतर्क है। हम शिक्षा में एक आदर्श के समीप पहुंचना चाहते हैं।

10. शिक्षा की समाज परिवर्तन में भूमिका को लेकर बहुत मतभेद है हमारे बीच में और समाज में भी पर हमारा उद्देश्य है इस बहस व समझ को आगे बढ़ाना।

इसके बाद थोड़ी- सी बात हुई कि आज की परिस्थिति क्या है और आज एकलव्य में संवाद के मुद्दे क्या है? एक मुद्दा जो बहुत महत्वपूर्ण है और चर्चा का विषय है कि किसी भी कार्यक्रम का फैलाव कैसे हो व उसके तरीके क्या होंगे? दूसरा प्रमुख मुद्दा है कि सरकारी तंत्र में हमारी भूमिका क्या होना चाहिए क्योंकि स्कूलों में काम सरकारी तंत्र में ही संभव है। इसमें प्रश्न यह है कि एक स्वैच्छिक गुट की सरकार को कितना धकेलना चाहिये। नवाचार के काम को आगे बढ़ाने के लिये और कितना सरकार के अपने निर्णय पर छोड़ देना चाहिये? यह सवाल फैलाव के संदर्भ में और भी महत्वपूर्ण हो गया है। तीसरा मुद्दा है कि विश्वास विकेंद्रित ढांचो पर है पर यह कैसे व्यवहारिक रुप में प्रदेश स्तर पर संभव हो सकते हैं, इसको लेकर स्पष्ट समझ नहीं है।

इस पूरे प्रस्तुतीकरण से निम्नलिखित प्रमुख प्रश्न सामने आए:

1. आर.पी.सिंह का सवाल था कि जो बहस संचार माध्यम केंद्र वाले प्रस्ताव और सस्ते शिक्षण साधन पर हुई और दूसरे पर सहमति जाहिर की गयी तो क्या कोई ऐसी समझ है कि सस्ते शिक्षण साधान का क्या और कितना असर होता है?
2. खन्ना साहब का सवाल था कि क्या एकलव्य केवल उत्प्रेरक की भूमिका निभायेगा? स्वयं नये काम नही करेगा?
3. आर.पी.सिंह का दूसरा सवाल शिक्षा के आदर्श मॉडल तक पहुंचने वाली बात पर था। उनका सवाल था कि ये आदर्श क्या है और आदर्श का आदर्श मॉडल क्या है?
4. रमाकांत का सवाल था कि आप लोगो को क्या समझ है कि वि.शि.का की सामाजिक संदर्भो में क्या उपलब्धि है?

इसके बाद दूसरे सत्र मे वि.शि.का. के पाठ्यक्रम और विषयवस्तु पर चर्चा हुई। पाठ्यक्रम के कुछ सामान्य सिद्धांत विजय ने पेश किये और उन सिद्धांतों के ठोस उदाहरण प्रस्तुत किये। उसके पीछे की जो भावना थी वह उन्होंने एक वाक्य में बतायी कि हम अच्छी तरह विज्ञान पढ़ाना चाहते हैं। उनके सिद्धांत निम्नलिखित हैं:

1. पूरे कार्यक्रम में प्रयोग एक बुनियादी गतिविधि मानी गयी है।
2. प्रयोग का निष्कर्ष पहले से मालूम न हो ताकि हम कुछ खोज रहे हैं यह एहसास भी हो।
3. पाठ्यक्रम यथासंभव पर्यावरण से जुड़ा हो।
4. कार्यक्रम ऐसा हो जो बच्चों को बोझ न लगे। प्रयोग और अध्याय ऐसे हैं जिनको करने में बच्चों को मजा आए और उनका आपस में मेलजोल बढ़े।
5. बच्चे वैज्ञानिक पद्धति सीखें। हमारा यह सिद्धांत नहीं था कि अधिक से अधिक जानकारी दें। जानकारी के विस्फोट वाले सिद्धांत से हमारा मतभेद है। हमारा उद्देश्य उनमें ऐसे कौशल विकसित करना है जिससे वे स्वयं अधिक से अधिक जानकारी हासिल कर सके।
6. जो प्रयोग, अध्याय या गतिविधि विकसित की जाए, वे बच्चों के स्तर के हो चाहे इसमें समय अधिक लगे।

इन सिद्धांतों के पालन के लिये ठोस मुद्दे सामने रखे गये। उसमें से एक मुद्दा भाषा के संबंध में था। हमारा बहुत ज़ोर लिखित अभिव्यक्ति विकसित करने पर रहा है। इसलिये बच्चे अपने प्रयोगो के निष्कर्ष स्वयं लिखे और बाल वैज्ञानिक पढ़कर स्वयं प्रयोग करे यह भी पाठ्यक्रम का हिस्सा है। इसके बाद बहुत विस्तार में बताया गया कि किट कैसी है, कार्य- पुस्तक कैसी है, उसमें अध्याय किस प्रकार के हैं, आदि। इसी संदर्भ में रमाकांत का एक सवाल बहस का विषय बना कि आपने कभी पाठ्यक्रम विकसित करने में यह भी सिद्धांत रखा है कि बच्चों के सीखने की प्रक्रिया क्या होती है? इसी प्रश्न के आधार पर यहां एक लंबी चर्चा रखी हुई थी कि होलिस्टिक एप्रोच या ओपन एप्रोच कभी पाठ्यक्रम का सिद्धांत रहा है या नहीं? इसमें तरह-तरह के मत प्रस्तुत हुए। इसमें जो व्यवहारिक दिक्कतें हैं शिक्षकों के रवैये वाली वे प्रस्तुत हुई। इसमें एक साफ प्रश्न यह भी उभरा कि यह वांछनीय भी है क्या? क्योंकि बृज ने बिल्कुल साफ कहा कि उसकी होलिस्टिक एप्रोच से असहमति है। इस सब के बाद बात हुई विषय वस्तु को लेकर।

इस सबके पीछे बात यह है कि हमने जिन सिद्धांतों पर विषय वस्तु विकसित की है वह हमने कहीं से पढ़कर नहीं सीखें। हमने काम करके और अनुभव के आधार पर ही सिद्धांत विकसित किये। मुख्य बातें जो

प्रस्तुत की उनमें भाषा कैसी हो, पारिभाषिक शब्दों मुद्दा, गुणात्मक व परिमाणात्मक अवधारणाओं का वितरण, अमूर्त चिंतन का छठी से आठवीं तक क्रमिक विकास ज्ञात से अज्ञात का सिद्धांत आदि मुख्य थी। दो अध्यायो, ' आकाश की ओर' और ' संयोग और संभाविता' को लकर अमूर्तीकरण के संदर्भ में बहुत लंबी चर्चाएं हुई। कई तरह के सवाल उठे जैसे, ' आकाश की ओर' अध्याय कितना व्यवहारिक है? रमाकांत ने सवाल पूछा था कि जिस तरह की क्रियाएं 'संयोग और संभाविता' में है वे बहुत जटिल है और हमेशा रुचिकर हो यह भी जरूरी नहीं है तो आठवीं कक्षा में इन की क्या जरूरत है? यह आप कैसे तय करते हैं? इसको लेकर एक बहुत सामान्य सवाल उठा था कि कौन सी अवधारणा बच्चों को समझ में आयी, आसान है या मुश्किल है, कैसे तय करेंगे? इसके बाद बात की कि हम अध्यायों में किस तरीके से कड़ी जोड़ते हैं उसमें दो तरीके की कड़ियों की बात थी– क्रमबद्ध कड़ी और अवधारणात्मक कड़ी। इनके उदाहरण भी दिए गये थे। विषयवस्तु के अन्य सिद्धांत है सृजनात्मकता विकसित करना, अवधारणा की स्पष्टता के लिये बहुत सारे अभ्यास डालना और अलग–अलग अध्यायों में अलग–अलग समय पर सीखी हुई अवधारणाओ का जिक्र करना आदि। अध्याय के उद्देश्य कैसे तय करें इसको लेकर भी सिद्धांत है। जो चीजें नवी में पढ़ायी जा रही है वे आठवीं में क्यों डालें, यह भी एक बड़ा झगड़ा है शिक्षा विभाग से। केवल शिक्षा या पुस्तक से जानकारी बटोरने का दायरा व्यापक करने का प्रयास किया गया है। पटवारी, ग्राम सेवक किसानों से और कुछ अन्य पुस्तकें जो ग्रामीण स्तर पर मिल जाती है, जैसे कृषि कार्यशालाएं, उनसे जानकारी इकट्ठी करने का सुझाव है। कई जगह समाज में व्याप्त समस्याओं से इस पाठ्यक्रम को जोड़ने का कुछ प्रयास है खासतौर से गरीबी और कुपोषण की समस्या को लेकर। फिर बहुत सारे खुले प्रश्न है पाठ्यक्रम में। ये भी एक सिद्धांत के तहत रखे गये हैं क्योंकि इनकी समझ आमतौर पर होती नहीं है। किसी भी अध्याय में सीधे कितनी जानकारी दी जायेगी यह इस बात पर आधारित नहीं होगा की जानकारी का विस्फोट हो रहा है, बल्कि इस बात पर निर्भर होगा कि अध्याय की अवधारणा को समझने के लिये

कहां जानकारी देने से मदद मिलेगी। यह सिद्धांत भी हमने 10 वर्षों के अनुभव से विकसित किया है। इस प्रस्तुतीकरण के बाद रमाकांत के बहुत सारे प्रश्न थे और उन्होंने प्रश्न प्रस्तुत नहीं किये क्योंकि उन्हें लगा कि उनका निराकरण इस तरह से नहीं होगा। पर उन्होंने एक बात कही कि पुस्तकों को देखकर, पढ़कर नहीं लगता है कि उनके पीछे किस तरह का काम हुआ, किस तरह की मेहनत हुई है। बहुत अच्छा हो कि उन लोगों के साथ (जिनकी विज्ञान की पृष्ठभूमि नहीं है) एक छोटा प्रशिक्षण शिविर सा किया जाये बिल्कुल उसी तरीके से जैसे शिक्षकों के साथ किया जाता है। तभी शायद वे इस पूरे तरीके को आत्मसात कर पाएंगे।

दो मुख्य बातें एक, एकलव्य क्यों और दूसरा सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका, इन दोनों को जोड़कर मैं अपनी बात कहना चाहूंगा और वही रणनीति या मॉडल है। सबसे पहले 2-4 ऐसे सिद्धांत है जिन पर मेरी रणनीति आधारित है:

पहली बात तो यह कि यथास्थिति को बनाये रखने में बहुत मजबूत निहित स्वार्थ होते हैं। जो भी रणनीति मैं बताने जा रहा हूं उसमें इसका बहुत बड़ा स्थान है और जब मैं यथास्थिति की बात करता हूं तो समाज के व्यापक अर्थ और शिक्षा में चल रही परंपरा के अर्थ, दोनों अर्थों में कह रहा हूं। कोई भी एक ढंग की शिक्षा चल रही है उसको परिवर्तन करने में बहुत निहित स्वार्थ है। इसलिये जब भी कोई शिक्षा में सुधार करने बैठेंगे हमेशा यह मुद्दा सामने आयेगा और इस को ध्यान में रखना पड़ेगा।

दूसरी बात कि स्थानीय स्तर पर कोई काम स्थानीय नहीं है। सबकी ऊपरी कड़ियां है। यह समझना गलत है कि हम 4-8 स्कूल में छोटा सा काम कर लेंगे क्योंकि उसका पाठ्यक्रम भी राज्य स्तर पर तय होता है। उसके बहुत सारे निर्णय और नीतियां तय हो गई है ऊपर से। इसलिये जब आप छोटे स्तर पर काम करते हैं तो बिना बड़े स्तर पर गये उस काम को आगे नहीं बढ़ा सकते। और जब बड़े स्तर पर जाते हैं उस छोटे से काम के लिये तो आप आवश्यकता से अधिक शक्ति खर्च कर रहे हैं। उतनी ही शक्ति से आप 50 जगह या 100 जगह भी काम कर सकते थे। तीसरी बात है कि छोटे स्तर पर काम होता है तो ज्यादा दिन तक जिंदा नहीं रह सकता। अच्छा काम हो सकता है, कुछ स्वीकृतियों, मंजूरियों के आधार पर भी हो सकता है पर ज्यादा दिन चल नहीं सकेगा। हो.वि.शि.का. की भी ऐसी स्थिति आ गयी थी और मैं कहूंगा कि आयी हुई है कि एक जिले में है तो बार बार आक्रमण होता है। यह एक सामान्य सिद्धांत है कि जब छोटे पैमाने पर अच्छा काम करते हैं तो चुकी वह व्यापक परिप्रेक्ष्य में फिट नहीं होता है तो कई सारे सवाल उठाये जाते हैं और उनसे निपटने का तरीका व्यापक स्तर पर ही जाना है, छोटे स्तर पर उनसे निपटा ही नहीं जा सकता।

चौथी बात यह है कि यदि छोटे पैमाने पर सफल भी हो गया तो भी ज्यादा दिन नहीं चल पाएगा। थोड़े दिनों बाद ही लगेगा कि विरोधी ताकतें हैं जो पलटकर हमला कर सकती हैं और उसकी उपलब्धि को समाप्त कर सकती हैं।

इसलिये केवल स्थानीय स्तर पर काम करना मुश्किल है। इसलिये मेरी समझ में एक न्यूनतम आवश्यक गति और फैलाव जरूरी है। रफ्तार की बात महत्वपूर्ण है। यह कहने से काम नहीं बनता कि आज थोड़ा कर लेंगे और 10 साल में और कर लेंगे। मेरी समझ में उससे प्रभाव नहीं बनता। एक सीमित दायरे में करने पर (सीमित दायरे से क्षेत्र की बात नहीं, सिर्फ विज्ञान शिक्षा की भी बात है) मेरे ख्याल से हमारे उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती। जैसे, यदि विज्ञान शिक्षण का उद्देश्य था वैज्ञानिक चिंतन विकसित करना तो मेरा विश्वास है कि एक विषय को कुछ कक्षाओं में

पढ़ने से वैज्ञानिक चिंतन की प्रवृत्ति पैदा नहीं होती। बल्कि मेरा विश्वास है कि वह उल्टा असर डालती है। एक तरह से यह आदत पड़ जाती है कि विज्ञान को पढ़ते हुए एक तरीके का इस्तेमाल किया जाता है, अन्य विषयों को पढ़ने में उन तरीकों की जरूरत नहीं है। इसका मतलब है जीवन में भी जरूरत नहीं है, समाज की समस्याओं में भी जरूरत नहीं है। इसलिये मैं समझता हूं सीमित पैमाने पर काम करना उल्टा असर डालने वाला भी है बहुत सारी परिस्थितियों में। शिक्षा की सामाजिक परिवर्तन में भूमिका कड़ियां मुझे बहुत साफ नजर आती हैं। कुछ मान्यताओं की बात कर रहा हूं पहला की सामाजिक स्थिति सभी युक्तिसंगत या वैज्ञानिक नहीं है या दूसरी तरह से कहना चाहूंगा कि समाज में जो गरीबी, असमानता, अन्याय है उनका आधार वैज्ञानिक नहीं है। यह वैज्ञानिक जांच के आगे टिक नहीं सकते। ये कुछ आस्थाओ व अवैज्ञानिक मान्यताओं पर टिके है। आज के समाज के सामाजिक आर्थिक ढांचे का आधार वैज्ञानिक नहीं है गैर-वैज्ञानिक है और यह गैर -वैज्ञानिक आधार शताब्दियों से जोड़ा गया है। यदि आप इस तरीके की शिक्षा जिसे आप स्वतंत्र चिंतन, जिज्ञासा, प्रश्न उठाना और वैज्ञानिक तरीके से विचार

करने की क्षमता पैदा कर देने का माहौल पैदा कर दें तो धीरे-धीरे बौद्धिक स्तर पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये बातें ठीक नहीं है। यह बात की इस बौद्धिक स्पष्टता के बाद कितनी काम करने की इच्छा पैदा होगी, कितना यह समाज की अन्य परिस्थितियों के द्वारा दबा दिया जायेगा, बाद की बात है। मैं यह नहीं कहता कि इससे सामाजिक परिवर्तन आ जाएगा पर यह कहूंगा कि सामाजिक परिवर्तन बनाने के लिये माहौल बनाना इसका एक महत्वपूर्ण काम है। मैं तो यहां तक कहूंगा कि बिना यह माहौल बने सामाजिक परिवर्तन असंभव है। मैं समझता हूं कि मध्यम वर्ग की इसमें बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। शिक्षा यदि मध्यम वर्ग तक ही जाती हो तो भी इस में काम करना बहुत जरूरी है क्योंकि माहौल बनाकर स्थिति को इधर या उधर झुका देने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बड़े लोगों की तो बहुत निहित स्वार्थ है। बीच के लोगों का निहित स्वार्थ है, पर कम है। दूसरी बात कि मध्यम वर्ग गरीब को देखकर संतुष्ट नहीं है कि वह खुद उनसे बेहतर है बल्कि वह आमिर को देखकर असंतुष्ट है। इसलिये उस असंतोष का इस्तेमाल करना की शिक्षा या किसी अन्य तरीके से इस स्थिति को बदलने की कोशिश करें। एक आखरी बात सिद्धांतों की आदर्शों की बात। कल जब हार्डी ने रखा था तो कहा था कि क्या हम केवल आदर्श की बात ही करेंगे या उसके अलावा भी कुछ कर सकते हैं ? मेरा दृष्टिकोण है कि बहुत आदर्श बात के प्रदर्शन के लिये सीमित स्तर पर काम करना संभव और उपयोगी है। अपनी समझ बढ़ाने के लिये या दूसरों को दिखाने के लिये करना उपयोगी है लेकिन यदि शिक्षा में व्यापक परिवर्तन करने हैं, सामाजिक परिवर्तन व्यापक रूप में करने हैं और उसमें शिक्षा की भूमिका को देखना है तो आपको आदर्श के मोह से हटना पड़ेगा। मुझे एक तरह से अंतर्विरोधी बात लगती है कि उच्च टेक्नोलॉजी की बात होती है तो अधिकांश साथी कहते है कि उच्च टेक्नोलॉजी तो हमारे ग्रुप

से बहुत दूर की चीज है, उसको हम यहां कहां से लाएं क्योंकि हम गरीबों से, सामान्य लोगों से जुड़ना चाहते हैं लेकिन जब आप समाज के परिप्रेक्ष्य में बात कर रहे हैं तो इसी सिद्धांत को भूल जाते हैं।

समाज जो आदर्श से इतनी दूर है, समाज के लिये ' आदर्श' एक आधुनिक टेक्नोलॉजी है। इसलिये जो सामान्य सिद्धांत है कि जिन लोगों में आप परिवर्तन लाना चाहते हैं, वे जहां पर हैं वहां से आप आगे बढ़े। वहीं आदर्श नजर में रहे, छोटे पैमाने पर करके दिखा दिया जाए ताकि मालूम रहे कि हमको वहां तक पहुंचना है। लेकिन शुरुआत वहीं से नहीं होगी, शुरुआत वहां से होगी जहां मैं बैठा हूं। ये एक समस्या है छोटे स्तर और व्यापक स्तर पर काम करने के बीच। अब मैं मॉडल या रणनीति के संबंध में बात करूंगा। यदि एकलव्य क्यों का जवाब दूं तो साफ हो जायेगा मेरी समझ में एकलव्य एक भिन्न प्रकार की स्वैच्छिक संस्था है। यदि एकलव्य को छोटे पैमाने पर बढ़िया काम करना है तो एकलव्य की जरूरत नहीं है। एकलव्य की जितनी कहानी बताई गयी थी उस कहानी से यह बिल्कुल मेल नहीं खाता। विनोद ने कल संक्षेप में तीन अलग-अलग तरह की इच्छाओं को रख दिया था। किशोर भारती की इच्छा कि इसका फैलाव हो लेकिन हम अब इसकी जिम्मेदारी नहीं संभाल सकते। साने और दिल्ली के अन्य साथियों की इच्छा कि इस तरह का काम हम और बहुत अच्छा करना चाहेंगे। मेरी और मेरे साथियों की इच्छा कि बहुत व्यापक स्तर पर इस तरह के काम होने चाहिये और जो बहस की, इतना सारा इतिहास बताया गया था कि किशोर भारती ने इस काम को इसलिये स्वीकार नहीं किया क्योंकि वेतनमान यहां की जगह और परिस्थिति के अनुकूल नहीं है। मैं समझता हूं वह मूल मुद्दा नहीं था। इस मामले पर बहुत बहस हुई थी कि नए संस्थान की क्या जरूरत है? काम किशोर भारती ही क्यों न कर ले? इसमें दो मुख्य सैद्धांतिक मुद्दे उभर कर आए थे। एक कि यद्यपि किशोर भारती के कार्यकर्ता सिद्धांतत: सहमत है कि व्यापक पैमाने पर काम करने की जरूरत है पर हमारी संस्था बड़े पैमाने के काम के लिये बनी नहीं है, तैयारी नहीं है, उसके लायक उसकी स्थिति नहीं है। इसलिये बड़े पैमाने पर कार्य करने के लिये एक अलग संस्था की जरूरत है।

मैंने एक अलग सवाल भी उठाया था कि इसी की एक शाखा क्यो न हो जाये जो बड़े पैमाने पर काम करे और एक छोटे पैमाने का काम यहां पर होता रहे। दूसरा कि उस जमाने में कम से कम और अभी भी शायद हो रहा होगा कि वे बुनियादी स्तर पर काम की बात बहुत ज्यादा सोच रहे थे जिसमें ऐसा संदेह होने लगा था कि ऐसी स्थितियां पैदा हो सकती है जिसमें स्पष्ट रूप से राजनैतिक टकराव की स्थिति पैदा हो जाए। इसलिये ऐसी संस्था की कल्पना की गयी जो व्यापक पैमाने पर काम करेगी और दायरा इस तरह रखेगी कि ऐसे काम नही उठायेगी जिनसे स्पष्ट राजनैतिक टकराव या झगड़े दिखे। ये दो कारण थे जिनसे ऐसा लगा कि एकदम अलग संस्था होनी चाहिये। मेरे विचार में 'एकलव्य क्यो' का जवाब है कि एक ऐसी संस्था की जरूरत थी जो शिक्षा के जरिये सामाजिक परिर्वतन के काम को बड़े पैमाने पर करे। मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी है –पूरे समूह की समझ को हार्डी ने पेश किया।

अब यदि बड़े पैमाने पर काम करना है तो कैसे हो सकता है और कैसे किया जाना चाहिये? एक तो मेरा कहना है कि सरकार ऐसा बहुत सारा काम करती है, सच में करना चाहती या करने का दिखावा करती है पर तंत्र के द्वारा नहीं कर पाती। तो हम इस ढंग से साथ जुड़े ताकि जब वे कहे कि इस ढंग से करना चाहते है तो करवा दे उस ढंग से।

जैसे शिक्षा का लोकव्यापीकरण पहली बात। इसकी बात करते रहते है और उसको 1990 तक पूरा करने का तय किया गया है। मैने इस पर बहुत ज्यादा जोर डाला था। बिलासपुर में अनिल ने प्रश्न उठाया था कि आप ये सब लोगो को सिखाए दे रहे है, पढ़ाये दे रहे हैं उसका फायदा क्या है? जो सीख रहे है उससे कोई लाभ होगा क्या? या जो सीख रहे है उसके तरीके में परिवर्तन करना पड़ेगा क्या? मैं छोटा सा जवाब दूंगा मेरी फिलहाल चिंता नही है कि जो कुछ सिखाया जा रहा है उसमें कितने परिवर्तन की जरूरत है, जो कुछ किया जा रहा है वह अभी यदि केवल 60% बच्चों तक पहुंच रहा है और यदि सरकार कहती है कि हम शत– प्रतिशत लोगो को पढ़ाना चाहते है तो यह एक अच्छा

कदम है, इसको मदद करना चाहिये। यह कहना कि जब तक शिक्षा का प्रगतिशील कदम न हो जाए तब तक हम लोकव्यापीकरण पर ध्यान नही देंगे, मेरी समझ में गलत दृष्टिकोण है। बिल्कुल बेकार शिक्षा ही सही अशिक्षा की स्थिति से बेहतर है। यदि यह खराब है और असंतोष पैदा करेगा तो भी ठीक है कि एक असंतोष पैदा होगा कि बेकार शिक्षा मिली जिसका कोई मतलब नहीं निकला। लेकिन यदि सरकार कहती है कि वह चाहती है लोकव्यापीकरण करना तो हम उसे नजरअंदाज करेंगे, ठीक नही। उसका इस्तेमाल दो तरह से हो सकता है एक कि जब हम लोकव्यापीकरण की बात करेंगे तो गरीबों तक भी शिक्षा पहुंचाने की बात करेंगे और दूसरा, जिनको गुणवत्ता पर भी आग्रह है उनकी बात, वह है कि सारे शिक्षाविदों और शिक्षा प्रशासकों को इस बात का एहसास है कि सारी कोशिशों के बावजूद एक मुश्किल लक्ष्य है जहां तक वे नहीं पहुंच पा रहे हैं। तभी सारे राज्यों में दर्ज संख्या 60% होती है और उससे आगे नहीं बढ़ती। वहां बहुत संभावना है कि जो गुणात्मक परिवर्तन आप शिक्षा में लाना चाहते हैं उसको करण के रूप में पेश करें यानी यदि आप वास्तव में लोकव्यापीकरण करना चाहते हैं तो इस प्रकार के गुणात्मक परिवर्तन लाकर ही आप बाकी लोगों तक पहुंच पाएंगे, अन्यथा नहीं। मैंने यही रणनीति इस्तेमाल की थी। आंकड़ों में यह सिद्ध कर दिया है कि ऐसा नहीं है कि बच्चे स्कूल के अभाव के कारण नहीं आ पा रहे है, उनके कुछ और कारण है। उन कारणों का विश्लेषण करना, समझना और उनको दूर करने के लिये अलग ढंग की शिक्षा पेश करना जरूरी है। स्कूलों की संख्या बढ़ाना, वहां शिक्षकों की संख्या बढ़ाना पर्याप्त नहीं है। और इसलिये मैंने औपचारिकेतर शिक्षा के बहुत सारे मॉडल, बहुत सारे तरीकों की बात की थी। उसमें एक बात मैं हमेशा कहता था कि उनको जरूरतों से जोड़िये। यदि आप यह पता लगा लें कि उनको किस तरह की पढ़ाई की जरूरत है, उनकी जरूरतें क्या है और इन जरूरतों पर आधारित पाठ्यक्रम कुछ अनौपचारिक केंद्रों में शुरू करते हैं तो उनका वहां आना संभव होगा। इस संदर्भ में मैंने शिक्षा के जो अर्थ हैं उन पर भी काफी चुनौतियां दी थी। अभी जो

औपचारिकेतर सरकार ने बना रखी है उसमें भी आग्रह वही है कि पांचवी आठवीं में जाकर वे परीक्षा में बैठ जाएं। इससे पाठ्यक्रम अपने आप तय हो जाता है। शिक्षा का लोकव्यापीकरण एक ऐसा सवाल है जिसमें बात करके शिक्षा में गुणवत्ता परिवर्तन की बात एकदम स्पष्ट रूप से लायी जा सकती है। शिक्षा के लोकव्यापीकरण के काम के लिए सरकार कृत-संकल्प है, उसमें लगी हुई है, अपने तरीके से करती रहेगी। हम यदि इस को महत्वपूर्ण मानते हैं, इसमें हस्तक्षेप करते हैं तो शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन ला सकते हैं। इसलिये मैं हमारी मासिक गोष्ठी आदि में यह सुझाव देता हूं कि एक या चार- पांच गांव लिये जाएं पूरी शिक्षा की व्यवस्था की जाए। एक मेरा नया प्रस्ताव है (सरकार को आधा मना रखा है) कि यदि कुछ लोग मिले तो कुछ गांवों में महिलाओं की शत-प्रतिशत शिक्षा के लिये पूर्णतया लचीले तरीके विकसित किये जाएं। ऐसे लोगों को कुछ पैसा दे दिया जाए और वह जो मर्जी हो करें पर करके बता दें कि कैसे संभव हो सकता है। यानी लोकव्यापीकरण को सरकार की चिंता का लाभ उठाना चाहिए।

दूसरे सिद्धांत की बात यह है कि यदि हम राज्य स्तर पर काम करना चाहते हैं। यदि एकलव्य की इस तरह की नीति है तो हमें समाज की बदली हुई परिस्थिति और जो नये कार्यक्रम सामने आ रहे हैं उनकी प्राथमिकताओं को पहचान कर अपने आपको बदलना पड़ेगा। यह कहना कि दूरदर्शन और उच्च टेक्नोलॉजी उचित नहीं है सही हो सकता है एक संदर्भ में। लेकिन यदि यह देखा जा रहा है कि गांव -गांव को दूरदर्शन से पाठ दिया जाने वाला है और वहां इस तरह के पाठ दिए जाने वाले हैं जो हमारे उद्देश्य को पीछे धकेल देंगे, तब हमारी उनसे लड़ाई और मुश्किल हो जाएगी। उस हालत में हमारे दूरदर्शन और उच्च टेक्नोलॉजी को लेकर जितने पूर्वाग्रह हैं उनको ताक पर रखकर, उन कार्यक्रमों में हस्तक्षेप करना पड़ेगा ताकि कार्यक्रम उस ढंग का हो जैसा हम चाहते हैं। कितना प्रभाव डाल पाएंगे पता नहीं, पर यह कोशिश तो हमको करनी पड़ेगी। एक दूसरा उदाहरण दूंगा पाठ्यक्रम पुनरावलोकन हो रहा है। चाहे हमारी दूसरी प्राथमिकता हो पर हमें पाठ्यक्रम पुनरावलोकन के काम में हस्तक्षेप करना चाहिए उसके लिये समूह तैयार करना चाहिए। पाठ्यक्रम के जो सिद्धांत विजय ने

प्रस्तुत किये उनके मापदंडो के आधार पर पाठ्यक्रम की परख व उसके मूल्यांकन की तैयारी शुरू करवाना चाहिए। लगता है कि हम लोग टी.आई.एफ.आर. मॉडल और सी.एस.आई.आर मॉडल करके भी परेशानी पैदा कर रहे हैं। उसके बीच का रास्ता हमें ढूंढना पड़ेगा। यह नहीं है कि फलां काम तभी शुरू होगा जब उसके लिये उपयुक्त व्यक्ति शौक से आकर मेरे साथ जुड़ जाएगा। चूंकि इस तरह की प्रक्रियाएं समाज में चल रही है जिनको

हम रोक नहीं सकते, शिक्षा के क्षेत्र में चल रही है जिनको हम रोक नहीं सकते, इसलिये हमारी अब जिम्मेदारी हो जाती है कि उन प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप करना और उसके लिये ऐसे लोगों की खोज करना। यह कहना काफी नहीं है कि आ जाएं।

मेरी रणनीति का एक हिस्सा यह था। दूसरा हिस्सा है स्वैच्छिक गुटों के माध्यम से राज्य व्यापी फैलाव। मैं इस बात को दोहराना चाहूंगा कि किशोर भारती ही उस काम को क्यों नहीं कर लेती जो एकलव्य करना चाहता था उस जमाने में? हमने उस समय जोर डाला था कि इसका एक काम होगा स्वैच्छिक संस्थाओं का एक राज्य व्यापी मंच। मैं समझता हूं कि हम उसकी प्रकृति को बदल रहे हैं यदि हम एक छोटी स्वैच्छिक संस्था के रूप में काम करके अपना छोटा-मोटा काम यहां- वहां उठा लेंगे। इसके प्रादुर्भाव में ही यह था कि यह संस्थान जो काम करेगी, उसके साथ-साथ एक मुख्य काम था कि यह स्वैच्छिक समूह को एक मंच देगी। उसकी क्या बातें होंगी वे बता दूं। पहला ऐसी संस्थाओं की पूरी पहचान कहां है वह सारी संस्थाएं, क्या काम कर रही हैं, उनसे संबंध स्थापित करना और उनके कार्यक्रमों को अच्छी तरह देखना, उनका मूल्यांकन करना, कौन हमारे कामों के साथ फिट होते हैं उसको देखना समझना और उनके कामों को भी उठाना और उनको फैलाने के लिये मदद करना। जैसे यदि वि.शि.का. मिल गया है तो एक आधार मिल गया किशोर भारती में जिसने वह काम पहले किया था। वैसे अन्य अच्छी तरह के काम हुए (जिनकी जानकारी है ऐसा नहीं कह रहा हूं मैं) उन सबकी जानकारी इकट्ठी करना, उनका मूल्यांकन करना और जो सही काम नजर आते हैं उनका आधार बनाकर उसी समूह की मदद से उसको फैलाने की कोशिश करना। उसके लिये जो भी आवश्यक मदद हो सके हमारी ओर से वह देना।

यदि हमको यह कहना है तो हमको अपनी क्षमता बनानी पड़ेगी और उस क्षमता का प्रदर्शन करना पड़ेगा कि हम राज्य स्तर पर आपके लिये एक मंच बन सकते हैं, आपकी मदद कर सकते हैं। इसलिये जो लोग इस तरह का छोटा काम कर चुके हैं और उन्हें राज्य स्तर पर दिक्कतें होती हैं, आर्थिक व प्रशासनिक तो हम दिखाना चाहते हैं कि उन दिक्कतों में हम उनकी मदद कर सकते हैं। इस सिलसिले में एक उदाहरण देना चाहूंगा। स्थानीय इतिहास कार्यक्रम पर जगह-जगह काम होना चाहिये ऐसा माहौल बना, उसमें भी कई लोग अलग-अलग ढंग से फिर जुड़े है और अलग-अलग कारणो से आ रहे है। जब वर्कशाप हुआ तो लगने लगा कि एक अलग मंच बनाया जाये उसके लिये। एकलव्य कहेगा यह ठीक नहीं है उसके लिये एक अलग मंच होना चाहिये। अब वहां मुझे फिर लगता है कि हम अपने उद्देश्य से हट रहे हैं। आखिर हमने यह चाहता कि यह भूमिका हम अदा करें। यह हमारे प्रकृति के खिलाफ हो गया, हमारे उद्देश्य के खिलाफ हुआ। हमारा उद्देश्य है राज्य स्तर पर काम करना स्थानीय इतिहास मंच का दायित्व हमको संभालना था। इसके खिलाफ एक ही बात कही गयी कि स्थानीय इतिहास वाले काम मैं तुरंत राजनैतिक संघर्ष वाले अध्ययन भी होंगे और इसलिये एक अलग उदासीन मंच की जरूरत है। इसलिये मैंने अपनी सहमति दे दी थी। फिर भी मैं बार-बार विचार करता रहा हूं और मुझे लगा कि यह सही तरीका नहीं है। अब यदि

इस तरह के काम करने हैं तो लोगों की तलाश की बात। इन स्वैच्छिक समूहों में तलाश, और जो गुटों में नहीं है, कभी जुड़े थे लेकिन अलग हो गये उनकी तलाश। आखिर यहां क्या हुआ, किशोर भारती से जुड़े हुए लोग यहां आए क्योंकि उनको उस स्थिति में काम करने में कुछ कठिनाइयां थी। ऐसे और भी समूह हो सकते है जहां ऐसे लोग होंगे जो उनके साथ काम करते थे लेकिन उनकी परिस्थिति में उनको काम करना संभव नहीं था पर हमारी तरह की परिस्थिति में वे लोग काम कर सकते हैं। न सिर्फ हमारे पास तुरंत बहुत सारे लोग मौजूद हो बल्कि एक संभावित सूची भी मौजूद हो ताकि जब भी जरूरत महसूस हो तो हमारे पास

जानकारी हो कि ऐसे लोग है जो ऐसी रूचि रखते हैं और अब कम से कम उनको जोड़ा जा सकता है। न सिर्फ हमारे साथ जुड़ सके बल्कि उनका दूसरे स्वैच्छिक समूह के साथ संबंध स्थापित भी करा दे। एक तीसरी बात राज्यव्यापी फैलाव राज्य के ऐसे ढांचो से जो हमारे पास उपलब्ध है अर्थात शिक्षा महाविद्यालय बुनियादी प्रशिक्षण संस्था (बी.टी.आई.) या एक शब्द में शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान। शिक्षा में हम व्यापक पैमाने पर तब काम नही कर सकते जब तक कि हम वहां न पहुंच जाएं जहां पर ये शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं है और जहां वे काम कर रही है और वहां जब तक हस्तक्षेप हम न करने लगे हम व्यापक परिवर्तन नही कर सकते। हमारी यह समझ रही है कि इन संस्थाओ को नवाचार बिखेरने के केंद्र बनाना है। पहले वहां एक संस्कृति, सभ्यता, माहौल तैयार करना है जिसमें प्रगतिशील ढंग से बातचीत हो, जिसमें शिक्षा को नये ढंग से समझ विकसित हो, जहां कुछ काम करने की इच्छा हो और उनकी मदद से उसको फैलाने की कोशिश। जो भी शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम संस्थाएं है उसमें लगी हुई है बहुत सारी संस्थाएं होंगी जो स्कूल स्तर की है। पहले इन शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओ में इस तरह का माहौल पैदा करना, फिर जो उससे सीधे जुड़ी हुई संस्थाए है वहां जो शिक्षक प्रशिक्षण पा रहे है, जिनको अभी ठीक मौके पर पकड़ा जा सकता है और जिनके पक्के मत अभी नहीं बने है, उन लोगों को उस मौके पर प्रभावित करना, उनमें वह प्रवृत्ति वह माहौल, वह इच्छा, वह दृष्टिकोण पैदा करना। वे जहां भी जाएं हम उन्हें खो न दें। वह जहां जाएं वहां उनकी मदद से कुछ काम हम शुरू करवा सके और जब हम उनकी मदद से काम करवाएंगे तो न सिर्फ वे काम करेंगे बल्की हम उनको ऐसे व्यक्ति के रूप में देखेंगे जो अपने आस-पास और व्यक्तियों को जोड़ने की कोशिश करेंगे और वहां एक माहौल बना सकेंगे। जितने भी शिक्षा महाविद्यालय है वह तरह-तरह के काम करते रहते हैं। जैसे जबलपुर के शिक्षा महाविद्यालय का एक सेमिनार विभाग है। उनका काम है हर 3 महिने में 1 महिने के लिये

उनके साथ काम करना और उनको आधुनिक समझ देने की कोशिश करना। ये फिर मौका है जब उनमें भी बातें की जा सकती है जो हम करना चाहते हैं। उनमें वह प्रवृत्ति, माहौल, दृष्टिकोण पैदा करना और अब उनको पहचानना और आगे उनको संपर्क सूत्र बनाना जहां से आगे प्रसार होगा और लोग जुड़ सकेंगे। फिर हमारे शिक्षा महाविद्यालयो और बी.टी.आई. में विस्तार शाखाएं होती है, जिनका मुख्य काम है स्कूलों में कार्यक्रम लेना और बहुत सारी बातें करना। ये लोकव्यापीकरण के विभिन्न कार्यक्रम भी करते हैं। इसमें हम हस्तक्षेप करके वास्तव में उन कार्यक्रमों को वह रूप दे सकते हैं जो देना चाहिए। तो ऐसे ही कार्यक्रमों की कमी नहीं है जिन में हस्तक्षेप करके हम लोकव्यापीकरण में भी मदद कर सकते हैं। विस्तार कार्यक्रम का उद्देश्य ही यही है कि शिक्षा महाविद्यालयो व बी.टी.आई. में जो नयी जानकारी है उसको स्कूलों तक पहुंचाने का एक साधन बनना। एकलव्य की कार्यप्रणाली के संदर्भ में कई बार आग्रह कर चुका हूं कि इस ढंग के विचार सरकारी ढांचों को दें, जिनकी कमी के कारण वह उस ढंग का काम नहीं कर पा रही हैं, जिस ढंग का हम चाहते हैं। एक बार जब आप शिक्षा महाविद्यालय में चले गये तो सिर्फ इन दोनों से संतुष्ट होने की जरूरत नहीं है। हम हजार प्रकार के अल्प अवधि प्रशिक्षण वगैरह कार्यक्रम कर सकते हैं। यह उन शिक्षकों की बात है जो प्रशिक्षण पा कर कई वर्षों से स्कूलों में है। लेकिन इस तरह के कामों की उपयोगिता तभी होगी जब हम इस तरह का माहौल इन संस्थाओं में बनाएं। यह सब करने के लिये यह जरूरी नहीं है कि हर शिक्षा महाविद्यालय में हमारा एक फील्ड सेंटर हो ताकि हम वहां काम कर सकें। पर चूंकि एकलव्य को मैं एक राज्य स्तरीय मंच के रूप में देख रहा हूं इसलिये जिस इलाके में कोई स्वैच्छिक समूह अच्छा काम कर रहा है और रुचि रखता है उनसे भी संपर्क स्थापित कर सकते है। यानी यदि रीवा में हम काम कर रहे हैं तो जरूरी नहीं कि वहां हमारा फील्ड सेंटर हो। यदि वहां कोई ग्रुप काम कर रहा है और उससे हमारी समझ बढ़ सकती है तो उसको इस तरह के काम में जोड़ना चाहिये। अब यहां पर मैं एक बात बहुत साफ करना चाहूंगा जिसमें बहुत बार दिक्कत होती रहती है।

वह दिक्कत है समझ की । यहां हो.वि.शि.का. में आपने काम किया। आपने मुख्य रूप से किसके लिये काम किया? जनता के लिये काम किया, छात्रों के लिये या छात्रों के साथ काम किया, शिक्षकों के लिये या शिक्षकों के साथ काम किया? उत्तर है आपने तीनों स्तरों पर काम किया जनता से एक सीमित संपर्क हो सका, शिक्षकों का आपने प्रशिक्षण किया और विद्यार्थियों से अपने काम के स्तर पर, पाठ्यक्रम विकास में आपने उनकी प्रतिक्रियाएं ली।

मैं कह रहा था कि शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में काम करना जमीन से जुड़ा हुआ काम करना है। काम की प्रक्रियाओं में किसी तरह का अंतर नहीं होगा। केवल अंतर यह होगा कि प्रतिक्रियाएं बढ़ जायेंगी विद्यार्थियों, शिक्षकों और शिक्षक प्रशिक्षकों में आप कड़ियां बना रहे हैं। आप स्रोत दल की जगह शिक्षक प्रशिक्षक को रख रहे हैं लेकिन उद्देश्य में मेरी राय में मुख्य रूप से अंतर आएगा। यहां उद्देश्य है एक पाठ्यक्रम विकसित करना, एक कार्यक्रम विकसित करना, वहां उद्देश्य होगा कि शिक्षक प्रशिक्षकों को बताना कि कार्यक्रम कैसे विकसित करनी चाहिए, कैसे अच्छे शिक्षक को प्रशिक्षित करना चाहिए, कैसे अच्छे शिक्षक बनना चाहिये। काम आप वही करेंगे लेकिन आपका जोर, आपका दृष्टिकोण भिन्न होगा, काम में कहीं अंतर नहीं होगा। यदि आपको इस जमीन से जुड़े हुए काम को करने से नये अनुभव मिलते हैं, नयी जानकारियां मिलती है, तो वे ऐसे भी मिलती रहेंगी, उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा। अब अगली बार जोड़ रहा हूं कि राज्य स्तर पर फैलाने के लिये और क्या करना होगा। वह है उच्च शिक्षा संस्थानों को अच्छी तरह जोड़ना यानी कॉलेज और विश्वविद्यालयों को जोड़ने की बात। यह काम होशंगाबाद में भी हुआ है और कोई नयी बात नहीं कही जा रही है लेकिन उसके व्यवस्थित उपयोग का सवाल है। अभी तक यह सोचा गया है कि यदि हो.वि.शि.का. को चलाना है तो दिल्ली से, टी.आई.एफ.आर. से और दूर-दूर से लोगों को ढूंढ कर लाना जरूरी है। सवाल है कि यदि राज्य स्तर या व्यापक पैमाने पर काम करना है तो वह काम ऐसे नहीं चल सकता। इस काम के लिये स्थानीय उच्च शिक्षा संस्थान में भी एक तरह का माहौल बनाना पड़ेगा, वहां भी लोगों को ढूंढना पड़ेगा। वहां भी पुनर्मुखीकरण करना पड़ेगा।

यहां भी हमारे पास जो ढांचे मौजूद है जैसे यू.जी.सी बहुत हल्ला करती है कि उच्च शिक्षा संस्थाओं को विस्तार का काम करना चाहिये अर्थात स्कूल में काम करना चाहिये और दूसरा, समाज के साथ काम करना चाहिये। यदि समाज के साथ काम करना अपनी रणनीति में होगा तो वह भी करवाना संभव है। इस तरह की कुछ कोशिश की गयी है। धार में कोशिश की गयी कि स्कूलों को गोद ले लिया जाए। उसके लिये उच्च शिक्षा संस्थानों को अतिरिक्त स्टाफ दिया गया ताकि वे काम करें। मुख्य बात यह है कि यदि यू.जी.सी. व अन्य उच्च शिक्षा संस्थान कहते हैं कि स्कूलों के साथ, समाज के साथ काम करना जरूरी है तो हम सिर्फ मार्गदर्शक सिद्धांत प्रदान कर सकते हैं कि कैसे यह काम कर सकते है। जैसे, बिलासपुर विश्वविद्यालय के लिये मैंने प्रस्ताव बनाया है जिसमें कॉलेज की संबद्धता के लिये एक शर्त रखी है कि उन्हें आसपास के स्कूलों में काम करना पड़ेगा।

मुझे लगता है कि राज्य स्तर पर काम करने के लिये हमें प्रकाशन और संचार माध्यमों पर जाना पड़ेगा। मैंने दूरदर्शन का उदाहरण दिया था। मैं रेडियो का उदाहरण देना चाहूंगा। रेडियो का अनुपयोगी कार्यक्रम होता है शिक्षक प्रशिक्षकों के लिये, स्कूलों के लिये, औपचारिकेतर शिक्षा के लिये। यह समझना कि इसका इस्तेमाल नहीं किया जा सकता, उच्च टेक्नोलॉजी है , हमसे मतलब नहीं है आदि, गलत है। राज्य स्तर पर माहौल तैयार करना है तो जरूरी है इसको समझना, किस तरह से हम इनको प्रभावित कर सकते हैं इस पर काम करना जरूरी है इसी प्रकार हम एक बुलेटिन निकाल रहे हैं जो बहुत सीमित दायरे का है। बहुत सारे प्रकाशन बहुत दायरों के करना चाहिये। लेकिन मेरा कहना है कि मौजूद तंत्रों का भी इस्तेमाल करना चाहिये, मौजूदा माध्यमों का भी इस्तेमाल करना चाहिये। एक उदाहरण देना चाहूंगा पलाश की 28000 कॉपी छपती है और बेकार छपती है। लेकिन वह एक ऐसी जगह है जहां काम उपलब्ध है, एक ऐसी जगह उपलब्ध है जहां हम हस्तक्षेप कर सकते हैं और जिस तरह की बात दूसरों तक पहुंचाना है, लोगों को खड़ा करना पहचानना है, उन सबके लिये इसका इस्तेमाल हो सकता है और करना चाहिए। ऐसे ही बहुत सारे कार्यक्रम सरकार के प्रारंभ हो रहे हैं जैसे शिक्षक प्रशिक्षण संघ। इसे खत्म करने की बात हो रही थी पर मैंने इसे

रखा है। इसकी मदद से हम शिक्षा के क्षेत्र में बहुत सारी बातें कर सकते हैं। इसी प्रकार विज्ञान और टेक्नोलॉजी समिति का जो काम हो रहा है उसमें भी हस्तक्षेप करना चाहिए, छोड़ना नहीं चाहिये। इसके बाद आखिरी हिस्सा है मेरी बात का कि यदि राज्य स्तर पर लंबे समय तक काम करना है तो क्या करना है। यदि लंबे समय की बात है तो

कार्यकर्ता निर्माण भी जरूरी है। अभी तक प्रतिभा खोजने की बात कर रहे थे सिर्फ। लेकिन यह भी जरूरी है कि जिस तरह के लोग हमें चाहिये वे हमें मिले। ऐसे बहुत सारे लोग हमें मिलेंगे यदि हमने शिक्षा में व्यापक हस्तक्षेप कर दिया और सारी परिस्थिति को बदल दिया। यह एक तरीका है। एक तरीका और भी हो सकता है। वह है कि अपना एक संस्थान हो पूर्व प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक। वह अपना हो यह इसलिये जरूरी है कि जिस आदर्श की हम बात करते हैं उसको प्रदर्शित करने के लिये। दूसरा, कार्यकर्ता निर्माण के लिये, वहां ऐसे लोगों को ज्यादा अच्छी तरह से तैयार कर सकते है जो आपके माहौल को समझते हैं और जो कहीं भी हो आपके लिये एक बेहतर समर्थन ढांचे का काम करेंगे जब आप आगे बढ़ेंगे। तीसरा, उससे एक ठोस चीज मिलेगी जिससे आपकी संस्था, आपके कामों के विषय में देखा जा सकेगा अभी आपको जो भी चाहिये आप हो.वि.शि.का के आधार पर मांगते है। आप अपनी उपलब्धि क्या बताते हैं हो.वि.शि.का.। वह उपलब्धि भी आपकी नहीं किशोर भारती की है। चौथा, यह हमारी एक ऐसी व्यवस्था होगी जिससे हम अनुदान वगैरह का आदान-प्रदान भी कर सकते हैं। पांचवा, संकटकालीन स्थिति में एक स्थिरता के लिये। मैं ऐसी स्थितियों की कल्पना कर सकता हूं जिनमें व्यापक पैमाने पर काम करने की हमारी इच्छा, महत्वाकांक्षा के बावजूद गंभीर रुकावटें आएंगी और ऐसे समय में पीछे हटने की नीति अपनानी पड़ेगी थोड़ी देर के लिये। थोड़ी देर के लिये स्थायी गतिविधि नजर आती रहें उसके लिये यह जरूरी है।

साधना: आप जो मॉडल प्रस्तुत करते हैं उससे इतना मतभेद नहीं है जितना उसके पीछे जो आधार प्रस्तुत करते हैं उनसे हैं कि छोटे पैमाने के काम की क्या सीमाएं हैं, वे क्यों खो जाते हैं, क्यों फैलाना चाहिये।

इनको लेकर आपकी ऐतिहासिक समझ क्या है और जो छोटे पैमाने के काम आज तक हुए हैं उनकी क्या मिसाल है यह मुझे मालूम नहीं और जो अभी आपने प्रस्तुत की वह मुझे लगा बहुत अपर्याप्त है। आपके प्रस्तुतीकरण से ऐसा लगता है कि आप छोटे पैमाने के काम का महत्व कम देखते है। दूसरा, आप छोटे पैमाने और बड़े पैमाने के काम की क्या कड़ी देखते हैं वह भी स्पष्ट नहीं है।

विनोद: मैं नहीं जानता साधना के मन में क्या प्रश्न है पर मुझे लगता है यह मेरे मन की बात को प्रतिध्वनित करता है। जब भी आपके बगैर हम बात करता है इस मुद्दे पर कि बड़े ओहदे से,एक ताकत के ढांचे से, शिक्षा सचिव के नाते काम करने में हमारे सामने एक उदाहरण आता है कि एक व्यक्ति बेहार ने बहुत कोशिश की थी काम करने की और इसी काम के दौरान उनसे यह काम नहीं हो पाया और शिक्षा सचिव के पद से भी हटने की बात आयी। जब ऐसे व्यक्ति, ऐसे आशावादी और काम करने वाले लोग भी इस तंत्र से ऊपर से नीचे की प्रक्रिया नहीं कर पाते

हैं और एक साधारण आदेश से उनको बदला जाता है तो हमें इसी उदाहरण को देखकर लगता है कि यह कैसे हो पाएगा?

अनिल: बेहार साहब, आप एक मनोवैज्ञानिक है। इस समूह के साथ संवाद करने में आपको हमेशा यह दिक्कत रही है, शुरू से, पहले दिन से। मुझे लगता है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से उसको देखे तो दिक्कत बहुत बुनियादी है -संवाद की। आप जिस आराम से और मासूमियत से विश्वास व्यक्त कर देते हैं- वह विश्वास नहीं है इधर दूसरी तरफ। हमेशा एक शक बना रहता है, इस पूरे ढांचे पर। जब तक आप इसको इस दृष्टि से नहीं देखेंगे दिक्कत रहेगी और हमको भी आपसे उसी दृष्टि से बात करने की आवश्यकता है आपका भी एक विश्वास है।

बेहार: बहुत सारी बातें जुड़ गयी है। इसकी वजह है कि स्पष्ट रूप से दो पक्ष है और दूसरे पक्ष के सारे मुद्दे एक साथ आ रहे हैं। एक-एक का जवाब देने में शायद मेरे लिए सरल होगा पर उससे बात उभरेगी नहीं।

अनिल: दिक्कत क्या है कि आप इन मुद्दों का तार्किक जवाब दे देंगे और इसके ऊपर तार्किक टिप्पणियां और सवाल भी खड़े हो जाएंगे। इस तरह बहस बहुत लंबी चल सकती है।

बेहार: तो आप किस तरह के जवाब चाहते हैं?

अनिल: मुझे लग रहा है दिक्कत ज्यादा बुनियादी है तर्क के आधार पर नहीं है।

रमाकांत: मुझे लगा कि बेहार ने एक बहुत व्यावहारिक और कार्यकारी रणनीति का ढांचा दिया है और मुझे बहुत अच्छा भी लगा कई बातों में। इसमें बहुत परेशानियां है, यह हमको मालूम है। पर वि.शि.का. की पिछली तीन दिन की चर्चा में यह भी आया कि 1972 में यह आदमी था, 1974 में वह आदमी था। बार-बार कहते है कि आदमी मिल जाते हैं सरकार में भी और काम में भी। इसलिये मुझे कुछ समझ में नहीं आई बात कि क्यों बिल्कुल ही तालमेल नहीं देखा जा रहा है। थोड़ा बहुत तालमेल तो लोगों ने देखा है और है। फिर कहा जा रहा है कि कुछ भी नहीं हो सकता।

खन्ना: जो परिप्रेक्ष्य आपने पेश किया है पता नहीं लग रहा कि वह सरकार के जो बाकी संगठन है उनके परिप्रेक्ष्य से कैसे भिन्न हैं। दूसरा आपने जो कहा लोकव्यापीकरण की बात में कि सरकार जानती नहीं है। तो सरकार कहां तक नासमझ है? कहां तक उसका परिप्रेक्ष्य नहीं है? उसके बारे में मुझे थोड़ी चिंता है।

बेहार: नासमझ नहीं कहा मैंने। मैंने कहा था कि कुछ निर्धारित लक्ष्य और आदर्श है उन तक कैसे पहुंचना उसकी समझ नहीं है। या लोकव्यापीकरण के बारे में कहा था कि शत- प्रतिशत लोगों को करना है, पर कैसे करना है यह समझ नहीं है। इसीलिये सरकार जगह-जगह प्रयोग करके नवाचार करके ढूंढ रही है। यदि स्वैच्छिक समूह जवाब दे सकते हैं तो करना चाहिये।

हार्डी: मुझे तो मुख्य दिक्कत लगी है जो खन्ना साहब ने भी कहने की कोशिश की- आपने कहा था कि सरकार कुछ करना चाहती है पर उसको करने के तरीके नहीं मालूम और अगर उसको कुछ व्यक्ति वे तरीके बता दे तो वह काम हो सकता है। दूसरा, जो कथन है कि स्वैच्छिक संस्थाओं का एक मंच बनाकर उनको इकट्ठा करना है। इसमें मैं एक सवाल पूछना चाहता हूं आपसे कि क्या हम ऐसा व्यापक को दृष्टिकोण दे सकते हैं जिसमें सब स्वैच्छिक समूह आ जाएं? या क्या हम सत्ता के साथ जुड़कर वह शक्ति उनको दे सकते हैं जिसके आधार पर उनके ऊपर एक श्रेष्ठता या नियंत्रण स्थापित करें जिससे वे हमारे साथ

अनिल: हार्डी, आपका दूसरा बिंदु इसके साथ नहीं लेना चाहिये। आपका पहला बिंदु जुड़ता है ज्यादा इसके साथ।

श्याम: ऐसी बहस में जब भी कहा जाता है कि सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया है या सरकार ने यह नीति बनाई है या सरकार ने यह निर्णय लिया है उसको लेकर हमारी समझ स्पष्ट नहीं कि उसका मतलब क्या होता है? सरकार आखिर है क्या बला? वह एक व्यक्ति होता है या परिस्थितियां होती हैं? दूसरी बात, इसी बारे में कही कि सरकार को नहीं मालूम है कि उनके पास अच्छे लोग हैं, हम उनको बताएंगे और करवा लेंगे। तो शिक्षक आयोग ने अनिल का उपयोग किया है। अब हम देखेंगे कि कल के दिन कि इससे होता क्या है?

वैकल्पिक मॉडल- विनोद रैना

विनोद: जिस चीज की मैं बात करूंगा उसको आमतौर से दिल्ली मॉडल के नाम से पुकारा जाता है। शायद यह बात स्पष्ट करने की जरूरत है कि इस नाम के पीछे कोई ठोस आधार नहीं है। मुझे मालूम नहीं है कि ये दिल्ली से एक ग्रुप का ठीक तरह से विचार-विमर्श करके निकाला हुआ विकल्प है। मैं इसी वजह से इसे मॉडल भी नहीं कहूंगा। मैं कहूंगा कुछ विचार जो 1981 की जनवरी में पेश किये गये थे। मैं उनको उसी ऐतिहासिक दौर में पेश करूंगा। प्रमोद श्रीवास्तव के साथ मेरी काफी सारी बातें हुई थी कि अगर एक संस्था शिक्षा में नवाचार का काम करें बड़े स्तर पर तो क्या तरीका होना चाहिये। जो विचार आएंगे सामने वे उन्हीं चर्चाओं पर आधारित है। और लोग भी अलग से इसमें जुड़े थे पर उनके क्या विचार रहे थे मुझे इसकी जानकारी नहीं है।

शुरुआत ऐसी थी कि हमने सोचा था कि हम जैसे लोग जो वि.शि.का. के स्रोत दल की भूमिका निभाते आए थे वे यह निर्णय ले कि हम वि.शि.का. जैसे नवाचार और विषयों में फैलाना चाहे तो अपनी कुशलताओं को देखते हुए किस तरह का ढांचा अपनाये। दूसरी बात कि कौन-सा ढांचा इसके बावजूद भी अपनाना चाहिये चाहे हमारी कुशलता उसमें हो या न हो। हमें यह जरूर लगा था कि इस शिक्षा जैसी चीज में व्यापक रूप में परिवर्तन लाना एक

राजनैतिक कदम है। चाहे वह विज्ञान को ही राज्य में फैलाने की बात हो। व्यापक तौर पर काम करने में बहुत दबाव पड़ेगा कि यह न फैले। और यदि हम इस तरह का काम विज्ञान से हटकर, भाषा और सामाजिक विज्ञान में करेंगे तो यह दबाव और भी गहरा होगा। यह तब भी मान्यता थी और मेरी अब भी है। एक बात और कि हम स्कूली शिक्षा को पर्यावरण से जुड़ा हुआ मानते थे। अब भी मानते हैं। इस वजह से यदि स्कूल शिक्षा में पर्यावरण जोड़ना है तो उसका संचालन या शैक्षणिक शोध या उसका शैक्षणिक आधार भी क्षेत्र आधारित होगा। वह केंद्रीकृत नहीं हो सकता। जब तक वह केंद्रीकृत रहेगा तब तक उसमें पर्यावरण से जुड़ना और पर्यावरण के समाज से जुड़ने की जो बात कर रहे हैं, वह नहीं आएगी। हम लोग यह जानते हैं कि शिक्षा हमारे देश में एक प्रांतीय विषय है अतः इसके बावजूद हम जानते थे कि इस पर कोई खास असर नहीं पड़ने वाला है। इस वजह से हम सोचते थे कि स्कूली शिक्षा में काम अलग-अलग क्षेत्रों में वहां के लोगों के सहयोग और उन्हीं के विचारों से उभरना चाहिये। उसका संचालन भी उन्हीं के द्वारा होना चाहिये। इसमें हम लोग जो शाला संकुल वाली बात है उसको बहुत दूर तक सोचते थे कि एक जिले की पूरी स्कूली शिक्षा उस जिले के लोगों की ही पूरी तरह से जिम्मेदारी हो जाएगी। उस जिले में अगर एक विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, हायर सेकेंडरी , मिडिल और प्राथमिक स्कूल है तो ये सब मिलकर तय करेंगे कि इन सब में क्या पढ़ाया जाएगा। प्राथमिक स्कूल की जिम्मेदारी प्राथमिक के ही लोगों पर है और उनका पाठ्यक्रम एन.सी.ई.आर.टी. से आएगा, यह चीज हम सोचते हैं कि ठीक नहीं है। हम वहां के शिक्षकों, व्याख्याताओं कि इसमें भूमिका समझते थे कि पर्यावरण पर आधारित वैज्ञानिक पद्धति से बनने वाला पाठ्यक्रम छोटी- छोटी इकाइयों में होगा। हमने यह परिभाषित नहीं किया था कि यह इकाई क्या होगी। जिला हो सकता है। अगर इस तरह के नवाचार करेंगे जिनमें इस तरह का विकेंद्रीकरण है और इस तरह की पर्यावरण आधारित पद्धति है तो हम सोचते थी की सरकारी ढांचे का उपयोग करना चाहिये पर वह आधार नहीं बनना चाहिये। मतलब हम सरकारी या स्कूली तंत्र को इस्तेमाल करेंगे कि उसके माध्यम से यह बात फैलाएं, हम डी.पी.आई. कार्यालय को इस्तेमाल करेंगे। पर हमारे लिए वह एक ढांचा था जिसको इस्तेमाल करने और झुकाने की बात थी

उस ढांचे को हम आधार नहीं मानते थे। यह मुझे लगता है एक अंतर है, जो बेहार साहब कहते हैं और जो हम कहते हैं उनके बीच। मैं यह भी कहूंगा की बहुत सारी समानताये है बिल्कुल विरोधी स्थितियां नहीं है। अगर नवाचार का काम शुरू करना है तो उसके लिये जिस तरह की सृजनात्मक क्षमता और लचीलापन लोगों में चाहिये तो वह भी एक शासकीय तंत्र में असंभव है। जिस तरह से किशोर भारती में वह लचीलापन था और ऐसे लोगों का केंद्र बन गया, इसी तरह के केंद्रो से ही यह काम होगा, चाहे वह किशोर भारती जैसी संस्था न भी हो। जिला स्तरीय अनौपचारिक नवाचार समूह हो जो ये काम कर रहे हैं और हमारी यह मान्यता है कि ऐसे लोग है जो इस तरह का काम करना चाहते हैं। उनको पहचाना जा सकता है, हर जगह मिल सकते हैं और उन लोगों के लिए ये ज्यादा सुविधाजनक होगा कि वे अपनी जगहों पर ही यह काम करें। और इन्हीं लोगों से यह काम एक स्वैच्छिक प्रयास से शुरू हो सकता है। वे अपने जिले या क्षेत्र में किस तरह का कार्यक्रम तय करते हैं यह उनको छूट है। वे अन्य जिलों से, अन्य कार्यक्रमों से विचार ले सकते हैं पर मुख्यत: वह उन्हीं की भूमिका होगी। अगर स्कूली शिक्षा का कार्यक्रम विकसित करना है जो गुणात्मक सुधार लाए स्कूल स्तर पर, तो फिर उसके विकास में, क्रियान्वयन में स्कूल का शिक्षक बाहर नहीं रह सकता। स्कूल का शिक्षक सोच के स्तर पर उसका एक अंग होना पड़ेगा तभी वह उसमें अपनी भागीदारी समझेगा। अगर वह व्यक्ति किसी की बनाई हुई चीजों को अपनाने वाला है तो वह कभी भी उसमें जुड़ नहीं पायेगा। दूसरी बात कि स्कूल के शिक्षक को बहुत कम क्षमता वाला माना जाता है और कम अहमियत दी जाती है। जबकि अगर हमें कोई परिवर्तन लाना है तो उसी की क्षमताओं को बढ़ाकर और उसी को सारे नवाचार के कार्यक्रम का मुख्य अंग बनाकर काम करना होगा। इसीलिये हमारा जोर था कि नवाचार का कार्यक्रम शिक्षक के साथ रहकर उसी के साथ तैयार होना चाहिये। वही इसमें मदद कर सकता है। इस तरह से जिसको मॉडल कहा जाता था कि क्षेत्र आधारित नवाचार समूह और केंद्र होंगे जो कि अपने क्षेत्रों में शिक्षकों के साथ सीधी भागीदारी ले, यह नहीं कि वे नवाचार एक स्तर के प्रशिक्षकों को पढ़ा रहे हैं फिर वे प्रशिक्षक दूसरे स्तर के प्रशिक्षकों को पढ़ा रहे हैं,

ये प्रशिक्षक माध्यमिक स्कूल के शिक्षकों को पढ़ा रहे हैं और फिर शिक्षक स्कूलों में पढ़ा रहा है। इसके बदले सीधे संपर्क में यह नवाचार का काम बन भी रहा है और क्रियान्वित भी हो रहा है और ऐसे ही नवाचार के समूहों के फेडरेशन की कल्पना थी हमारी। हमने समझा कि ऐसा काम करने के लिये लोगों को पहचानना और इस तरह के

समूह बनाना एक सैद्धांतिक मॉडल तो है। अगर इसको व्यवहारिक बनाना है तो शिक्षा में इस तरह की प्रक्रियाओं को करने के लिये जब तक समाज की भागीदारी ना हो तो यह संभव नहीं होगा। मतलब जब तक यह मांग न हो एक या दस जिलों की कि हमारे जिलो की शिक्षा हमारे ही पर्यावरण से जुड़कर बननी चाहिये और उसके लिये ये काम होना चाहिये तब तक यह काम शायद नहीं हो पाएगा। इसलिए हमने स्कूली शिक्षा में इस तरह का ढांचा सोचा। यह ढांचा बनाने और बनाए रखने के लिये ये नवाचार समूह समाज के साथ काम भी करते रहेंगे। यह बात भी जुड़ी हुई थी कि शिक्षा के ऊपर समाज से सवाल, बहस और उनकी भागीदारी हो। हमने सोचा कि यह विकेंद्रित तरीके से ही हो सकता है। उसकी मुख्य बात है कि शिक्षा में यदि हमें नवाचार करना है तो हमें माहौल चाहिये। माहौल स्कूलों के बाहर बनाना है और बहुत व्यापक रूप में बनाना है। इन चीजों के लिये हमने यह माना कि जो शिक्षा महाविद्यालय है, जो बी.टी.आई. है वहां पर हमें नवाचार की बातें, चाहे वह उनमे एक पर्चा डालना होगा उनमें प्रशिक्षण शिविर बुलाना हो या चाहे वे ही इन जिलों के नवाचार कार्यक्रमों के केंद्र हो, यह करना जरूरी है। हमको मौजूदा ढांचा को अलग नहीं करना है। हमसे जितना हो सके उनका उपयोग करना है, आधार नहीं बनाना है। हम कोई समांतर प्रणाली की बात नहीं कह रहे है। मैं इसमें सिर्फ एक चीज जोड़ूंगा। जो शायद मेरा ही विचार हो जिसकी वजह से शायद अलग-अलग मत लगते हैं। वह शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन की बात है। मेरे ख्याल में सबके दिमाग में बात थी और ये जो अलग-अलग मॉडल की बात है उसी से जुड़ी हुई है। जैसा की हमने पहले भी कहा था कि शिक्षा में व्यापक स्तर पर गुणात्मक परिवर्तन लाना, एक राजनैतिक काम है और हमारी समझ है कि एकदम एक व्यापक पैमाने या देशभर में यदि इस स्तर के

परिवर्तन लाने हैं तो इस तरह के केंद्र बनाकर वह काम नहीं होगा, ये भी शायद साफ है। इसलिये देश भर में इस तरह के केंद्र होंगे जो शिक्षा में नवाचार के काम करेंगे यह मेरी समझ नहीं है। देश भर में यह काम होगा जब देश भर में एक राजनैतिक ढांचा होगा। यह विवादास्पद मुद्दा है पर रखना चाहता हूं। राजनैतिक ढांचा बदलने में बहुत सारी क्रियाओं के साथ-साथ शिक्षा का भी हाथ है। शिक्षा से ही नहीं, उसके साथ बहुत सारे और कारक जुड़े हुए है। तो मध्य प्रदेश राज्य स्तर पर इन विकेंद्रित नवाचार केंद्रों के बढ़ने में अवरोध आएंगे और नहीं बढ़ पाएंगे। यह कल्पना है, ऐसा हो सकता है कि न बढ़ पाएं। पर इन क्रियाओ से और जो क्रियाएं हैं वे विकसित हो जाएंगी जिनका और जो क्रियाएं हो रही है उनसे जुड़ाव होगा और उससे राजनैतिक बदलाव में योगदान मिलेगा। यह कहीं एक सिद्धांत है कि इससे इस तरह की प्रक्रिया शुरू हो जाएगी और दूसरी बात कि इस समय भी इस दिशा में ऐसे लोग हैं, संगठन है जो सीधे राजनैतिक बदलाव के लिये काम कर रहे हैं। अगर शिक्षा जैसा माध्यम उसके अनुकूल माहौल बना रहा है तो वह उस प्रक्रिया को शायद गति प्रदान कर रहा है। हां, इसका मापदंड कि कौन- सा गति

प्रदान कर रहा है और कौन-सा अवरोध डाल रहा है उस पर जाएं। जिसको दिल्ली मॉडल का वैकल्पिक मॉडल बताया जाता है, बहुत संक्षेप में यही है।

अनिल: एक जानकारी देना चाहूंगा। बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है कि दिल्ली का नाम जुड़ा हुआ है। असल में यह कुछ और नहीं वही होशंगाबाद मॉडल है। इसको वहां विकसित किया गया और दिसंबर 1981 की मीटिंग में शायद प्रमोद या विजय लिखकर लाएं।

बेहार: हर एक जिले की स्वायत्त इकाई हो जो निर्णय ले सकेंगी ऐसी कल्पना मुझे कठिन महसूस हुई। बाकी में मुझे समानता नजर आई कि हम स्वैच्छिक समूहो का इस्तेमाल करने की बात कर रहे हैं। हम स्वैच्छिक समूहो को पहचानना और जोड़ना और उनको साथ लाने की बात कर रहे हैं। आप कह रहे हैं स्वैच्छिक समूह गठित करना,,अलग-अलग जिलो में, मुझे लगता है बाकी समानता है और चीजो में। मैं यह सुझाव देना चाहूंगा कि यदि ये दो मॉडल है (और भी हो तो आ जाएं) तो इनके अंतरो को पहचानकर, तीन-चार बिन्दु बनाकर उनकी संवाद

का मुद्दा आगे के लिए बनाया जाए ताकि धीरे-धीरे करके बात साफ हो जाए कि वास्तव में कहां-कहां अंतर था और यह अंतर कहां समझ का और कहां अवधारणा का था। अंतर को मिटाकर फिर बात को आगे स्वीकार कर लेना बढ़ा लेना संभव होगा। अब मैं प्रश्नों का जवाब दूंगा।

अनिल: अनवर का प्रश्न था कि जब आप ये रणनीति प्रस्तुत कर रहे है तो आपको इसमें फीका पड़ जाने (DILUTION) की बात पर क्या कहना है?

बेहार: छोटे पैमाने में जो सीमाएं बताई थी और उसके बाद विशेषता की बात आ गयी थी, कि वहां एक आदर्श की बात की जा सकती है। इसलिये बाद में फीका पड़ जाने की बात थी। आदर्श पद्धति को छोटे पैमाने पर लागू किया जा सकता है, काफी आदर्श के नजदीक थोड़े परिवर्तनों के साथ। पर यदि बड़े पैमाने पर काम करना है तो वह आदर्श उसी रूप में बड़े पैमाने पर लागू नहीं किया जा सकता। उसमें एक फीकापन आएगा ही। उसकी वजहे बहुत सारी है पर मुख्य वजह जो मैं प्रस्तुत करना चाहूंगा वह है उस बात को समझकर उस पैमाने तक ले जाकर करने वाले लोगों की क्षमता और प्रेरणा की कमी। और मैं कहना चाहूंगा कि यह कमी तंत्र में भी है (सरकारी) और स्वैच्छिक संगठनों में भी। मैंने आज तक ऐसा स्वैच्छिक संगठन देखा नहीं जो बड़े पैमाने पर बिना डाईल्यूशन के काम कर सके। बड़े पैमाने पर काम करने में जो दिक्कतें पैदा होंगी उसका आपने भी सवाल उठाया था और मैं वहां से शुरु कर रहा था। पहली दिक्कत होती है सवांद की। ऊपर से नीचे (TOP TO BOTTOM)की बात हो रही थी और वह नीचे से ऊपर (BOTTOM TO TOP) में भी उसी मायने में उपयोगी होता है। अर्थात यदि कुछ विचार उच्च स्तर पर है और यदि उन विचारों के आधार पर काम करवाने की कोशिश की जाती है या उसे जगह-जगह फैलाने की कोशिश की जाती है तो वहां तो दोनों तरह की दिक्कतें जाएंगी। पहला है कि वह विचार

तभी लागू हो पाएगा जब नवाचार समूह हो वहां। तो जब यहां से वहां तक विचार जाता है कार्यक्रम की समझ में फर्क पड़ता जाता है। जो कार्यक्रम बना, बनाने वालों को, उसको संचारित करने वालों का, उसके सिलसिले में प्रशिक्षण देने वालो का और

छोटे गांवो में जाकर वह कार्यक्रम जो नवाचार कार्यक्रम के रूप में किया जाता है तो जब वास्तव में वह कार्यक्रम किया जा रहा है गांव में तो उसका स्वरूप काफी बदल गया होता है।

रमाकांत: इसमें अनुवाद की भी समस्या है। मूल कार्यक्रम स्पैनिश या फ्रेंच में लिखे जाते है।

बेहार: सही है पर यदि उसी भाषा में है तो भी संवाद की समस्या है।

रमाकांत: भाषा एक अतिरिक्त कारक है।

बेहार: मैं जो कहना चाहता हूं कि जो समस्या है वह संवाद की है- नीचे से ऊपर वालों की भी यह समस्या है। इसमें प्रेरणा और क्षमता के अलावा यह कारण भी मौजूद है। छोटे पैमाने पर नवाचार का काम किया जिन लोगों ने, उसकी सघन अनुभूति ली, उससे गुजरे, उन्होंने जो समझा और जितना आत्मसात किया, जितना लिखा, उसको जब बड़े पैमाने पर ले जा रहे हैं, तो बाकी लोग जो उस अनुभव से कभी नहीं गुजर सकते। इन लोगों तक पहुंचते -पहुंचते किसी तरह का संवाद का फर्क पड़ता है। इसलिये उसमें किसी -न-किसी हद तक डाईल्यूशन/ संशोधन होगा। ये परिवर्तन ऊपर से थोपने और नीचे से होने, दोनों में होता है। दूसरी बात है कि जब बड़े पैमाने पर यह काम हो रहा है तो समझौते अपरिहार्य होते हैं। बड़े पैमाने पर बहुत ज्यादा लोगो की भागीदारी होती है। छोटे पैमाने पर जब आप काम कर रहे है तो भी आप छोटे-मोटे समझौते करते रहते है। जब बड़े समूह में वही हो रहा है तो उसके बड़े समझौते होते हैं और उन समझौतो का फिर एक असर होता है जिसमें थोड़ी विकृति आती है, थोड़ा डाईल्यूशन आता है। मुख्य मुद्दा यह है कि यदि ऐसी रणनीति बनायी जा सके जिससे सघन स्तर पर जो प्रयोग किए गये है वही बड़े पैमाने पर संभव हो तो वह जरूर बेहतर होगी। मुझे नहीं लगता है कि ऐसी सम्भावना है।

रमाकांत: मुझे विनोद के वैकल्पिक मॉडल से बहुत स्पष्टता हुई है और मैं मानता हूं कि वह बहुत महत्वपूर्ण भिन्नता है, और मैं नहीं समझता कि वह समाप्त हो गयी है क्योकि सबसे निचले स्तर से कार्यक्रम ऊपर बढ़ने की बात नहीं है। आपको जो एक बुनियादी मान्यता थी कि स्थानीय

छोटे पैमाने के कार्यक्रम आप के मॉडल में संभव नहीं हैं। यह आपने कहा कि कोई भी गतिविधि स्थानीय नहीं रह सकती और छोटे पैमाने का काम ज्यादा देर तक जीवित नहीं रह सकता । लेकिन अगर क्षेत्र और पर्यावरण आधारित कार्यक्रम है तो उसकी तो यह मान्यता है कि वह उसी क्षेत्र में रहेगा और दूसरे क्षेत्र में उसका एक बदला हुआ स्वरूप होगा। एक बदला हुआ स्वरूप होगा, यह मुझे विनोद की बात से एक स्पष्टता मिली। मैं समझता हूं, निचले स्तर से जब फैलने की बात है उसमें एक बहुत स्पष्टता रहेगी, एक प्रतिबद्धता रहेगी क्योंकि वह लोगों के साथ मिल जुलकर उभरा हुआ कार्यक्रम है जो कि मैं समझता हूं कि यूनिसेफ के यू.एन.ओ. के कार्यक्रमों से, जो ऊपर से दिये गये है, उनसे भिन्न है। उसमें, मैं यह नहीं कह रहा हूं कि संवाद की समस्या नहीं आएंगी पर मुझे एक बिल्कुल गुणात्मक फर्क साफ इसमे नजर आ रहा है।

विजय: तुम(रमाकांत) यह क्यों मानकर चल रहे हो कि यहां हमेशा हमारे ऊपर से शुरू करने की बात कही जा रही है।

रमाकांत: ये एक बात उठी थी इसलिये मैंने कहा।

बेहार: चर्चा में यह कहीं नहीं था कि कार्यक्रम ऊपर से नीचे दिया जाएगा। देखिये, फैलाव का सवाल हो रहा है जिसका मतलब ही है कि कुछ है जिसे फैलाया जा रहा है। यह बात ही नहीं हो रही है कि कुछ है, जिसे नीचे धकेला जा रहा है। इसलिये मैंने मान्याताओ में कहा था कि छोटे पैमाने पर अच्छे, प्रगतिशील, स्वीकार्य कार्यक्रम है और उनको अन्य जगह फैलाने की बात है। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है, जिसको समझा जाए, कि ऊपर से नीचे की बात कहीं नहीं है।

अनवर: 'बिल्कुल निचले स्तर' और छोटे पैमाने के काम में थोड़ा अंतर करना आवश्यक है। पहला वह है जो उसी क्षेत्र के लोगों का होता है, जिसके लिये वे लड़ने को तैयार हो पर छोटे पैमाने के काम बहुत सघन हो सकते हैं पर हो सकता है लोगों में वह भावना न हो।

विनोद: मैं स्पष्टता के लिये पूछ रहा हूं। ऊपर से डालने का मेरा मतलब नहीं है कि युनेस्को का या यूनिसेफ का या इस तरह के कार्यक्रम। मैं ऊपर से डालने का मतलब यह भी मानता हूं कि हो.वि.शि.का. का

एक प्रयोग एक जिले में छोटे पैमाने पर किया गया और शिक्षा विभाग यह आदेश देता है कि रायपुर या छत्तीसगढ़ के कई जिलों में यह कार्यक्रम चालू किया जाए। जो कि उभरा हुआ है एक छोटे पैमाने के प्रयास से पर उसका जो क्रियान्वयन हो रहा है वह इस तरीके से हो रहा है। मैं इस बाद वाली प्रक्रिया को इंगित कर रहा था। मैं जो बात कर रहा हूं कि यदि छत्तीसगढ़ के जिले में यह कार्यक्रम चलना है तो वहां के लोग इस कार्यक्रम से जुड़कर इससे विचार ले रहे हैं, उसको ढाल रहे हैं उसी तरह से जैसे यहां इसको चलाने में कमियों को पूरा करते हुए किया गया। बात सिर्फ उसको दोहराने की नहीं है, उसको बदलकर और सुदृढ़ करने की भी है।

बेहार: जो आपने स्पष्टीकरण मांगा वह दे दूंगा और 3-4 स्पष्टीकरण मांगूगा। आप बिल्कुल ठीक कह रहे है। हमने थोड़ी देर पहले एक उदाहरण लिया था बुनियादी शिक्षा का। बुनियादी शिक्षा एक सफल छोटे पैमाने का प्रयोग रहा होगा लेकिन उसको यदि सरकार ने स्वीकार कर लिया और सारे हिंदुस्तान में फैलाने की कोशिश की तो ऊपर से नीचे डालने वाली बात हुई। यह फैलाव की बात नहीं हुई, मैं इसे स्वीकार करता हूं। बल्कि मैं जो आपसे स्पष्टीकरण लेना चाहता था वह यह कि हो.वि.शि.का. को यहां के लोगो ने आत्मसात किया और चलाया है। यदि धार में पांच लोग इसको शुरू कर रहे हैं तो उसमें और इसमें आप क्या अंतर देख रहे हैं।

विनोद: मैं नहीं समझता हूं कि धार में जो चल रहा है और होशंगाबाद में जो हो रहा है उसमें कोई अंतर है। पर अगर एकलव्य संस्था के बगैर शिक्षा सचिव के आदेश से यह कार्यक्रम धार जिले में शुरू किया गया होता या मालवा के 3 जिलों में किया गया होता और यह कहकर कि ये किताब है और इस आदेश क्रमांक से इस दिनांक से चलेगी और ये अपनायी जाएं तो मैं अंतर देखता। इसमें मैं एक बहुत जुड़ा हुआ पहलू देख रहा हूं कि किस तरह हो रहा है क्योंकि उसमें एक संस्था लगी हुई है और उसने एक प्रक्रिया शुरू की है।

बेहार: मैं प्रश्न फिर भी करूंगा ताकि अंतर और भी साफ हो जाए। यदि एकलव्य नहीं, तो? लेकिन यदि एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक तय करें कि इस तरह का कार्यक्रम इन 3 जिलो में होना चाहिये और वहां के शिक्षा महाविद्यालय या बी.टी.आई. यह वहां के शिक्षक लोगों से संपर्क है और वे लोग उस कार्यक्रम को आगे बढ़ाएं और वहां पर चलाएं तो आप क्या फर्क देखते हैं?

अनिल: मैं फर्क देखता हूं।

विनोद: मैं वो फर्क देखता हूं। उसके क्रियान्वयन में फर्क आएगा यह मैं देखता हूं।

बेहार: वह तो अलग है।

विनोद: मैं इसको एक उदाहरण मान सकता हूं मैं इसको एक सिद्धांत नहीं मान सकता। अगर बेहार साहब एक व्यक्ति अपनी पहल से शासन में रहकर या शासन के बगैर धार में एक पहल करके इस तरह के एक कार्यक्रम की शुरुआत करवाएं (चूंकि वे शासन में है तो उन्होंने शासन तंत्र का सहारा लेकर किया) तो मैं उसको फैलाव का सिद्धांत नहीं मानने को तैयार हूं। मैं उसको एक उदाहरण मानने को तैयार हूं कि एक व्यक्ति थे बेहार जिन्होंने उसको अपनी समझ से किया।

बेहार: एक प्रश्न से शायद और साफ हो जाए जिन प्रक्रियाओं से वहां एकलव्य ने शुरू किया या जिन प्रक्रियाओं से हम सोचेंगे, जिन तरीकों से आपकी राय में कहीं अन्यत्र वह शुरू होगा जिसको आप सही तरीका समझ रहे हैं, यदि उन्ही प्रक्रियाओं से डी.पी.आई. या शिक्षा महाविद्यालय नहीं किया तो आप क्या कहेंगे?

अनिल: एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक कितना ही बढ़िया आदमी क्यों न हो जब वह शिक्षा महाविद्यालय या पी.जी.बी.टी. देवास के माध्यम से और बी.टी.आई. के माध्यम से तिरला में शाला संकुल बनाकर काम शुरु करेगा या करवाएगा उसमें और स्वैच्छिक संस्था का एक व्यक्ति जब वहां पहुंचकर तिरला संगम केंद्र के साथ संपर्क करके काम शुरू करवा देगा चाहे उसे अनुमति उसी तंत्र से मिली है इन दोनों में मुझे लगता है बहुत बुनियादी अंतर है। और वह अंतर है उस संस्था के चरित्र का उस पाइप का जिसके माध्यम

से आपने इस काम को करवाने की कोशिश की ।

मैं आपको (बेहार की) याद दिलाना चाहूंगा कि इसका बहुत अच्छा अनुभव आपको स्वयं अनुभव हो चुका है जब आपने बालिका शिक्षा, महिला शिक्षा और आदिवासी शिक्षा की बात की थी। आपने उस संबंध में अपने विचार बहुत ताकत से प्रस्तुत किये हैं। परंतु जब उनका स्वरूप काम करने पर आया, जब बी.टी.आई. के लोगों ने काम किया, हायर सेकेंडरी स्कूल के शिक्षकों के साथ मिलकर तो उनमें कहीं भी वह झलक नहीं कि जो आपकी भावना थी। और इस बात को मैं उससे जोड़ूंगा कि डाईल्यूशन कैसे होता है। डाईल्यूशन इसलिये नहीं होता है कि भाषा समझ नहीं आती है। मैं बिल्कुल असहमत हूं इस बात से। यह डाईल्यूशन का बहुत छोटा पहलू हो सकता है। डाईल्यूशन इसलिये होता है क्योंकि उस संस्था का चरित्र एक खास ढंग का है। चाहे वह उसके वर्ग चरित्र के

कारण होता है या किया जाता है। मैं आपको पचीसो उदाहरण दे सकता हूं जहां पर जानबूझकर डाईल्यूशन किया गया। मैं आपको उन बातों के उदाहरण दे सकता हूं जहां पर अकर्मण्यता के कारण यह हुआ है, जहां पर रूचि की कमी के कारण से हुआ है, जहां पर वास्तव में इस कारण से हुआ कि उन व्यक्तियों के निहित स्वार्थों को नुकसान पहुंच रहा था जो उस कार्यक्रम के कर्णधार थे। जैसे ट्यूशन करनी चालू हो गयी तो डाईल्यूशन शुरू होगा। तो हम ऐसे अन्यान्य कारण देख सकते हैं, जो इस संस्था का चरित्र है। इसलिये जब उस तंत्र के अंतिम बिंदु पर एक नयी संस्था उनसे संपर्क करती है तो वह कुछ निपट पाती है उन समस्याओं से।

हार्डी: एक स्वैच्छिक संस्था वहां पर उपस्थित है, मैं इसका एक दूसरा विकल्प आपके सामने प्रस्तुत करता हूं। ऐसा भी हो सकता है कि आपको वहां एक दो व्यक्ति ऐसे मिल जाए जो बहुत प्रेरित है और कुछ करना चाहते हैं। मैं इस संदर्भ में भी यह जरूरी मानता हूं कि उनके साथ भी एक बाहर की स्वैच्छिक संस्था काम करेगी तभी वह संभव होगा। नहीं तो सरकारी तंत्र में जो पदक्रम या ढांचे (हायरारकी) या ढांचे हैं उसमें एक एन.एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक या शिक्षा सचिव जो प्रगतिश्ाील विचारो का हैं और स्कूल का एक शिक्षक जो कुछ -कुछ करना चाहते हैं उनमें जो संवाद का माध्यम है और वहां जो प्रत्यक्ष

में उसको अपने स्थानीय अधिकारियों से समस्या होगी उसको हल करने का कोई तरीका नहीं है।

बेहार: तीन बातें कह देना चाहता हूं मैं। पहली बात आपने देखा- मैंने मामला उठा दिया था कि यह काम करने के तरीके व खास प्रक्रिया का सवाल है या काम करने वाले व्यक्ति का। सवाल मैने यह उठाया था कि यदि वही प्रक्रियाएं, वही कदम लिये जाएं सरकारी ढांचे के द्वारा तब क्या अंतर होगा? आपने कह दिया कि तब भी अंतर होगा क्योंकि उस आदमी के चरित्र का सवाल है जो उसमें शामिल होगा । अर्थात सरकारी तंत्र और स्वैच्छिक संगठन का अंतर आपने बताया। पहली बात मैं यह कहना चाहता हूं कि आपने जो उदाहरण मेरे प्रयोगों के और उनके डाईल्यूशन के दिये उसमें वैज्ञानिक ढंग से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका कारण यही था जो आपने अभी बताया क्योंकि वहां प्रक्रियाओं का भी सवाल था पहले। वहां विचार बहुत साफ दिया गया पर बिना मार्गदर्शक नमूने के चला नहीं। अतः जब तक यह कोशिश भी न कर ली जाए कि उन्हीं प्रक्रियाओं, उन तरीकों का इस्तेमाल, जिनका इस्तेमाल एक स्वैच्छिक समूह करता है, न कर लिया जाए तब तक तंत्र के चरित्र की कमी कहना ठीक नही। तीसरी बात, एक दूसरे चक्कर में हम लोग फंस गये हैं। बार -बार शासन तंत्र के चरित्र की बात कहना और फौरन उसके साथ एक मान्यता कर देना कि उसका ऐसा चरित्र है जो हमें नहीं जमता, जो हमें नुकसान पहुंचाएगा, जो हमें पसंद नहीं है। मुझे बहुत विसंगति और असंगति इस बात में दिखती है कि आप उस तंत्र की ऐसी बातें कहते हैं लेकिन उसमें घुसने की, उसमें परिवर्तन की बातें कहते हैं। मैं यदि दूसरी तरह से कहना चाहूं तो मार्क्स का पूरा विश्लेषण बंद विश्लेषण है। जहां एक बार यह कह दिया गया कि समाज में कुछ लोगों का वर्चस्व है, उनके निहित

स्वार्थ है और भी जब तक प्रशासक और शासक वर्ग रहेंगे, तब तक किसी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करेंगे तो आपने वहां बात समाप्त कर दी और इसीलिये सीधी पहुंच जाते हैं मार्क्सवादी फ्रांस की बात पर। तो समाज का चरित्र ऐसा है, सामाजिक संरचना ऐसी है कि इस तरह कुछ नहीं करने देगा। फिर तो इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है कि आप क्रांति की बात करें। लेकिन जब आप इस बात को स्वीकार करके चलते है, और मैं समझ रहा था कि

वह एक बुनियादी मान्यता है, कि उसका चरित्र कैसा भी हो कितना भी भयावना, डरावना, कितना भी विकृति पैदा करने वाला चरित्र हो पर उस चरित्र को नियंत्रित किया जा सकता है, पालतू बनाया जा सकता है, उसमें घुसने के रास्ते बनाए जा सकता है। यह समझ समाज के संबंध में है इसीलिये हम क्रांति छोड़कर, हिंसा छोड़कर एक रास्ता अपना रहे हैं और यही मैं सरकारी तंत्र के बारे में के बारे में कहना चाहूंगा। सरकारी तंत्र के बारे में आप जो बाते करते है, उससे सौ गुने रूप में वे सही है पूरे सामाजिक तंत्र के बारे में। तो आप सामाजिक तंत्र के लिये तो वह बात कहेंगे नहीं और समाज के बारे में मानकर चलेंगे कि वहां वह गुंजाइश है और शासन तंत्र में आप मानकर चलेंगे कि गुंजाइश नहीं है। मुझे बहुत कठिनाई हो रही है इसको समझने में कि बार-बार ये जो चरित्र की बात का जिक्र हो रहा है और ये समझना कि उस चरित्र की वजह से कुछ बातें संभव नहीं है। इसीलिये बार-बार यह सवाल उठ रहा है कि उसका उपयोग और उसका शोषण करें। आप उस तंत्र का इस्तेमाल उसकी सीमाओं को समझ कर, उसकी कमियों को जानते हुए, उन सीमाओं और कमियों को ध्यान में रखते हुए कैसे उसके अंदर घुसेंगे और उन सीमाओं और कमियों का लाभ उठाएंगे। चाहे उसको आप शोषण कहे या उसको इस्तेमाल कहे अपने उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिये। यह करने की गुंजाइश है, करना संभव है, और करने की संभावना स्वीकार करने के बाद ही आगे बातचीत संभव है। यदि वहीं बात समाप्त हो जाती है तो वास्तव में सरकारी तंत्र से बात समाप्त हो जाएगी। तंत्र को चरित्र को बदलने की बात भी इसमें सम्मिलित है कि यदि तंत्र को आप इस्तेमाल करते जाएं तो वह इस्तेमाल होता रहेगा। मैंने जो मॉडल प्रस्तुत किया और जो भी दूसरे मॉडल प्रस्तुत किए गये उनमें कहीं यह बात नहीं है कि उसके चरित्र से लड़ा जा रहा हो, या उसको बदला जा रहा हो या उस तंत्र को छोड़कर एक विकल्प के रूप में अलग से काम किया जा रहा हो। यदि ऐसा हुआ तो मुझे स्वीकार है कि तंत्र का चरित्र ठीक नहीं है, और इसका इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। पानी डाला जा सकता है, तेल नहीं डाला जा सकता और उसमें निहित स्वार्थ

हैं। तो उसे स्वीकार है हम उस तंत्र को पूरी तरह छोड़ दे और एक विकल्प बनाएं।
अनिल: मैं चाहूंगा कि बेहार साहब ने जिस स्तर पर बात उठायी है बिना उसको मोड़े मुझे लगता है बहुत बुनियादी मुद्दे उठा दिये है उन्होंने, उस स्तर पर कोई बहस करने को या प्रतिक्रिया देने को देने को तैयार है तो करे।
वशिष्ठ: आपने जो तीन बातें कही उनमे मैं एक बात और जोड़ना चाहूंगा। शिक्षा से समाज परिवर्तन में एक सहायक भूमिका निभाती है। इसमें हमें समय का आयाम और लेना पड़ेगा। प्रक्रिया दोनों चल रही है, साथ चल रही है, और जब तक चलेगी यह समय का आयाम भी बहुत फर्क डालेगा। आपके फैलाव के दर्शन में लगता है कि यह आयाम थोड़ा है जबकि जो विनोद कहना चाहते हैं उनके अनुसार यह आयाम ज्यादा विकसित है और वह विकसित इसलिए है क्योंकि उन प्रक्रियाओं में अंतर क्रियाओं के लिये ज्यादा संभावनाएं मौजूद है। बाद वाली में परिवर्तन की संभावनाएं ज्यादा मौजूद होंगीं।
स्याग: एक स्वैच्छिक संस्था और एक शासन तंत्र है, क्या दोनों में एक जैसी प्रक्रियाएं चल सकती हैं, सवाल तो पहला यही है?
अनवर: जो आपने पूर्वमान्यता रखी वह कि जो सीमाएं और कमियां सरकार की है वही समाज की है और मुझे लगता है कि यहीं से शुरू होगा समझ का अंतर। मैं इससे यह नहीं कह रहा कि सरकार से हमको काम नहीं लेना चाहिये। समाज में बहुत सारे ऐसे वर्ग हैं, समूह है, तत्व हैं जिनका सरकार में कोई प्रतिनिधित्व नहीं है और इसलिये आपने जो पूर्व मान्यता दी उससे बहुत बड़ी असहमति है।
बेहार: मैं स्पष्टीकरण करना चाहूंगा। मैं समाज एक तंत्र के रूप में और सरकार एक तंत्र के रूप में की बात कर रहा हूं। जैसे समाज में आप उन तत्वों की उपस्थिति की बात करते हैं, एक तंत्र के रूप में सरकार में भी ऐसे तत्व है। समाज एक बड़ा तंत्र है जिसमें निहित स्वार्थ और व्यापक बातें हैं। उसमें कुछ तत्व है जो उदार है प्रगतिशील है। यही तत्व आपको सरकार में छोटे पैमाने में मिल जाएंगे।
अनवर: वास्तव में जिन बहुत सारे तत्वों को हम समाज के तत्व मानकर चल रहे हैं। जिनसे इतना करीब से जुड़े हैं सरकारी तत्वों से कि अगर हम समाज और सरकार को अलग-अलग करें तो जो समाज बचता है उसमें उनको नहीं रखना चाहिये। उसमें ऐसे तत्वों को रखना चाहिये जिनका

विनोद: प्रक्रिया, जिसको मेरे ख्याल में आपने दर्शन कहा था जब मैंने पहले बात की थी उसमें निहित थी। मैं फिर दो तीन चीजें दोहराऊंगा आपके उत्तर में। शिक्षा व्यापक स्तर पर फैलाना, व्यापक स्तर पर एक सामाजिक कदम नहीं होकर मेरे लिये एक राजनैतिक कदम है। जिस तरह की शिक्षा को फैलाने की बात हम कर रहे हैं आप कर रहे हैं वह एक प्रचलित राजनीति, जिसका शासन प्रतिनिधित्व करता है, उसकी अंतर्विरोधी है और जो निहित स्वार्थ आपके काम में अलग-अलग समय पर आएं हैं, अलग-अलग कार्यक्रम में , वे अवरोधों के उदाहरण है। आप ये जरूर कह सकते हैं यदि मैं ये रणनीति उस समय अपनाता तो सफल हो जाता। मैं यह मानकर चलता हूं कि यदि आप और कोई रणनीति लेकर चलते तो और कोई जिसे आप निहित स्वार्थ कहेंगे या कुछ भी पैदा हो जाता। और ये निहित स्वार्थ ही उस रणनीति के उदाहरण है, पहली बात। जो आपने संदर्भ दिया बंद व्यवस्था वगैरह का तो उसके बारे में बहुत कुछ कहना चाहूंगा। आपकी समझ जो मार्क्स की आपने बतायी मैं उसके ऊपर प्रश्न नहीं उठा रहा हूं। वैसे मैं मार्क्स का नाम न लेकर यह कहना चाहता हूं कि दो मत है, एक मत हैं कि पहली राजसत्ता या शासन को बदलो फिर शिक्षा जैसी चाहते हो, वह हो जाएगी। मैं इस मत को नहीं मानता हूं और जो मत मैं मानता हूं कि शिक्षा में इस तरह के नवाचार और इस तरह का हस्तक्षेप जिसकी हम बात करते हैं, अपने आप में कोई सामाजिक परिवर्तन या राजनैतिक परिवर्तन नहीं लाएगा, उसमें एक सहायक है। इसमें से प्रतिक्रियाएं निकलनी चाहिये या निकलेंगी जो उसमें सहायता देंगी। इन सबके मिलने से वह स्थिति आएगी जो आपके तीसरे मुद्दे में थी कि अगर वह विकल्प निकलता है कि कोई राजनैतिक बदलाव जिससे कि शासकीय तंत्र में भी चला जा सके।

और इसलिये मैं सोचता हूं कि जो मैंने बात की विकल्प की और जो आप बात कर रहे हैं चाहे उनमें बहुत सारी समानतायें हो मुझे उनमें गहरा अंतर दिखता है। जो कि काम में भी आएंगे। यह अंतर है ऐसी प्रतिक्रियाएं शुरू करना। हमें शिक्षा को फैलाना है तो मुझे इस तरह से फैलाव ज्यादा व्यावहारिक लगता है। इसकी सीमा आएगी, ये रुक जाएगा क्योंकि इसमें अवरोध बहुत होगा, पर इससे प्रतिक्रियाएं कुछ जारी

होंगी जो उन अवरोधों को दूसरे स्तर पर दूर कर सकती हैं जिसके बाद में इस तरह की शिक्षा शायद लागू की जा सके एक दूसरी सत्ता के ढांचे में। मेरा इसमें यही कहना है।

अनिल: मैं एक अध्यक्ष के रूप में मदद करना चाहूंगा। यहां पिछले 2 दिन से जितनी बात हुई है बेहार साहब की गैरहाजिरी में उसमें ऐसा मत कई लोगों ने प्रकट किया था कि जब हम शैक्षिक परिवर्तन की बात करते हैं तो हम बुनियादी तौर पर एक सहायक पृष्ठभूमि तैयार करने की बात कर रहे हैं। हम कभी भी इसको राजनैतिक परिवर्तन के या सत्ता परिवर्तन के या शोषक और शोषित के रिश्ते बदलने के परिवर्तन
को ला देने के बतौर नहीं देखते है। हम इसको केवल सहायक पृष्ठभूमि तैयार करने के आधार पर देखते हैं और जो परिवर्तन है वह राजनैतिक रूप से होगा जिसमें टकराव होगा। यह एक अनकही समझ भी थी उसके पीछे इस तरह की।

बेहार: मैंने भी आज यही बात कही थी। पर देखिए उनकी (विनोद की) बात मेरी समझ में नहीं आई। आपने कहा आप समझा रहे हैं पर मुझे ऐसा नहीं लगा कि आपने उनकी बात को समझाया।

हार्डी: मुझे मालूम नहीं विनोद मुझसे सहमत होगा या नहीं। मैं मुख्य रूप से विनोद ने जो कहा उससे सहमत हूं। मैं एक बात बहुत स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूं कि मुझे नहीं लगता कि शांतिपूर्वक ढंग से सत्ता बदल सकती है, समाज में परिवर्तन हो सकता है, जिसको हम मुख्य हिस्सा मानते हैं सामाजिक परिवर्तन का- शोषक और शोषित का रिश्ता बदलने का- यह नहीं हो सकता और इस मान्यता में हमारा जो शिक्षा में परिवर्तन का प्रयास है उसमें शायद मदद मिलेगी। जो विनोद ने कहा इससे कुछ प्रतिक्रियाएं निकलेंगी।

किट- रेक्स डी. रोजारियो

जब हम दिसंबर 1972 में आए थे तो हम छोटे-मोटे लोग थे, विद्वान नहीं थे। विज्ञान में हमको परखनलियां धोनी पड़ी और किट बांटनी पड़ी। उन दिनों में भी मैंने देखा कि जो किट हमने बांटी थी और जो स्कूलों में अक्सर दिखायी देती थी काफी अंतर था दोनों में उन्हीं दिनों। क्योंकि ये एक ऐसा ग्रुप था जो उस समय से ही सोच रहा था कि किट को ग्रामीण स्तर तक ले जाना है तो उसी समय कुछ परिवर्तन किये थे। पर वे परिवर्तन उनकी उस समय की समझ के आधार पर किये थे और जब हम आज 1983 में उस किट को देखते हैं तो एक प्रकार से यह ग्रुप की अपनी समझ के विकास का एक उदाहरण है। अब किस प्रकार का विकास हुआ है उस पर मैं थोड़ा बोलना

चाहूंगा। एक तो सबसे मुख्य बात यह है कि उन्हीं दिनों में यह स्पष्ट था कि यह प्रदर्शन किट नहीं है। यह एक क्रियात्मक किट (यानी बच्चों द्वारा स्वयं प्रयोग करने के लिए) है। यह एक बुनियादी अंतर है- प्रदर्शन और क्रियात्मक (एक्टिविटी)। अब मैं समझाउंगा कि कैसे तय करते हैं कि कितना किट देना है स्कूल में और क्या - क्या देना है । किट क्योंकि क्रिया आधारित है, इसलिये एक ऐसा ढांचा बनाया है कि यदि एक कक्षा में 40 बच्चे हैं तो उनको 4-4 की टोलियों में बांटते हैं और इसलिये 10 टोलियों के लिये किट देते हैं। दूसरा, टोली में बांटने का जो तरीका है उसके पीछे बच्चों का आपस में चर्चा करना व टीम वर्क जैसे उद्देश्य जुड़े हैं। उन दिनों में मुझे याद है कि किट के सामान की 2-3 श्रेणियां थी। श्रेणियां कई आधारों पर बांट सकते हैं। हम जब पर्यावरण आधारित किट की बात करते हैं, तो हम अति कर देते हैं। यदि भौतिकी या रसायन के प्रयोग करना है तो कुछ ऐसा सामान है जो बाहर से लाना ही पड़ेगा। कहने का अर्थ यह है कि परखनलियों व रसायनों के बिना बहुत सारे प्रयोग नहीं हो पाते हैं। यह एक श्रेणी का सामान है। दूसरी, वे चीजें हैं जो स्थानीय स्तर पर प्राप्य है। अब शुरू में जो किट दी थी उसमें बाहर से लाने वाला हिस्सा काफी अनुपात में था। पहले दिन ही शायद उसमें से एक दो चीजें खरीदनी

के बाद ही निकाल दी गयी थी। भी नहीं गयी क्योंकि प्रशिक्षण में ही समझ आ गया कि कुछ परिवर्तन करना है। उदाहरणार्थ, लोहे का स्टैंड, ब्यूरेट, पिपेट आदि। ये सब पड़ा है। पहले दिन से ही किट का परिवर्तन व विकास शुरू हो गया था जो कि हो.वि.शि.का. के बुनियादी दर्शन का अंग है। निरंतर परिवर्तन व विकास का यह दर्शन आज भी हो.वि.शि.का. की हर गतिविधि में प्रतिबिंबित होता है। यही बातें हैं जिन पर मैं जोर देना चाहता हूं। हम हमेशा कहते हैं कि यह प्रयोग आधारित विज्ञान है, पर मुझे लगता है हमें इन श्रेणियों या लेबलो से बहुत बचकर रहना चाहिये। इनका एक बहुत स्पष्ट अर्थ रहता है। यदि सवाल पूछने की पद्धति का इस्तेमाल करते हैं तो इसका भी एक खास अर्थ होता है। ये सब नाम जैसे खोज पद्धति, निर्देशित खोज पद्धति आदि बहुत प्रभावित करने वाले नाम है। आप यदि किट को देखे और अध्यायो को देखें तो पता चलेगा कि कितने अध्याय हैं जो बिना किट के किये जा सकते हैं, कितने अध्याय हैं जो आसपास से इकट्ठे किये हुए छोटे-मोटे सामान से किये जा सकते हैं। इस कार्यक्रम की पद्धति कई तरह की पद्धतियों का एक संतुलन -सा है। इसलिये मेरे दिमाग में यह स्पष्ट है कि यह हो.वि.शि.का. पद्धति है। मैंने हार्डी के साथ बैठकर जल्दी से एक गणना की है। इन चारों किताबों में कुल 60 अध्याय हैं। इनमें से 12 अध्याय ऐसे हैं जिनमें किट की जरूरत ही नहीं है, 14 अध्याय ऐसे हैं जिनमें स्थानीय स्तर पर सामान इकट्ठा करके प्रयोग कर सकते हैं और 29 अध्यायों में किट की जरूरत है। इसका मतलब है कि बाहर

का जो किट सप्लाई करना है वह मात्र 50% विषय वस्तु के लिये है और यह कोशिश चलती रहती है कि बाहर का जितना भी सामान है उसके स्थान पर भी स्थानीय स्तर पर प्राप्य सामान ढूंढ ले।

अनिल: मैं यहां कुछ जोड़ना चाहूंगा। केवल एक तिहाई अध्याय ऐसे हैं जिनमें ऐसी किट लगती है जो स्थानीय बाजारों में नहीं मिलती है।

रेक्स: कई अध्याय ऐसे हैं जिनमें बहुत ही कम मात्रा में किट आवश्यकता होती है । यदि एक लंबा-सा अध्याय है जिसमें केवल एक परखनली ही लगी है तो इसका अर्थ आप क्या समझेंगे?

अब मैं किट के मूल्य के विषय में बात करूंगा। शुरुआत में मुझे एकदम स्पष्ट याद नहीं है कि किट का मूल्य क्या था पर मुझे कुछ अंदाज है कि 1200 रु. के करीब था। यह किट तीन कक्षाओं के लिये 120 लड़कों के लिये होती थी। फिर जब जिले के लिये गणना की थी तो उस समय एक किट की प्रति स्कूल कीमत 800 रुपये थी और इसके साथ आपकी ढुलाई खर्च का 200 रूपया और जोड़ना पड़ेगा इस प्रकार 1,000 रू. कुल खर्च था। क्षतिपूर्ति की कीमत उन दिनों में लगभग सवा रुपया प्रति बच्चा प्रतिवर्ष थी। अभी जो स्थिति है अरविंद बताएंगे। खरीद के बारे में एक बात बताना चाहता हूं- शुरुआत में अधिकतर सामान बंबई और दिल्ली के बाजारों से खरीदा जाता था। पर अब लगभग सब सामान भोपाल व इंदौर से खरीदा जाता है। कुछ चीजे ऐसी है जो शिक्षक खुद खरीद के इस्तेमाल कर सकते हैं और उसके लिये ए.एफ. से खरीदने की अनुमति मिल गयी है। अधिकतम शायद 200 रू. या ए.एफ. की राशि का 15% तक इस प्रकार खर्च कर सकते हैं।

अरविंद: चूंकि यह विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम है इसलिये किट इसका एक प्रमुख अंग है। जैसा बताया गया है कि एक तिहाई अध्यायों के लिये किट जुटाना पड़ता है तो उसके लिये भी काफी प्रयास करना पड़ता है। दूसरा, जैसा रेक्स ने बताया कि यह प्रयास चलता आ रहा है कि बाहर से जो सामग्री खरीदी जाती है उसके विकल्प ढूंढे जाएं और सस्ते और स्थानीय स्रोतों से उपलब्ध विकल्पों से उनको बदला जाए। यह जो किट की आवश्यकता होती है उसको लेकर काफी इसके विरोध में बोला गया है। यह कहा गया है कि चूंकि हमारा देश गरीब है और शिक्षा विभाग में इसके लिये बजट नहीं होता है और किट खरीदना एक महंगा काम है इसलिये हम ऐसा कार्यक्रम नहीं चला सकते। एक बार क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, भोपाल में गणना की गयी थी कि यदि पूरे प्रदेश में यह कार्यक्रम चलाया जाए तो उसके लिए किट देने की कीमत कुल 19 करोड़ रू. या ऐसी कुछ होगी। लेकिन उसमें कई बातें होती हैं जो इस तरह की गणना में एकदम सामने नहीं आती हैं

जैसे, यह सारी किट एकदम नहीं खरीदनी पड़ती है और एक बार जब उसको खरीदते हैं तो धीरे-धीरे उसकी क्षतिपूर्ति भी करनी पड़ती है, वगैरह-वगैरह। और ऐसा भी नहीं है कि एकदम पैसा उपलब्ध नहीं है। यदि जुटाया जाए तो हो सकता है।

किट के आयाम को तीन मुख्य भागो में बांटा जा सकता है, एक तो 1972 से लगातार 1977 तक, जबकि किशोर भारती और रसूलिया के द्वारा किट खरीदी जाती थी, और वितरित की जाती थी। यह अधिकतर बंबई व दिल्ली में खरीदकर रसूलिया या किशोर भारती में स्कूल हिसाब से बांटकर गाड़ी में भरकर की स्कूल तक पहुंचा दी जाती थी। यहां क्षतिपूर्ति भी आसान थी क्योंकि चीजे हमेशा उपलब्ध होती थी और अनुवर्तन के द्वारा स्कूलों से संपर्क होता था तो जिस चीज की कमी होती थी तुरंत पहुंचा दी जाती थी। इसमें सुधार, परिवर्तन व सस्ती चीजें ढूंढने का प्रयास मुख्यत: उस समय के स्रोत दल ने किया और जहां तक मुझे जानकारी है उस समय जो शिक्षा कार्यक्रम में थे उन लोगों ने इसका प्रयास नहीं किया। अचानक किसी बच्चे ने कह दिया कि बबूल के कांटे से सुई का काम हो सकता है और सुई को किट से हटा दिया गया। इस तरह से भी कई विकल्प आए हैं लेकिन मुख्यत: स्रोत दल का यह काम था कि जैसे ब्यूरेट को कैसे निकाला जाए और उसकी जगह ड्रॉपर से बूंदे गिनकर रसायन के प्रयोग कैसे किए जाएं, वगैरह-वगैरह।

जब यह कार्यक्रम जिले स्तर पर फैला दो इसमें किट की समस्या में एक नया आयाम जुड़ गया। एन.सी.ई.आर.टी. ने किट का पैसा दिया। लेकिन उसको खरीदना और स्कूलों तक पहुंचाना एक बड़ी भारी समस्या थी। इसके लिये एन.सी.ई.आर.टी. ने काफी प्रयास किया। जैसे, उनके जो नियम होते है कि टेंडर बुलाना पड़ता है, इसको बदलकर उन्होंने खुले बाजार से खरीदने की अनुमति दी इतनी बड़ी धनराशि के खरीद की। ये 1978-1979 की बात है। फिर इस किट को क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, में लाया गया। वहां इसको संगम केंद्रवार बांटा गया और फिर ट्रक में भरकर इसको संगम केंद्रों पर पहुंचाया गया। संगम केंद्रो के माध्यम से इन्हें स्कूलों में बांटा गया। तो जो काम पहले स्रोत दल के लोग कर लेते थे, अब उसमें एक लंबी श्रंखला बन गयी। अब किट से जुड़ा हुआ दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है क्षतिपूर्ति का।

उस पर जाकर फिर गाड़ी रुकी। कल्पना यह थी कि हर साल क्षतिपूर्ति होती रहेगी। जो भी सामान खर्च होता है जैसे रसायन वगैरह वह तो हर साल के साल देने पड़ते हैं। फिर कुछ टूट-फूट होती है, फिर कुछ खो जाता है। ये काम करना था मध्यप्रदेश शासन को। मध्य प्रदेश शासन के द्वारा यह काम संभागीय शिक्षा अधीक्षक, होशंगाबाद के माध्यम से करने की जो कल्पना की गयी थी वह पूरी नहीं हो पायी क्योंकि शासन ने उनको यह छूट नहीं दी कि वे खुले बाजार से खरीदी कर सके। इसके कारण तब से आज तक (1983 तक) कोई क्षति पूर्ति नहीं हुई सिवाय छठी की जो 1979 में हुई थी। इसके लिये फिर अशासकीय प्रयास बहुत करना पड़ा। यह काम इतना बढ़ गया है कि यह पूरी किट खरीद के बराबर हो गया। इसका प्रस्ताव बनाना भी संभागीय शिक्षा अधीक्षक कार्यालय के बस का नहीं रह गया तो फिर किशोर भारती और एकलव्य ने मिलकर प्रस्ताव बनाया, शासन को दिया, भागदौड़ की,उसको पास करवाया, पैसा मंगवाया और डी.एस.ई. ऑफिस को वह पैसा मिला। पर वह इतनी देरी से मिला कि जब तक उन्होंने टेंडर बुलवाकर आदेश दिये खरीदी के तो समय पर समान नहीं आया और 31 मार्च हो गयी। फिर भी उन्होंने करीब 70% चीजे खरीदी और क्षतिपूर्ति के रूप में स्कूलों में पहुंचायी। दूसरी बात यह है कि पिछले वर्षों में इसकी कीमत में कोई खास वृद्धि नहीं हुई है। इसके कई कारण है। एक कारण है कि कई चीजें निकाल दी गयी है, दूसरा कारण है कि जब बड़े पैमाने पर, खरीद होती है तो वह सस्ता भी पड़ता है। तीसरी बात यह है कि जब किशोर भारती से कोई व्यक्ति खरीदने जाता है तो उस पर कीमतों का कोई बंधन नहीं होता था जो उसे अच्छी चीज लगती है वह खरीद लेता है किंतु शासकीय तंत्र में उन्हें सबसे सस्ती चीज ही खरीदनी पड़ती है चाहे फिर वह अच्छी हो या न हो। पहले किशोर भारती के लोग खरीदते थे अब सरकार खरीद रही है।

किट से संबंधित कई समस्याएं भी हैं। एक तो मैंने बताया खरीद की है। दूसरी वितरण प्रणाली की है। एक तो डी.एस.ई. ऑफिस में स्थान की दिक्कत के कारण असुविधा होती है । फिर सारे संगम केंद्रों के लोग एक साथ नहीं आते। जब संगम केंद्रों में किट पहुंच गयी तो चूंकि वहां के प्राचार्य इसे अपना कार्यक्रम नहीं मानते हैं तो इसके लिये अलग से स्थान नहीं देते। इसमें बहुत टूट-फूट

और चोरी होती है। फिर जब संगम केंद्र से शालाओं को वितरण होता है तो बहुत बड़ी समस्या आती है। एक संगम केंद्र के पास औसतन 25 शालाएं होती हैं। जब वे लिखते हैं कि आप इस तारीख को आकर ले जाइये तो कई शिक्षक उस तारीख को नहीं आते। जब किसी और दिन आते हैं तो या तो संगम केंद्र प्रभारी अपना काम छोड़कर उसे किट दें या वापस कर दे।

साधना: एक छोटी-सी बात जोड़ना चाहूंगी। संगम केंद्र पर सिर्फ वितरण और रखने की ही समस्या नहीं है। किट वितरण के पहले बहुत कुछ करना होता है। घोल बनाने है, रसायनों के नाम लिखने हैं यह सब भी एक बहुत बड़ा काम है जिसको लेकर प्रभारी बहुत निराश हो जाते हैं और कई बार बिना तैयारी किये किट बांट देते है।

अरविंद: किट लिस्ट भी चेक करनी होती है। हर एक शिक्षक अपने स्कूल की आवश्यकता लिख कर देता है। कई शिक्षकों को मालूम नहीं होता तो प्रभारी से अपेक्षा की जाती है कि नियमानुसार सबको भरे और तैयारी कर ले। तय कर ले कि किस स्कूल को कितना सामान देना है। पर न तो उनके पास इतना समय होता है और न प्रेरणा और इसलिये यह काम ठीक से नहीं होता है। फिर एक अन्य प्रकार की समस्या आती है जो स्थानीय साम्रगी से भी आती है। जैसे चीरफाड़ कर देने के लिये चूहे एकत्रित करना। एक समस्या आती है किट को रखने की। जैसा कि आप जानते हैं कि कई स्कूलों में तो भवन तक का ठिकाना नहीं है। तो किट रखने के लिये अलमारी तो बहुत दूर की बात है। वैसे माध्यमिक स्कूलों में अलमारी का प्रावधान नहीं है लेकिन इस कार्यक्रम के लिये शासन से विशेष अनुमति दिलवायी गयी थी कि स्कूल ए.एफ. से अलमारी खरीद लें।

प्लास्टिक के सामान को चूहे खा जाते हैं। जहां अलमारी है वहां भी चूहे घुस जाते है। एक बात और कि अब ये स्थानीय स्रोतों से सामग्री ढूंढने का प्रयास काफी शिक्षकों के द्वारा किया गया है। सेल होल्डर का विकल्प भी शिक्षकों ने खोज लिया है। किट का तीसरा आयाम है कि जब उज्जैन वगैरह में कार्यक्रम शुरू हुआ तो सवाल आया कि किट कौन दे? चूंकि एन.सी.ई.आर.टी. शाला संकुलो में ये कार्यक्रम चला रहा है तो अपेक्षा थी कि किट एन.सी.ई.आर.टी. ही देगी।

लेकिन अभी उसका यह हल हमने निकाला है कि अभी एकलव्य ने ये किट दे दिया है खरीद कर और इसलिये बहुत आसानी से दे दिया गया है। अब ये उम्मीद है कि एन.सी.ई.आर.टी. एकलव्य को भुगतान कर देगी।

रेक्स: एक बात ध्यान देने योग्य है कि परिवर्तन की प्रक्रिया में स्वैच्छिक संस्था की क्या भूमिका है। आप कब पैसे डालते हैं, यह सब बहुत जरूरी है। क्योंकि यदि हम सरकार के लिये इंतजार करते रहते तो उज्जैन को शायद अगले वर्ष तक किट नहीं मिलती। एक बुनियादी सिद्धांत है किट का कि एक ही वस्तु का कई प्रयोगों में इस्तेमाल

जैसे प्लास्टिक के गुटके । स्कूल से किट गायब हो जाना भी एक बड़ी प्रशासनिक समस्या है जैसे शिक्षक अलमारी घर ले गये, फुग्गे बच्चे ले गये वगैरह-वगैरह। यदि वस्तुएं गायब होती है तो शिक्षक से स्पष्टीकरण मांगा जा सकता है। इसलिये कई बार डर के मारे शिक्षक किट का इस्तेमाल ही नहीं करते।

अनवर: शायद इसीलिये बचा कर रखते हो कि अब पता नहीं कब मिलेगा।

विजय: ऐसा नहीं है। एन.सी.ई.आर.टी. की किट हमने कई स्कूलों में देखा कि इस्तेमाल नहीं होती।

खरे: किट के संबंध में संगम शालाओं से यह स्कूलों से जो भी क्षतिपूर्ति तालिका मंगाई जाती है उसे भरने का एक तरीका दिया गया है कि किट क्षतिपूर्ति कैसे निकाली जाए शायद वे समझ नहीं पा रहे हैं। इसीलिये तालिका ठीक से नहीं भरते हैं। दूसरी बात यह है कि जो समय सीमा होती है उसमें वे दे नहीं पाते हैं। संगम शाला के प्रभारी भी उन्हें चैक नहीं कर पाते। परिणाम यह होता है कि वे खुद गलत -सलत भरते है।

विवेक पारस्कर: किट के बारे में एक बहुत बड़ी समस्या उभरी है कि किट का उपयोग नहीं होता है। इसका कारण एन.सी.ई.आर.टी. की किट पर से निकाला गया कि एन.सी.ई.आर.टी. की किट में ये मान्यता थी लोगो की कि उसका उपयोग करेंगे तो कुछ टूट-फूट होगी और इसकी पूर्ति के लिये शिक्षक तैयार नहीं थे।

अभी विजय ने भी कहा कि यहां एक कारण है कि किट का उपयोग नहीं होता तो यह बिल्कुल गलत है। हमने देखा है कि किट का जो डिब्बा है वह खाली है । तो शिक्षक एक विरोधाभासी बात कह रहा है। कहीं हम अपने किट के संबंध में यही धारणा तो नहीं बना रहे कि इसीलिये शिक्षक उसका इस्तेमाल नहीं करता कि उसे टूट-फूट भरना पड़ेगी। जहां तक किट के उपयोग की बात है तो वह किट प्रयोग के लिये कितना ठीक बैठता है यह सबसे बड़ा मुद्दा है। कई बार प्रयोग के लायक नहीं होता है किट। हमने खुले बाजार में खरीदा फिर भी ऐसा हुआ चाहे वह खरीदा गलत गया हो या सप्लाई गलत हुई हो। तो क्या जब शासकीय तंत्र में खरीदा जाएगा तो ऐसा नहीं होगा कि वह आपको नमूना अलग बताएगा और सप्लाई कुछ और करेगा। इस कारण से प्रयोग नहीं हो पाते हैं।

विजय: मैं स्पष्ट कर दूं। मैंने यह नहीं कहा कि यही एक कारण है। मैंने कहा कि यह एक कारण है।

अरविंद: थोड़ा-सा बताना चाहूंगा। मैंने बहुत सरलीकरण कर दिया जब मैंने कहा कि डी.एस.ई. ऑफिस सिर्फ सस्ती चीजें खरीदता है। मैं भी उस समिति का सदस्य हूं। विवेक वाली बात पर स्टोव का उदाहरण है। इस तरह की समस्याएं आती हैं।

हार्डी: जो पूरी बात हुई उस पर मैं कुछ कहना चाहूंगा। असल में जो पूरी समस्या है उसके दो पहलू है। एक जिसे अरविंद ने बहुत जोर से प्रस्तुत किया था कि संगम केंद्र पर वास्तविक समस्या है कि किट के लिये जगह नहीं है। अगर एक प्राचार्य चाहे तो भी मदद नहीं कर सकता। डी.एस.ई. ऑफिस के साथ भी वास्तविक समस्या है और

स्कूलो के साथ भी यह वास्तविक समस्या है कि अलमारी नहीं है किट रखने की जगह नहीं है। इसके अलावा एक कारण है– वह सामाजिक कारण है जिसको स्पष्ट रुप से सुशील ने रखा।

अनिल: सबसे पहले मैं उस मुद्दे को छुउंगा जो किट के मूल्य को लेकर है। जिला स्तरीय खर्चे के आधार पर प्रदेश स्तरीय खर्चे का हमने अनुमान लगाने की कोशिश की है और हमेशा इस कार्यक्रम का विरोध करने वाले वरिष्ठ अधिकारी यह बताते रहते हैं कि इतना महंगा कार्यक्रम है। मैंने अभी प्रदेश स्तरीय खर्चे निकाले हैं। इस आधार पर कि एक जिले में 250 स्कूल है औसतन और 50 शिक्षक जिले हैं। मैंने हिसाब

लगाया है 1000 रू. किट का सही दाम है। पूरे प्रदेश में इसका खर्च सवा करोड़ रूपये का है। इसमें जोड़िये अलमारी का खर्चा– यदि आप सागौन की अलमारी नहीं बनाते, सतकटे की अलमारी बनाते है और स्थानीय स्तर पर ही बनाते हैं तो मैंने उसका 700 रू. प्रति स्कूल के हिसाब से लगाया है और उसका प्रदेशस्तरीय खर्चा 87,50,000/- रुपये का है और प्रासंगिक खर्चा मैंने 200 रू. प्रति स्कूल लगाया है। इसमें परिवहन, टूट–फूट, डैमरेज, कुली, चपरासी आदि है। उसके हिसाब से बनता है 25,00,000 रू.। कुल मिलाकर करीब ढाई करोड़ का खर्च है। इस ढाई करोड़ में से प्रथम वर्ष में 70% छठी कक्षा के लिये दूसरे साल में 20% सातवीं के लिये और तीसरे साल में 10% आठवीं के लिये। यह जो इतना बड़ा हौआ बना रखा है किट के खर्चे का यह काम न करने का सरकारी बहाना है।

कुछ अवधारणा और व्यवहारिक स्तर की समस्याएं है। एक जानकारी दे दूं। इसमें 150 अलग–अलग चीजें थी जब हमने शुरुआत की थी, आज करीब 110 है। इसके बावजूद भी बड़ी समस्या है। विकल्प ढूंढने के सवाल पर मैं चार सवाल पेश करना चाहूंगा। जो मुझे लगता है महत्वपूर्ण है:

एक तो ऐसी चीजें हैं जो तभी निकाली जा सकती है जब हमारे अध्यायों का अवधारणात्मक ढांचा बदला जाए। उदाहरण के लिये आयतन के अध्याय में लगने वाले एल्युमीनियम या लोहे के गुटके। दूसरी समस्या (चूहे वाला मामला), सबको मालूम है, सवाल यही उठता है कि क्या हटा दे चूहे वाला अध्याय। उस अध्याय को हटा दे या उसका अवधारणात्मक ढांचा बदल दे या उसको जानकारी देने वाला अध्याय बना दे। तीसरी बात, परखनली, यह एक ऐसी वस्तु है जिसका विकल्प कई शिक्षकों ने ढूंढ लिया है। इस वर्ष जब किट नहीं पहुंची तो उन्होंने एक वार्ड बोर्ड की डिब्बे में थोड़ी रेत डालकर इंजेक्शन की खाली शीशियां खड़ी कर ली और काम चला लिया। परंतु क्या यह हमारा आधार बन सकता है? यह जो स्वप्रेरणा से उसने काम कर लिया, क्या हम स्वप्रेरणा पर सारा मामला आधारित करते हैं? मुझे मालूम नहीं। चौथी बात, इसी प्रकार की है। हाथ से बने हुए या आस–पास से ले आने वाले बहुत सारे विकल्प है हमारे कार्यक्रम में। वे सब आधारित हो जाते हैं उस शिक्षक की स्वप्रेरणा और तैयारी पर। इन चारों सवालों का सीधा सामना करके हमको उनका उत्तर ढूंढना चाहिये।

इससे जुड़ा हुआ सवाल है व्यवस्था का। बच्चे चोरी करते हैं, शिक्षक शिकायत करता है कि उसे बांटने में बहुत देर लगती है वह कितनी देर बांटे, फिर वापिस रखें, उसकी सफाई और संभाल का सवाल है। इस पर बहुत सारी बातें कही गयी है जैसे कि यह शिक्षक की संस्कृति का सवाल है, ऐसे बहुत सारे स्कूल है जहां के शिक्षक ये शिकायत कभी नहीं करते। और ऐसा भी नहीं कि वे शिक्षक सारा काम स्वयं करते हैं, वे बच्चों से सारा काम करवाते है। बच्चों में मॉनिटर बना दिया, 3-4 लीडर बना दिये और बच्चे बड़ी जिम्मेदारी से, मेहनत से, खेलते-खेलते उस काम को संभाल लेते हैं। पर यह सारा सावाल संस्कृति का सवाल है। यदि हम वास्तव में इस ढंग की संस्कृति का निर्माण नहीं कर पा रहे हैं तो यह काम आगे नहीं बढ़ पाएगा।मामला बहुत गंभीर है।

किट खरीद का मामला बहुत लोगों ने बहुत कुछ बताया है। पर दिक्कत यह है कि इसके दो बिल्कुल अलग ढंग के विकल्प है जिसको हमने कभी गंभीरता से नहीं देखा। एक विकल्प वह था जो पिछले साल अगस्त में डी.पी.आई. की मीटिंग के सामने पेश किया गया था। जिसमें हमने पूरे किट को तीन हिस्सों में बांट दिया था। एक वह हिस्सा जिसको हर हालत में बाहर से खरीदना पड़ेगा। एक वह हिस्सा जो चीजें हायर सेकंडरी स्कूलों में वैसे ही खरीदी जाती है। हमको केवल उन हायर सेकंडरी स्कूलों का बजट बढ़ा देने की जरूरत है। उनको उतनी ही निविदाएं बुलानी पड़ेंगी, उनका काम नहीं बढ़ता है, उनकी केवल संभाल ज्यादा करनी पड़ेगी पर वास्तविक प्रशासनिक काम ज्यादा नहीं बढ़ेगा। तीसरा हिस्सा था स्थानीय बाजार में उपलब्ध चीजें। तो माध्यमिक स्कूलों के प्रधान पाठकों को उतना पैसा दे दिया जाए और उसकी जिम्मेदारी उन पर छोड़ दी जाये। इस प्रकार से तीन हिस्सों में बांट के हमारा बहुत कम काम बचता है। मुश्किल से 25 चीजे। मुझे लगता है यह विकल्प बहुत सही है। हमको इसे इस वर्ष ही लागू करवाना चाहिये। अगर ये पसंद नहीं है और संभव नहीं है किसी कारण से तो फिर एक और विकल्प है। वह है समांतर व्यवस्था खड़ी करना। जितना झंझट हम करते है सरकारी व्यवस्था से बजट पास करवाने से किट खरीदवाने तक उसकी जगह पर क्या ज्यादा सरल नहीं होगा कि समान्तर व्यवस्था खड़ी कर ली जाए। मैं जानता हूं उसके पीछे कुछ सैद्धांतिक कारण है

(one line missing)

साधना: किट में अलग-अलग शिक्षकों ने क्या सुधार दिये हैं और उनमें से कितने सुधार एक बड़े स्तर पर लागू किये जा सकते है? दूसरी बात कि किट में कितनी चीजों के विकल्प है या कितनी चीजें बिल्कुल हटायी जा सकती हैं, उस सबका कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं है। सुझाव यह है, जो पहले भी कई बार आ चुका है, कि तीन-चार शिक्षक जो किट में बहुत रुचि लेते है,उनकी एक कमेटी बनाई जाये । वह इस काम को करे व उनके साथ कोई एक व्यक्ति और भी हो जो जिला स्तर पर आज तक जो भी अनुभव हुए हैं उनको इकट्ठा करें। उसके आधार पर एक नयी किट सूची बनायी जाए। उसमें शायद यह भी तय होगा कि क्या चीजें होशंगाबाद स्तर पर बनायी जा सकती है, क्या चीजें बिल्कुल हटायी जा सकती है, क्या चीजें स्थानीय स्तर पर प्राप्त की जा सकती है और क्या चीजें कुछ प्रेरित शिक्षकों ने जरूर खोज ली है पर जिन्हें हटाया नहीं जा सकता।

तीसरी बात है कि वितरण का जो तरीका है मेरा हमेशा यह एहसास रहा है कि यह बहुत जटिल है। हर एक स्कूल की, सेक्शन के आधार पर, दर संख्या के आधार पर एक बहुत विस्तृत गणना करनी पड़ती है (मैं यह मानकर चल रही हूं कि हम प्रसार के संदर्भ में बात कर रहे हैं) उसमें बहुत समय और बहुत शक्ति जाती है। उसका कोई आसान तरीका ढूंढना चाहिये।

चौथी बात है कि हम किट को लेकर शिक्षकों से कभी कोई बात नहीं किये हैं, मतलब यह कि पूरी किट क्या है, इसके पीछे क्या दर्शन है, इस किट में कैसे चीजें जुड़ती रहती हैं, कैसे हटायी जाती रहती है। होता यह है कि जहां प्रशिक्षण हुआ, वहां उन्होंने किट का इस्तेमाल किया, फिर किट उनके स्कूल में पहुंच गयी, अब वे उसका इस्तेमाल करें। पर हम सब लोग किट के विषय में इतनी बातें करते रहते है। जैसे हम लिख देते हैं कि सूक्ष्मदर्शी 1/10 प्रति टोली, यानी प्रति 10 डोली के पीछे एक होगा। इसका क्या मतलब है, हमने क्यों ऐसे रखा है, यदि 10 टोलियों के बीच में एक सूक्ष्मदर्शी होगा तो उसका इस्तेमाल कैसे होगा, इस सब को लेकर शिक्षकों, कार्यकारी दल के लोगों या स्रोत दल के नये लोगों से कभी कोई बात नहीं होती। मुझे मालूम है कि अलग-अलग से बात होती रहती है पर कभी व्यवस्थित रुप में नहीं।

किट क्या है? करके एक पर्चा भी लिखा गया उसको लेकर भी शिक्षकों ने कितना समझा, क्या समझा, किट कैसे विकसित की गयी आज तक, किट के पीछे सिद्धांत क्या है, मुझे लगा नहीं कि इस संबंध में व्यवस्थित रुप से शिक्षकों से कभी बात हुई है। मुझे लगता है कि किसी भी प्रशिक्षण में एक या दो कालखंड इस तरह की रखे जाएं तो मदद मिलेगी।

प्रशिक्षण– साधना सक्सेना

मैं एक बार फिर याद दिलाना चाहती हूं कि जब हम बात कर रहे हैं तो इस संदर्भ में कि पहले क्या समस्याएं आयी और कितनी बढ़ सकती है या घट सकती हैं जब हम प्रसार के संदर्भ में सोचते हैं तब। मैं सोच रही हूं प्रशिक्षण में हम करते क्या हैं बहुत विस्तार में न बताऊं। हमने जितने भी शिक्षकों का प्रशिक्षण किया है वह 9 हफ्ते का होता है 3 वर्षों में और इन 9 हफ्तों में ये जो चार बाल वैज्ञानिक है इनके सारे अध्याय करवाने का प्रयास होता है और हर प्रयोग, हर प्रयोग पर चर्चा(यह आदर्श है) और यदि प्रयोग नहीं तो जो मुख्य अवधारणाएं है उन पर चर्चा। इसके साथ–साथ हम यह मान कर चलते हैं(जो सही भी है) कि इनमें से कुछ ही शिक्षक हैं जो विज्ञान के हैं या रहे हैं। बाकी शिक्षक आर्ट के हैं और जिन्होंने विज्ञान भी पढ़ा है उन्होंने शायद कभी प्रयोग नहीं किये हैं। हम केवल प्रयोग करवाना व प्रयोगों पर चर्चा की संस्कृति विकसित करने जैसी बातें नहीं करते हैं, हम इसके अलावा वैज्ञानिक पद्धति की हमारी जो भी समझ है वह शिक्षकों में विकसित करने की कोशिश करते है। यह सब करते हैं हम 9 हफ्ते के प्रशिक्षण में। यदि समग्र रूप में देखा जाए तो यह प्रशिक्षण शिक्षक प्रशिक्षण का केवल एक हिस्सा है। आदर्श में मान्यता यह है कि अनुवर्तन ,जो स्कूलों में होगा उसमें बहुत सी समस्याएं हल की जाएंगी, बहुत सारी बातें उठायी जाएंगी और अनुवर्तन गोष्ठियों में शिक्षक प्रशिक्षण के समय जो हिस्से छूट गये हैं उन पर काम किया जाएगा, वगैरह –वगैरह। इसके अलावा हमारी चारों किताबों का एक बड़ा हिस्सा परिभ्रमणो का है और उसमें भी बात वही है कि हम शिक्षकों को परिभ्रमण वैसे ही करवाएं जैसे हम चाहते हैं कि वे शाला में बच्चों को करवाये। यह सब जैसे भी 9 हफ्ते

की ट्रेनिंग में पूरा करते हैं। अब मैं बात करूंगी समस्याओ की और यह बात है आज तक के अनुभव के आधार पर क्योंकि सोचने की जरूरत है कि यदि एक जिले के स्तर पर काम करने में ये समस्याएं है तो आगे जब प्रसार करेंगे तो क्या होगा? मेरे ख्याल में समस्याएं कुछ तो व्यवहारिक है और कुछ ज्यादा गहरी है। हर मुद्दा जिस पर हम चर्चा करते हैं चाहे वह किट के संबंध में हो, चाहे पुरानी मान्यताओं के संबंध में हो यह उभरता है कि वह शिक्षक की अपनी संस्कृति, अपने दृष्टिकोण, अपनी पृष्ठभूमि से जुड़ा हुआ है। व्यवहारिक समस्या है कि जब 16 स्कूलों में

कार्यक्रम चलता था तब जो स्रोत दल शिक्षकों को प्रशिक्षित करता था उसमें अधिकतर लोग ऐसे थे जो खुद वैज्ञानिक है, जिनकी वैज्ञानिक पद्धति की गहरी ट्रेनिंग है। इसलिये कम–से–कम प्रशिक्षण का स्तर काफी ऊंचा होता था। शिक्षकों का दल उसको कितना पकड़ पाता था, पचा पाता था यह पता नही। यह समस्या बहुत बड़ी हुई जब पता चला कि हम 220 स्कूलों में काम करने वाले हैं और 300- 300 शिक्षकों को प्रशिक्षण देने वाले है। इस तरीके का स्रोत दल बहुत सीमित था। पहले जब 40 शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के लिए 4-5 लोग ही एकत्रित हो जाते थे तो एक वातावरण बनता था जिसमें कभी प्रयोग हो रहे हैं, कभी चर्चा हो रही है। परंतु प्रसार के बाद औपचारिक कालखंडों के बाद वह वातावरण बनाये रखना बड़ा मुश्किल था क्योंकि प्रति कक्षा मुश्किल से पुराना स्रोत दल का एक सदस्य हो पाता था। यह स्थिति धीरे–धीरे बहुत गंभीर होती गयी, क्योंकि प्रशिक्षण धीरे–धीरे अंतहीन होते गये। जब यह समस्या 1978 के पहले शिविर के बाद ही उभरने लगी तो हमने शिक्षकों के दल से और अनुवर्तको के दल से ऐसे लोगों को छांटना शुरु किया जो हमें लगता था कि तेज है, और जिन्होंने विज्ञान शिक्षण की भावना को इतना पकड़ लिया है कि अब वे शिक्षकों को प्रशिक्षण दे सकते है। फिर एक परंपरा चालू हुई कार्यकारी दल और शिक्षकों में से खोजे गये लोगों की अलग से प्रशिक्षण की जिसको स्रोत दल प्रशिक्षण का नाम दिया गया। ये लोग फिर कक्षाओं में जाकर प्रशिक्षण देने लगे। कोशिश होती थी कि इस टीम के साथ भी एक पुराना व्यक्ति हो पर

वह हमेशा संभव नहीं हो पाता था। यह एक सकारात्मक कदम था परंतु इसकी भी अपनी सीमाएं थी जो आज बहुत साफ दिखती है। प्रशिक्षण का काम मात्र इतना नहीं है कि कक्षा में जाकर आप किताब के क्रमानुसार प्रयोग करवा दें। इसलिये स्रोत दल का प्रशिक्षण के समय यह प्रयास होता था कि स्रोत दल के सदस्य पूरे अध्याय को समग्रता में देखें और उसके आधार पर कुछ नियोजन करें व कक्षा में काम उसके अनुसार करें। यह महत्वपूर्ण नहीं है कि एक प्रयोग छूट गया। मुख्य बात यह है कि उस अध्याय का मुख्य उद्देश्य शिक्षकों को पहुंचा, मुख्य प्रयोग और उसके आधार पर चर्चा करवा पाये या नहीं। यह हो नही पाया। जो यह नया स्रोत दल बना इसमें एक झुकाव होता था कि हम प्रयोग खत्म करवा दें। प्रयोगो पर भी चर्चा हो पाए यह इतनी मुख्य बात नहीं थी। मुझे हमेशा लगा कि विज्ञान शिक्षण की जो भावना है वह इससे गड़बड़ाती है। यह व्यवहारिक समस्या नहीं हैं, दार्शनिक समस्या ज्यादा है, जैसे सुशील ने कहा।

दूसरी जो इस स्रोत दल की दिक्कत आयी, वह थी कक्षा में चर्चा का माहौल बनवा पाना। मतलब एक वास्तविक चर्चा जिसमें लोगों की रुचि हो रही है, लोग सवाल पूछ रहे है, लोग अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं। कई बार क्योंकि चर्चा करवाना अपने आप में एक उद्देश्य है इसलिये एक बनावटी चर्चा होती है, जिसका कोई खास मतलब नहीं होता है। इस सीमा के कारण बहुत हो सकते हैं। हम कई बार सोचते हैं कि इसके कारण क्या है– यह ऐसे विचारों से

संपर्क की कमी है या विषय वस्तु के ज्ञान की कमी है या यह बहुत गहरा सांस्कृतिक अवरोध है। शायद इन सब का मिश्रण है। इसमें एक और पहलू सामने आया है। जब पहले प्रश्न पूछने की पद्धति शुरू हुई तो प्रशिक्षण में तरह-तरह के सवाल शिक्षक भी पूछते थे जैसे कि कक्षा में बच्चों के साथ भी होता है। ऐसे में मैंने नये स्रोत दल का यह रवैया देखा कि जैसे यह उनका दायित्व कि वे हर प्रश्न का उत्तर दें। जबकि यह जरूरी नहीं कि वे हर प्रश्न का उत्तर दें- कैसे प्रश्नों के उत्तर देना या उभरना, कैसे अन्य स्रोतों से जानकारी प्राप्त करने

के लिए उत्साहित करना है, यह जो गहरे पहलू होते थे ये उभरकर नहीं आते थे। इसलिए बहुत जल्दी है वे इसमें फंस जाते थे कि जितने भी प्रश्न पूछे जा रहे हैं उनका जल्दी-जल्दी जवाब दे और उधर नहीं बनते थे तो बहुत निराशा हो जाती थी। एक बात और आई थी जो सामाजिक ऊंच-नीच के भाव से जुड़ी हुई थी। कई बार अच्छे सहायक शिक्षकों ने जो कम से कम प्रयोग बहुत बढ़िया ढंग से करवा सकते हैं, अपने ही साथियों को प्रशिक्षण देने की कोशिश की और यदि प्रशिक्षणार्थी शिक्षक थे तो प्रशिक्षार्थियों की बहुत प्रतिक्रिया हुई। इसलिए यह बहुत जरूरी होता था कि उनके साथ कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसको बाकी लोग एक सीनियर व्यक्ति के रूप में पहचानते हो। यह तो सीमाएं रही लोग कम होने के कारण।

इसके बाद प्रशिक्षण की अपनी क्या दिक्कत थी रही समय के कारण। मेरे ख्याल में हम सभी का अनुभव है कि जिस तरह से हम प्रशिक्षण देना चाहते हैं वह 9 हफ्ते में पूरा नहीं हो पाता है । इसका असर यह होता है कि कई बार कई अध्याय छूट जाते हैं, कई बार बहुत ही भ्रमित अवस्था में चर्चाएं छूट जाती हैं। उनको आगे बढ़ाने का मौका भी नहीं मिलता है। इस अधूरे प्रशिक्षण के बाद जब शिक्षक स्कूलों में जाते हैं तो क्या करते होंगे यह सोचा जा सकता है। कभी-कभी तो शालाओं में कुछ का कुछ पढ़ाया जाता है। शिक्षकों की मेहनत बहुत दिखती है पर चूंकि खुद बिल्कुल नहीं समझ है इसलिए बिल्कुल कबाड़ा हो रहा है कक्षा में। यह दिक्कत आती है खासतौर पर अवधारणात्मक अध्यायो में। जिनमें प्रयोग बहुत ज्यादा है, पर बहुत गहरे स्तर का अमूर्त चिंतन उनमें इतनी दिक्कत नहीं आती पर जिनमें ऐसा है जैसे, घट -बढ़ और सन्निकटन, संयोग और संभाविता, ग्राफ इत्यादि इनमें बहुत कबाड़ा मैंने देखा है और उसमें एकदम यह नहीं कहा जा सकता कि शिक्षक लापरवाही कर रहे हैं।

प्रशिक्षण इतना अधूरा है कि जब वे खुद नहीं समझ पाए हैं, आत्मसात नहीं कर पाए हैं तो बच्चों को क्या पढ़ाएंगे? इस इतनी गहरी कमी को कैसे पूरा किया जाए?

ट्रांसफरो के कारण प्रशिक्षित शिक्षकों की समस्या लगातार बनी रही। इसलिये क्रेश कोर्सो (और भी छोटी अवधि के प्रशिक्षण) की एक परंपरा विकसित हुई। इसमें यही तय कर पाना बहुत मुश्किल होता है कि जिस शिक्षक का छठवीं प्रशिक्षण हो गया है वह आठवीं तक पहुंच पाया या नहीं? क्रेश कोर्स की अपनी दिक्कत है जो काम हम 3 सालों मैं, 9 हफ्ते में पूरा नहीं कर पाते उसे एक साल में 3 हफ्तों में करने की कोशिश करने का क्या मतलब है? फिर है जो अवधारणा और चीजें सीखते हैं उसका कोई अभ्यास प्रशिक्षण के दौरान नहीं हो पाता है। यह शिक्षकों ने कई बार कहा है कि उस समय हमको लगता है कि हम सीख गये, समझ गये, पर चूंकि अभ्यास नहीं हो पाता है तो जब हम खुद उसको करने लगते हैं तब बहुत दिक्कत आती है। फिर खुद हमारे पास रास्ता नहीं होता कि क्या करें, जो हमारी समझ होती है, उसी पर आगे बढ़ जाते हैं। इन सबके संदर्भ में क्या लगता है कि उन्मुखीकरण प्रशिक्षण की जरूरत है? क्या नयी व अतिरिक्त जानकारी देने के संबंध में कोर्स होने चाहिये?

इसके अलावा एक और बात है आर्थिक व्यवस्था की। हरेक प्रशिक्षण में किशोर भारती या एकलव्य की तरफ से काफी पैसा खर्च होता है। यह केवल दिल्ली या बंबई से आने वाले स्रोत दल पर होता है ऐसा नहीं है। स्रोत दल के शिक्षको की रहने की व्यवस्था, प्रशिक्षण के लिये किट खरीदी, आदि पर भी अतिरिक्त खर्च होता है। 4 जिलो से 20 जिले और 20 से 42 जब होंगे तो इस पर क्या करना होगा? यह असल में उस बड़े सवाल से जुड़ा हुआ है कि स्वैच्छिक प्रयास किस हद तक और कितना?

अनिल: इसमें जो समस्याएं उभारी गयी है, उनको अवधारणा के स्तर पर देखने की कोशिश करता हूं। कल विनोद ने एक कथन दिया था कि शिक्षा में परिवर्तन लाना हम एक राजनैतिक कदम के रूप में देखते है। इस संदर्भ में इसको मैं एक सांस्कृतिक परिवर्तन की दृष्टि से देखता हूं और उससे जो राजनैतिक परिवर्तन की संभावनाएं उजागर होती है उन्हे देखता हूं। हम सब इसको एक सहायक पृष्ठभूमि बनाने के संदर्भ में देख चुके है। प्रशिक्षण में जो हमको समस्याएं

आ रही है मैं उनको इस पूरी बात से जोड़ता हूं। इसके दो पहलू हो जाते है – मैं एक को नाम दूंगा प्रजातांत्रिक पहलू और दूसरे को नाम दूंगा वैज्ञानिक पहलू। वास्तव में हमारा जो सारा कार्यक्रम है इसमें एक बहुत बड़ा सवाल प्रजातांत्रिक सवाल बन जाता है। जब हम इसमें यह बात लागू करते है कि कक्षा में शिक्षक और बच्चे मिलकर चर्चा करे और चर्चा के माध्यम से सीखे, शिक्षक भी सीखे। तो आप पूरी हमारी समाज की बुनियाद को चुनौती देने लग जाते है। वह बुनियाद है कि आप एक गैर बराबरी के समाज में विश्वास रख रहे है यह एक पदांकित समाज है और इसमें आप यह कह रहे है कि छोटा– सा बच्चा और ये शिक्षक दोनों बराबर है। ये वास्तव में एक सांस्कृतिक सवाल बन जाता है, यह है प्रजातांत्रिक पहलू। इसको आप भाषण देकर, नियम बनाकर, प्रदर्शन करके जरूर सजीव बना देते हैं, एक चुनौती के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं इसीलिये इसे 10-20% मास्टर स्वीकार भी कर लेते है। पर अधिकांश मास्टर जो उस समाज से निकले हैं जहां ये नियम, ये सिद्धांत ही नहीं है वे बार–बार इसको एक तरफ भाषण की तरफ ले जाते हैं। तो बुनियादी रुप से यह सांस्कृतिक सवाल लगता है। इसी प्रकार से हम इतनी देर से यह लड़ाई लड़ रहे हैं अनुवर्तन को सही आधार देने को कि अनुवर्तनकरर्ता कोई निरीक्षक नहीं है। जब समझा नहीं पाए तो हमने नये तरीके निकाले उसको सिखाने के । हमने जो गलत ढंग से अनुवर्तन हुए थे उनकी रिपोर्ट पेश की, उनका तार्किक स्तर पर विश्लेषण करवाया। जब उससे भी अंतर नहीं आया व निरीक्षक और निरीक्षित का रिश्ता बना रहा तो फिर हमने स्याग साहब की मदद ली। उनसे मेरी लंबी बहस हुई जब उन्होंने माइक्रो टीचिंग के आधार पर, उसके उप पहलू करके, उस पर विशेष प्रशिक्षण देने की कोशिश की जिससे अनुवर्तन के रिश्ते बदलेंगे। मैंने उस समय भी सवाल पूछा था कि क्या माइक्रो टीचिंग से सांस्कृतिक परिवर्तन हो जाएंगे? अब और भी हम बता देंगे, और भी सफाई कर देंगे, उसका तार्किक विश्लेषण कर देंगे हर पहलू का अनुवर्तन के। पर उससे सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं आता है। क्योंकि वह व्यक्ति जो वास्तव में इन प्रजातांत्रिक मूल्यों में विश्वास करता है उसको कोई माइक्रो टीचिंग का मॉडल बनाने की जरूरत नहीं पड़ती, हमें कोई तार्किक विश्लेषण की जरूरत नहीं पड़ती, हम लोग जाते हैं

और अनुवर्तन करके आते हैं। अरविंद ने एक बढ़िया सवाल पूछा था कि क्या सन 1972 में जो लोग अनुवर्तन करने जाते थे उनको कोई प्रशिक्षण दिया जाता था? मैंने बताया नहीं बल्कि सन 1978 में अनुवर्तन का प्रशिक्षण ही उस संस्कृति के आधार पर विकसित हुआ था जो उन लोगों ने सन 1972 में स्वाभाविक रूप से तैयार कर दी थी। मुझे वास्तव में बुनियाद से लगता है कि क्या इन चीजों का प्रशिक्षण दिया जा सकता है? ये हुआ प्रजातांत्रिक पहलू। फिर आता है वैज्ञानिक पहलू। सब जानते हैं जैसे, घट-बढ़ का विचार या संयोग और संभाविता में सांख्यिकी का विचार ये हमारे जीवन की संस्कृतिक बुनियाद को चुनौती देने लग जाते हैं। यह मान लेना कि हमारे काम गलतियां होती है गलतियों से भी सीखा जा सकता है और सीखने के तरीके वैज्ञानिक है। या इस बात पर चले जाना कि हम किसी बात पर बिना सही नमूने के विश्वास नहीं कर लेंगे। ये सब बहुत बुनियादी चीजे है। जब संयोग और संभाविता का अध्याय या घट-बढ़ का अध्याय हमारा शिक्षक नहीं पढ़ा पाता है, उसकी अवधारणाओं को आगे नहीं बढ़ा पाता है तो मुझे लगता है कि वह वास्तव में अपनी सांस्कृतिक बुनियाद से अलग नहीं हो पा रहा है। इसलिये अंत में जो मैं सवाल उठाऊंगा कि प्रशिक्षण में दो ढंग के प्रशिक्षण देने वाले थे हमारे पास हमेशा, एक तो वे जिनको मैं कहूंगा प्रैक्टिसिंग साइंटिस्ट और एक वे जो इंस्ट्रक्टेड साइंटिस्ट है। तो इन लोगों ने जिन्होंने इस कार्यक्रम की सांस्कृतिक बुनियाद दी वे प्रैक्टिसिंग साइंटिस्ट थे और जिन लोगों को अब हम शिक्षक प्रशिक्षण के माध्यम से प्रशिक्षित कर रहे हैं वे इंस्ट्रक्टेड साइंटिस्ट है। इंस्ट्रक्टेड साइंटिस्ट सही ढंग के प्रशिक्षक की भूमिका अदा कर पाएगा?

हार्डी: ये जो बुनियादी सवाल अनिल ने उठाया तो इसमें मेरी सहमति है कि यह सवाल सचमुच बुनियादी है। मैं उसको जोड़ना चाहता हूं जो साधना ने कहा था। उसमें जो मुख्य मुद्दा था उसने कहा था प्रशिक्षण का समय कम है और प्रशिक्षण अगर लंबा हो तो हम इससे ज्यादा कुछ कर सकते हैं। मुझे इसमें दो चीजें दिखती हैं -ये प्रक्रिया स्रोत दल द्वारा न करवा पाना और शिक्षकों द्वारा न करवा पाने में। एक है अवधारणात्मक और तकनीकी विज्ञान से और दूसरा है दृष्टिकोण संबंधी। जो उद्देश्य मुझे समझ आया वह यह है कि

अवधारणात्मक व तकनीकी जानकारी दी जाए और साथ में दृष्टिकोण संबंधी जानकारी भी प्रदर्शन के द्वारा दी जाए। पर ये दोनों ही कम है। प्रशिक्षण 9 हफ्ते से कम का होता है और अगर शिक्षक के पास यह आत्मविश्वास नहीं है कि वह सवालों को संभाल सकता है खुले रुप से, तो वह प्रजातांत्रिक चर्चा नहीं करवा सकता, पहली बात है। इसलिये

तकनीकी जानकारी बहुत जरूरी है। दूसरा पहलू है कि यदि यह सवाल वास्तव में दृष्टिकोण का है तो हम इस प्रशिक्षण से उसके सामने एक चुनौती प्रस्तुत करते हैं, उसके सामने एक सवाल प्रस्तुत होता है कि क्या इस तरीके की चर्चा में और पुराने धारा प्रवाह भाषण के तरीके में कुछ अंतर दिखा? मुझे लगता है कि यह एक बड़ी चुनौती है उसके सामने कि सही मूल्य क्या है?

अनीता: जो साधना ने कहा कि प्रशिक्षण में समय की कमी है या उन्मुखीकरण कोर्स सरीखी चीज पर ध्यान देना चाहिये। मुझे हमेशा लगा है कि पहले प्रशिक्षण में हमें हमेशा अध्ययो पर ध्यान देना पड़ता है, कोर्स पूरा करना पड़ता है। उसी के दौरान जितना हम कर सकते हैं उतनी चर्चा करवाने की कोशिश करते हैं लेकिन फिर भी दिमाग में यह रहता है कि ये अध्याय खत्म करवाने हैं। तो जहां तक सवाल है इसको पूर्ण करने का वह शिक्षक निर्देशिका में या अनुवर्तन के दौरान करने की कोशिश करते है। किंतु अनुवर्तन के दौरान भी व्यापक रूप में ये प्रश्न उत्तर कर पाते हैं या नहीं यह मालूम नहीं है। पुस्तक में जहां हमने लिखा है ' गुरु से चर्चा करो' यहां हमने बहुत जिम्मेदारी गुरुजी पर छोड़ रखी है और यह उनके आत्मविश्वास उनकी समझ पर आधारित है। अब क्या यह जिम्मेदारी शिक्षक निर्देशिका के माध्यम से पूरी करवा सकते हैं हम उनसे? मुझे नहीं लगता क्योंकि वहां कितने स्तरों पर हम बताएं, कितना पूरा कर पाएंगे हमेशा दिक्कत रहती है। इसलिये उन्मुखीकरण प्रशिक्षण मुझे लगता है जरूरी है। पर जिस तरीके का प्रशिक्षण दिया जाता है बिल्कुल उससे हटकर। अनुवर्तन के दौरान हम जानकारी ले पाएं कि कहां दिक्कतें आती है और फिर अगले साल उन दिक्कतों को हम अपने परिप्रेक्ष्य से व्यवस्थित करके एक प्रशिक्षण देने की कोशिश करें।

अनिल : तुम्हारा मतलब क्या अतिरिक्त जानकारी देने से है?

अनीता: हां, वही और अध्याय में जो सामग्री है उसको अलग परिप्रेक्ष से सिखाने के लिये।

विजय: अनिल ने जो सवाल उठाया वह महत्वपूर्ण है पर इससे पहले कि हम अपनी प्रतिक्रिया दें मैं आपके सामने दो अपने अवलोकन रखना चाहता हूं। एक तो जब हमें मौका मिला है अन्य कार्यक्रम के कार्यकर्ताओं से बात करने का जैसे कुछ बाहर जो कम हो रहा है उसमें काम कर रहे हैं तो उनको हमेशा जब –जब हमने बताने की कोशिश की है कि इस कार्यक्रम में हम ने क्या–क्या करने की कोशिश की है तो वे हमेशा इस बात से प्रभावित हुई है कि हमने शिक्षक प्रशिक्षण पर कितनी शक्ति व समझ लगाया है। मेरे ख्याल में, मेरी जानकारी में कोई और ऐसा कार्यक्रम नहीं है (केवल इसी देश में नहीं, बाहर के देशों में भी) जिसमें की इस सघनता से, इतने प्रयास से, शिक्षकों से संवाद करने की कोशिश भी की गयी है और फिर भी हम पाते हैं कि ये जो दृष्टिकोण हम शिक्षकों में विकसित करना चाहते हैं वह क्यों नहीं हो पाया? नफील्ड कार्यक्रम जब उन्होंने चलाया तो कभी भी ऐसे शिक्षक

प्रशिक्षण करने की उन्होंने कोशिश नहीं की। उनके पास इतनी शक्ति कभी नहीं थी। मगर एक बहुत भारी फर्क है। फर्क यह है कि उनके शिक्षक का विषय वस्तु का जो स्तर था वह पहले से ही अच्छा था। इंग्लैंड का समाज भी ऐसे ही हमारे समाज की तरह कई स्तरों में बंटा हुआ है, वहां भी ऐसे ही वर्गों में अंतर है तो जब तुम (अनिल) सवाल उठाते हो कि ये वैज्ञानिक या प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण कक्षा में क्यों नहीं विकसित होता तो मेरा कहना यह है और जो अनीता कह रही है उससे मैं सहमत हूं कि यह नहीं होने का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि उनको अपनी क्षमता पर आत्मविश्वास नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि अगर आप अच्छा प्रशिक्षण दे दें, केवल अध्यायो का नहीं बल्कि जैसे प्रशिक्षण की अनीता बात कर रही है, तो हमारे सभी शिक्षक प्रजातांत्रिक हो जाएंगे। मैं यह कह रहा हूं कि ये एक आवश्यक परिस्थिति है परंतु यथेष्ट नहीं है। इसलिये जैसे प्रशिक्षण की बात अनीता ने की उससे

हम सामाजिक पृष्ठभूमि के बावजूद भी, अपने शिक्षकों को बहुत ज्यादा प्रजातांत्रिक बनाने की बात कर सकते हैं। पर उनको जो अपने पर विश्वास है कि जो प्रश्न उठ रहे हैं उन्हें या तो वे खुद उनको संभाल सकते है या और स्रोत है (जैसे कि केंद्रों में लाइब्रेरी अगर है या कोई स्रोत व्यक्ति उपलब्ध है) जिनके माध्यम से इन प्रश्नों को अच्छी तरह समझ सकते हैं तो फिर वे ज्यादा प्रजातांत्रिक होंगे। उसके तो अभी यह हाल है कि बार-बार अगर बच्चों के सामने बेवकूफ बनते जा रहे हैं, तो कैसे प्रजातांत्रिक बने? डिटेक्टर की पद्धति अपनानी ही पड़ेगी। जैसे अनिल ने उदाहरण दिया कि शुरू -शुरू में जो लोग आए उनका अनुवर्तन में कोई प्रशिक्षण नहीं हुआ था पर वे एक दृष्टिकोण दे पाए जिसको आज आप दे रहे हैं। तो क्यों कर पाए वे? इसलिये क्योंकि उनमें यह आत्मविश्वास था कि या तो बच्चे जो प्रश्न उठाएंगे उनके वे जवाब दे पाएंगे या कम से कम यह बता पाएंगे कि उन प्रश्नों का उत्तर ढूंढने के लिये कौन -से कदम उठाने पड़ेंगे।

विनोद: जो बात मैं कह रहा हूं वह पिछले एक साल से बहुत ही वैचारिक स्तर पर सोच रहा हूं। मुझे इसको ठीक से कहना भी शायद नहीं आएगा इसलिये मैं चाहूंगा कि और लोग इस आयाम को कैसे देखते हैं वे जोड़ दे। इसमें कोई शक नहीं है कि एक खुली चर्चा वाली व्यवस्था में जब तक शिक्षक के पास ज्ञान का आत्मविश्वास न हो तब तक वह सम्भाल नहीं पाएगा। हम प्रशिक्षण 9 हफ्ते का देते हैं और इससे ज्यादा नहीं हो सकता। यह भी एक सीमा है। पर कुछ चीजे जो सोचने में आई है वे है- ये जो सांस्कृतिक बात हम करते है इसका बारीकी से मतलब क्या है? मैं देखता हूं कि जब हम कोई बात करते है तो हमारे तर्क को व्यस्थित करने के कुछ तरीके है जिसको मैं व्यवस्थित करने के सिद्धांत कहता हूं। हमारे दिमाग में कुछ ऐसे सिद्धांत है। प्रशिक्षण मैं हम दो पहलू ले सकते हैं। एक कि जो शिक्षक प्रशिक्षण ले रहे हैं उनमें विश्लेषण के ये तरीके नहीं है हमें उनको उभारना है और दूसरा विचार हो

सकता है कि उनके जो तरीके हैं वे बिल्कुल गलत है उनको हटाना है। ये दो अतिवादी विचार है। मुझे लगता है शायद एक तीसरा हो सकता है जिसे हम सांस्कृतिक पहलू कह

रहे हैं उसका क्या यह मतलब नहीं हो सकता कि लोगों के एक विशेष सांस्कृतिक परिवेश में विश्लेषण के तरीके होते हैं पर उनके व्यवस्थित करने के सिद्धांत में फर्क होते हैं।

अनुवर्तन- डॉ. अरविंद गुप्ते

चर्चा की शुरुआत अरविंद ने की। उन्होने बताया कि अनुवर्तन की जरूरत मुख्य रूप से तीन कारणो से पड़ती है।

1. अनुवर्तन को हमेशा प्रशिक्षण की ही निरंतरता माना गया है। शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान समय की कमी के कारण विषयवस्तु पूरी नहीं हो पाती। वैसे यदि प्रशिक्षण की अवधि बढ़ा भी दी जाए तो भी शिक्षको को स्कूल में दिक्कते आती रहेंगी और मदद की आवश्यकता होगी।
2. इस कार्यक्रम की शैक्षणिक व अन्य गतिविधियों जैसे प्रशिक्षण, मूल्यांकन, पुस्तक लिखना आदि के लिये इससे फीडबैक मिलता है, किसी भी शैक्षिक कार्यक्रम में जरूरी है।
3. स्रोत दल के सदस्य या अन्य किसी व्यक्ति को कार्यक्रम की समझ व एहसास के लिये स्कूलो से निरंतर संर्पक बनाए रखना आवश्यक है। इसी प्रकार प्राप्त जानकारी व अहसास के आधार पर ही इस कार्यक्रम में कोई शैक्षणिक काम किया जा सकता है।

सरकारी तंत्र की सीमा के कारण कार्यक्रम का क्रियान्वयन कहीं शत-प्रतिशत आदर्श नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में जब तक कोई व्यवस्थित जानकारी नहीं होती तो क्रियान्वयन के विषय में परस्पर विरोधी मत सामने आते है और इसमें स्कूलों से सीधे संपर्क या अनुवर्तन से ही मदद मिल सकती है। अनुवर्तन के दौरान अन्य विषयो के संबंध में भी जानकारी मिलती है क्योकि यह कोई आवश्यक नहीं है कि अनुवर्तनकर्ता अपने आपको विज्ञान तक सीमित रखे।

अनुवर्तन दो प्रकार से किया जाता है औपचारिक व अनौपचारिक।

औपचारिक अनुवर्तन का अर्थ है शाला में जाकर कक्षा में बैठना, शिक्षक व बच्चों से बात करना, बच्चों की कॉपियां देखना आदि। इसका दूसरा स्वरूप है, संगम केंद्रो पर होने वाली मासिक अनुवर्तन गोष्ठियां जिनके उद्देश्य होते हैं जानकारी का आदान–प्रदान, शिक्षकों की परेशानियों (शैक्षिक व प्रशासनिक) पर चर्चा एवं कुछ अन्य शैक्षणिक मुद्दों पर चर्चा। अनुवर्तन का तीसरा स्वरूप 'सवालीराम' नामक एक काल्पनिक चरित्र है। बच्चे 'सवालीराम' को सीधे पत्र लिखते हैं जिससे बच्चों की कठिनाइयां व कई शैक्षणिक सवाल उभरते है। इन पत्रों का जवाब भी दिया जाता है। औपचारिक अनुवर्तन का चौथा तरीका होशंगाबाद विज्ञान बुलेटिन है। अनौपचारिक अनुवर्तन का अर्थ है कि घूमते–फिरते कहीं भी लोग मिल जाते हैं और चर्चा शुरू हो जाती हैं। चर्चा के दौरान कोई ऐसी समस्या सामने आती है जिसके लिये मासिक गोष्ठी तक इंतजार करने की आवश्यकता नहीं है। इन्हें तुरंत हल करने की कोशिश की जाती है। सन 1972 से 1977 तक कोई निश्चित अनुवर्तन दल नहीं था। जो भी लोग कार्यक्रम के संबंध में आते अनुवर्तनकर्ता बन जाते थे और अपने –अपने ढंग से अनुवर्तन करते थे। इसमें काफी विविधता रहती थी। कोई शिक्षक की अनुपस्थिति में बच्चों से बात करता, कोई केवल कक्षा देखने पर जोर देता तो कोई वहां खुद की कक्षा पढ़ाने लगता था।

1977-78 में पहली बार एक औपचारिक कार्यकारी दल बना है जिसमें उच्चतर माध्यमिक शाला के शिक्षकों एवं माध्यमिक शालाओं के प्रधान पाठको को सम्मिलित किया गया। इससे एक प्रमुख अंतर आया। पहले (72-77 तक) अनुवर्तनकर्ताओ का शैक्षणिक स्तर काफी ऊंचा होता था। 1978 में उच्चतर माध्यमिक शाला के शिक्षकों का स्तर तो फिर भी ठीक था, माध्यमिक शालाओं के प्रधान पाठकों का शैक्षणिक स्तर उतना ही था जितना शिक्षकों का। इसके अलावा वे उतने प्रेरित भी नहीं थे। इस समय करीब 125 लोगों को प्रशिक्षित किया गया।

सन 1982 में कुछ चुने हुए प्रशिक्षित सहायक शिक्षकों को भी अनुवर्तन दल (कार्यकारी दल) में ले लिया गया। पहले ऐसा नहीं किया गया था

क्योंकि ऐसा अहसास था कि मौजूदा सामाजिक परिस्थिति में एक थोड़े ऊंचे ओहदे के व्यक्ति को इस भूमिका में ज्यादा सरलता से स्वीकार किया जाएगा। (यह आवश्यक नहीं है कि वह ज्यादा मदद भी कर पाए)।

इस भूमिका के अनुवर्तन में जो समस्या आयी है उनको भी अरविंद ने सिलसिलेवार प्रस्तुत किया।

अनुवर्तन को आज तक अधिकांश शिक्षको ने निरीक्षण (ए.डी.आई.एस.) करते है और जिसमें शैक्षणिक पहलू न के बराबर है और जिसके आधार पर शिक्षक को पदोन्नति और स्थानांतरण होते है। शिक्ाको को बार-बार यह समझाया गया है अनुवर्तनकर्ता इंस्पेक्टर नहीं, शिक्षक का सहायक है किन्तु बनी हुई मानसिकता इतनी आसानी से टूटती नहीं। दूसरी और वास्तव में कई अनुवर्तनकर्ताओं का व्यवहार भी इंस्पेक्टर जैसा होता है, वे शिक्षक को डांट-डपट आते है। कई शिक्षक अनुवर्तनकर्ताओं के न चाहने पर भी उनसे इन्स्पेक्टर मानकर व्यवहार करते है और अनावश्यक रूप से आक्रामक रूप अपना लेते है।

1977-78 से अनुवर्तन दल सवा सौ व्यक्तियो का मिश्रित दल है। इसमें से कई लोग बहुत इमानदारी से काम करते हैं, रिपोर्ट लिखते हैं, शिक्षक को मदद करते हैं। परंतु ऐसे भी लोग हैं इस दल में जो अनुवर्तन पर जाते ही नहीं। कई ऐसे भी है जो बिना स्कूल गये ही रिपोर्ट लिख देते हैं।

अनुवर्तनकर्ताओं से अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक अनुवर्तन के बाद वह एक रिपोर्ट लिखेंगे जिसमें वह सब होगा जो उन्होंने स्कूल में देखा जैसे प्रयोग, प्रयोग की दिक्कते, कठिनाइयां, शिक्षक व बच्चों के प्रश्न, किन प्रश्नों का निराकरण हुआ किनका नहीं है आदि। इस विषय में अनुवर्तनकर्ताओं को स्पष्ट किया गया कि एक निश्चित प्रारूप बनाकर खानापूर्ति इन रिपोर्टो का उद्देश्य नहीं है। इसके बावजूद संभागीय शिक्षा अधीक्षक कार्यालय ने जोर डलवाकर (एकरूपता लाने के लिये) एक प्रारूप तैयार करवाया। इसका असर यह हुआ कि अनुवर्तन की मूल भावना (कक्षा में क्या घटता है?) का स्थान खानापूर्ति ने ले लिया। इस पर पुनः मासिक गोष्ठियों में चर्चा की गयी। दिसंबर, 1982 में अनुवर्तनकर्ताओं के लिए विशेष प्रशिक्षण आयोजित किया गया

जिसमें माइक्रो टीचिंग के सिद्धांतों के आधार पर समझाया गया कि कैसे कक्षा में मुख्य- मुख्य अंगो को अलग-अलग करके अनुवर्तन रिपोर्ट में जानकारी दी जानी चाहिये। फिर भी ढेरों कमियां हैं। आदर्श स्थिति में यह अपेक्षा की जाती है कि हर अनुवर्तन रिपोर्ट को पढ़कर उसका विश्लेषण किया जाएगा व आवश्यकतानुसार कार्यवाही की जाएगी। उसके अलावा मासिक गोष्ठियो का एजेण्डा भी इन्ही रिपोर्टों में उभरे मुद्दों के आधार पर तैयार होना चाहिये। पहले सारी रिपोर्टे संभागीय शिक्षा अधीक्षक के कार्यालय में पहुंचा दी जाती थी। उक्त कार्यालय में विश्लेषण का काम नहीं हो पाता था, क्योंकि रिपोर्टे बहुत होती थी। इस कारण यह काम संबंधित संगम केंद्रों को सौंपा गया। पहले की स्थिति से कुछ सुधार हुआ है। अब ये रिपोर्टे मासिक गोष्ठियों में पढ़ी जाती है और इनके आधार पर अजेंडा बनता है। परंतु पूरी तरह से संतोषजनक ढंग से काम नहीं हो पा रहा है। इसके प्रमुख कारण केंद्र प्रभारी की रूचि अथवा क्षमता की कमी या काम की अधिकता है। उज्जैन व धार में भी उच्चतर माध्यमिक शाला के शिक्षकों को अनुवर्तनकर्ता बनाया गया है पर शायद विस्तार न होने के कारण ये सारी दिक्कतें नहीं है। अपने प्रस्तुतीकरण के अंत में अरविंद ने अनुवर्तन के संबंध में कुछ प्रश्न प्रस्तुत किये :

1. कार्यकारी दल का गठन कोठारी कमीशन की इस अनुशंसा के आधार पर किया गया था कि उच्चतर माध्यमिक शालाओ प्राथमिक व माध्यमिक शालाओं से जोड़ा जाए। क्या इस प्रयास व इसके उद्देश्य में सफलता मिली है? इससे उच्चतर माध्यमिक शाला का कितना नुकसान होता है? इतने लंबे समय से कार्यक्रम चल रहा है, तो अब अनुवर्तन क्यों जरूरी है? क्या हर माह के स्थान पर साल में दो- तीन बार अनुवर्तन करने से काम चल जाएगा? यदि अनुवर्तन नहीं हो, तो क्या मासिक गोष्ठी व सवालीराम पर्याप्त है?
2. जिला स्तर पर समस्याओं को आगे प्रसार के संदर्भ में कैसे हल किया जाएगा?
3. अनुवर्तनकर्ताओ को यात्रा-भत्ते के कारण प्रोत्साहन मिलता है किंतु यदि शाला पास है तो यात्रा-भत्ता नहीं मिलता।

इससे उत्साह पर असर होता है। दूसरी और यात्रा-भत्ता सरकार का आर्थिक बोझ बढ़ाता है। तो सुझाव यह है कि आर्थिक व शैक्षणिक पहलुओं को ध्यान में रखते हुए निर्णय लिया जाए कि अनुवर्तन कितना आवश्यक है।

इसके पश्चात् चर्चा शुरू हुई।चर्चा के दौरान निम्नलिखित बिंदु उभरे।

मायज ने बताया कि उज्जैन के 2 महिने के अनुभव से ऐसा संकेत मिलता है शायद बाद में ये समस्याएं सामने आएं।

वहां पर अनुवर्तन का पूर्व निर्धारित कार्यक्रम होता है हालांकि एकलव्य के कार्यकर्ता चाहते थे कि संबंधित स्कूलों तक यह जानकारी न पहुंचे। एकलव्य के कार्यकर्ता प्रतिमाह हरेक स्कूल में एक बार अवश्य जाते हैं वह भी

अचानक। मायज और कार्यकारी दल के बीच अनुवर्तन में चीजों को देखने को लेकर कई दफा भिन्नता आई है। वहां के कार्यकारी दल के सदस्यों में बहुत उत्साह है। अधिकांश स्वैच्छिक रूप से इकट्ठे हुए थे। उज्जैन की मासिक गोष्ठियों में अनुवर्तन रिपोर्टों का काफी अच्छा विश्लेषण होता है। यह संगम केंद्र प्रभारी की क्षमता के कारण है। वहीं दूसरी और देवास में, केंद्र प्रभारी, जो प्रशिक्षण में भी नहीं आए थे, की विश्लेषण की क्षमता और प्रशिक्षण की कमी के कारण वहां की मासिक गोष्ठियों में बहुत ही महत्वहीन मुद्दे उभरते हैं और उज्जैन की गोष्ठी से इनमें स्पष्ट अंतर देखा जा सकता है। एक बार प्रशासनिक मुद्दों के लिये मासिक गोष्ठी में प्रधान पाठकों को भी बुलाया गया था। काफी सहयोग मिला। प्रमुख बात यह है कि बड़े स्तर पर उठने वाली समस्याओं का सामना अभी वहां नहीं करना पड़ा है। स्याग ने कहा कि ऐसा इसलिये भी हो सकता है कि यह नया कार्यक्रम होने की वजह से है और कार्यकर्ता सभी स्वैच्छिक है, धीरे-धीरे समस्याएं उभरेंगी।

पुरे ने बताया धार में भी अनुभव उत्साहजनक है। वहां अनुवर्तनकर्ताओ की संख्या स्कूलों से अधिक है। इस कारण एक महिने में इनमें से आधे ही अनुवर्तन के लिये जा पाते हैं। इसलिये कड़ी नहीं जुड़ पाती। मासिक गोष्ठियों में आने के लिये इतने आतुर है कि अकास्मिक अवकाश लेकर पहुंच जाते हैं। यह आतुरता एक सकारात्मक पहलू है।

धार में

यात्रा भत्ते की समस्या नहीं है क्योंकि सब स्कूल करीब ही है परंतु तिरला संगम केंद्र पर जिन लोगों को करीब के स्कूल मिले है, वे थोड़ा नाखुश है। वहां अनुवर्तन रिपोर्टे मासिक गोष्टी के पहले नहीं पहुंच पाती है और उनका विश्लेषण भी ठीक ढंग से नहीं हो पा रहा है। संगम केंद्र प्रभारी भी बहुत सक्षम नहीं है। एकलव्य के कार्यकर्ता भी पूरा समय नहीं दे पा रहे हैं। इस समय साधना ने, यह मानते हुए कि अनुवर्तन की जरूरत है, कुछ और प्रश्न उसके स्वरूप को लेकर प्रस्तुत किये:

1. क्या अनुवर्तन एक अभियान के रूप में कुछ विशेष महिनो में होना चाहिये या पूरे साल?
2. कार्यकारी दल द्वारा अनुवर्तन के अनुभवों के संदर्भ में प्रश्न है कि अनुवर्तन कौन करें- कार्यकारी दल के लोग या स्वैच्छिक संस्था से जुड़े स्रोतदल के लोग? इसी संदर्भ में यह भी सोचना चाहिये कि कार्यकारी दल का अनुभव कितना सार्थक रहा है। यदि ऐसा एक बड़ा अनुवर्तन दल होगा तो उसका प्रशिक्षण कैसे किया जाएगा? अभी की तरह या नये ढंग से?
3. क्या हर साल प्रति शाला 4-5 अनुवर्तन किये जाएं या कुछ विशेष अध्यायो को लेकर अनुवर्तन किये जाएं?

4. क्या अनुवर्तन हर साल होते ही रहना चाहिये या 1-2 साल बाद स्कूल अनुवर्तन की प्रक्रिया बंद कर देनी चाहिये?

इन प्रश्नों को विस्तार से समझाते हुए साधना ने कार्यकारी दल के प्रशिक्षण, उनसे अपेक्षा एवं उनके व्यवहार से संबंधित मुद्दे सामने रखें। कार्यकारी दल का प्रशिक्षण दो स्तरों पर होता है– अध्यायो का प्रशिक्षण और हमारी दृष्टि में अनुवर्तन क्या है और उसमें क्या किया जाता है, इसका प्रशिक्षण। यह शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान चर्चा के माध्यम से और उनके ग्रुप बनाकर शिक्षकों का अनुवर्तन करवाकर किया गया। इसके बावजूद भी उनको यह समझा पाना बहुत मुश्किल रहा है कि अनुवर्तन में करना क्या है? इसलिये कार्यक्रम की अपनी समझ के आधार पर वे कम या ज्यादा कर देते हैं।

यहां तक की कार्यकारी दल के अच्छे सदस्यों की रिपोर्ट में भी शैक्षणिक मुद्दे नहीं के बराबर होते हैं। दूसरी समस्या है वही इंस्पेक्टर वाले रवैये की। कहीं भी शिक्षकों से संवाद की स्थिति नहीं है। इसका एक बड़ा कारण है अनुवर्तको का ओहदा सहायक शिक्षकों के ओहदे से ऊंचा होना। सवाल यह उठता है कि यदि यही परिणाम है 2 साल के निरंतर प्रशिक्षण का तो हमने कार्यकारी दल की जो अवधारणा विकसित की थी उसकी कोई सार्थकता है या नहीं? कार्यकारी दल, सदस्यों ने एक बात और उठायी थी यदि स्कूल में परिस्थिति बहुत नकारात्मक है तो क्या वे ऊपर रिपोर्ट करें? इस संबंध में भी कोई स्पष्टता नहीं है।

अनवर की समझ में अनुवर्तन रिपोर्टों में शैक्षणिक मुद्दे न उभर पाने का कारण यह हो पता है कि उनकी खुद की तैयारी काफी नहीं है और दूसरी बात यह भी है कि जब हममें से कई लोगों के लिये ही मासिक गोष्ठियो की ही रिपोर्ट लिखना मुश्किल हो जाता है और 30-40 अनुवर्तनों के बाद नयी बातें नहीं उठ पाती तो कार्यकारी दल के लिये तो यह दिक्कत और भी ज्यादा हो जाती होंगी। वे तो 5-5 सालों से अनुवर्तन कर रहे हैं। उन्हें कोई नये मुद्दे नहीं दिखते और अपने आपको उत्साहित रख पाना मुश्किल हो जाता है। अनिल का विचार था कि अगर एक जीवंत कक्षा चल रही है तो नये मुद्दे उभरेंगे ही। पर आमतौर पर जीवंत कक्षाएं नहीं होती है। यदि अनुवर्तनकर्ता एक निष्क्रिय कक्षा में पहुंचता है तो उसका काम स्थिति का मात्र अवलोकन करना नहीं बल्कि उसे एक सक्रिय स्थिति में बदलना भी है और यदि एक सक्रिय कक्षा है तो उस कक्षा को एक ऊंचे स्तर पर ले जाना भी अनुवर्तनकर्ता का ही काम है।

मायज ने कहा कि यह भी कहा जाता है कि अनुवर्तनकर्ता कक्षा में हस्तक्षेप न करें और स्वयं क्लास न लेने लगे। इस पर अनिल ने स्पष्टीकरण दिया कि यदि कक्षा औसत ढंग से चल रही है तो हस्तक्षेप न करें पर यदि कुछ नहीं हो रहा है तो कुछ करना चाहिये। आजकल अधिकतर कक्षाएं ऐसी मिलती है जहां कुछ नहीं हो रहा होता।

एक चल रही कक्षा को एक ऊंचे स्तर पर ले जाना कक्षा रुकवाना नहीं कहा जा सकता। पहले 60 मिनट कक्षा चलने दें फिर 10-15 मिनट के लिये चर्चा करें बच्चों से ।

हृदयकांत (हार्डी) के उपरोक्त पहलुओं के अलावा अनुवर्तन के चार अन्य पहलुओं, उच्चतर माध्यमिक शिक्षकों का जुड़ाव व उच्चतर माध्यमिक शिक्षकों व माध्यमिक शिक्षकों के बीच कड़ी, शिक्षकों का आपसी संवाद, स्कूली शिक्षा को मदद मिलना एवं शिक्षकों के बीच के पदक्रम में कुछ बदलाव की शुरुआत को महत्वपूर्ण मानकर इन्हीं के संदर्भ में बात की। उच्चतर माध्यमिक शिक्षकों की माध्यमिक शालाओं के बारे में जानकारी बढ़ी है, जो कि सकारात्मक है। शिक्षकों औरअनुवर्तनकर्ताओ के बीच बहुत से झगड़े पर विरोधाभास है और शिक्षकों ने दिसंबर 1982 के शिविर में इस प्रकार के मत भी प्रस्तुत किये थे। उनका कहना था कि सहायक शिक्षक ही अनुवर्तनकर्ता होने चाहिये, उनसे मदद मिल सकती है। वर्तमान अनुवर्तनदल से मदद नहीं मिलती क्योंकि स्वयं नहीं पढ़ाते हैं। पर मुख्य बात यह है कि उन्होंने अनुवर्तन को जरूरी समझा। दूसरी बात यह है कि यदि अनुवर्तन का उद्देश्य मात्र शिक्षक को मदद करना नहीं है बल्कि कुछ प्रक्रियाएं शुरू करना है तो अनुवर्तन के सवाल को मात्र शैक्षणिक दृष्टि से देखना उचित नहीं। यदि यह आंकना है कि कक्षा में यह हो रहा है या किसी अध्याय की अवधारणा स्पष्ट हुई है या नहीं, या किट उपयोग हो रहा है या नही तो दो-तीन अनुवर्तन हमारे द्वारा किये जा सकते हैं, चाहे अभियान के रूप में चाहे मुद्दे लेकर। परन्तु कार्यकारी दल द्वारा अनुवर्तन मदद की प्रक्रिया श ुरू करना ही नहीं है बिल्क शिक्षको से संपर्क करवाना लगातार व संवाद शुरू करवाना है और उसका इतनी जल्दी मूल्यांकन करना कि सफल हुई या नहीं, यह ठीक ही नही है। जिस संवाद की हम कल्पना करते है वह अनुवर्तन न होने से टूटता है। मासिक गाेष्ठियो का महत्व तभी है जब अनुवर्तन हो रहा है। प्रमुख प्रश्न वह है कि अनुवर्तन को सुधारने के लिये प्रशिक्षण और क्रियान्वयन के दौरान क्या तरीके अपनाये जाएं और फिर यदि खराब में रिपोर्टे आई है, तो अच्छी भी तो आई हैं ।

अनिल ने कहा कि हार्डी आकलन बहुत आशावादी है वह इस

अनिल ने इस बिंदु पर जानना चाहा कि हार्डी के आकलन का आधार क्या है? शायद शैक्षिक सुधार व परिवर्तन के लिये उच्चतर माध्यमिक शिक्षकों व प्रधान पाठकों के बीच विचारों के आदान प्रदान का एक मंच बन रहा है- मासिक गोष्ठी, यह एक आधार हो सकता हार्डी द्वारा प्रस्तुत चार बिंदुओं के संदर्भ में आकलन का।

साधना ने इस प्रकार के मंच की बात को आगे बढ़ाते हुए कहा कि वि.शि.का. का एक उद्देश्य यह है कि महाविद्यालय अध्यापकों सहायक शिक्षक तक जो भी अध्यापन समुदाय है उनके बीच इस तरह का संवाद शुरू करना। पर जहां तक रिपोर्ट की क्वालिटी (गुणवत्ता) अच्छी होने की बात है, साधना समझना चाहती थी कि रिपोर्ट लिखना एक टेढ़ा काम हैं। हार्डी ने बनखेड़ी संगम केंद्र की रिपोर्टो का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया कि रिपोर्ट का आकलन हमारी अपेक्षाओं पर निर्भर करता है। यदि एक रिपोर्ट में मात्र इतना लिखा है कि बच्चे हड्डियां नहीं पहचान पाए या मॉडल संश्लेषण का प्रयोग नहीं हो पा रहा था तो उसे एक अच्छी रिपोर्ट मानी जाना चाहिए क्योंकि कम से कम शैक्षणिक मुद्दों को पहचानने की शुरुआत हुई है। हार्डी ने एक मासिक गोष्ठी का यह अनुभव भी बताया कि कैसे वहां मेंढक के अंडों को लेकर शैक्षणिक चर्चा एकलव्य कार्यकर्ता के पहुंचने से पहले ही शुरू हो चुकी थी। वह चर्चा अनुवर्तन रिपोर्ट के आधार पर हुई थी। बनखेड़ी में भी 4-5 अच्छी अनुवर्तन रिपोर्टें मिली थी।

अनिल: यह काफी स्टैंडर्ड मुद्दा है। 1978 में भी यही स्थिति थी। हार्डी ने अपनी बात जारी रखी: यह निर्भर करता है संगम केंद्र प्रभारी पर। उन्हें कैसे प्रशिक्षण दिया जाए कि वे विश्लेषण करके शैक्षणिक मुद्दे उभार पाएं। यदि मुझे अनुवर्तनकर्ता स्कूलों से वापिस आकर बताते हैं कि उन्होंने क्या-क्या किया और कहां-कहां पीड़ित हुए तो मैं इसे एक सकारात्मक कदम मानता हूं चाहे उन स्कूलों के शिक्षक इनकी बुराई ही क्यों न कर रहे हो। संवाद व समझ बनाने में समय लगता है। उ.मा. शिक्षको को भी मेहनत के बाद ही समझ आता है कि उनको कैसे माध्यमिक शालाओ के शिक्षको से बात करनी चाहिये। यदि शिक्षक एक विशेष अनुवर्तनकर्ता के बारे में कहते हैं

ये अपने आपको बहुत आता है, ऐसा मानते हैं तो मैं इसे वो संवाद स्थापित करने का पहला कदम मानता हूं। अरविंद का सुझाव था कि हमें कार्यकारी दल के काम की समीक्षा करनी पड़ेगी। यह भी सोचना पड़ेगा कि हम उनके काम को अच्छी तरह करवाने में कैसे मदद कर सकते है। किन्तु उसके साथ ही संगम केंद्रो की भी बात की जाए क्योंकि अनुवर्तन में इनकी भी महत्वपूर्ण भूमिका है और कई संगम केंद्र ठीक से काम नहीं कर रहे है। श्याम का विचार था कि पहले (1977-78 में) यदि अनुवर्तनकर्ता किसी शिक्षक की कक्षा के विषय में बतलाता था तो वहां युद्ध सा होने लगता था पर अब ऐसी प्रतिक्रिया नहीं होती। यह काफी सकारात्मक है।

सुशील का विचार था कि इस किस्म की सामाजिक प्रक्रियाएं बनायी रखी जाएं जो किसी भी नवाचार के कार्यक्रम का उद्देश्य होना चाहिये। बेहार मॉडल में इन प्रक्रियाओ को नकारा गया था। यदि ये प्रक्रियाएं ठीक से नहीं चल रहीं तो इसका यह मतलब नहीं है कि उन्हें हटा जाए। दूसरी बात यह भी है कि जब हम कहते है कि अनुवर्तनकर्ता शैक्षणिक मुद्दे नहीं उभार पाते तो यह देखना चाहिये कि क्या उनको इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया गया है कि वे शैक्षणिक मुद्दे पहचान पाएं और सार्थक व निरर्थक प्रश्नो के बीच अंतर कर पाएं। फिर यह भी है कि जब वे शिक्षक से मिलते हैं तो शिक्षक किन समस्याओ की बात करते हैं। पिछले वर्ष का हमारा खुद का अनुभव है कि पूरी-पूरी मासिक गोष्ठियो में हम अलमारी जैसे प्रशासनिक मुद्दे में फंसकर रह गये और शैक्षणिक मुद्दे नहीं उभार पाए। कहीं हम कार्यकारी दल से जरूरत से ज्यादा अपेक्षा तो नहीं कर रहे ?

विनोद ने सुशील की बात से सहमति व्यक्त की और कहा कि इसे हो.वि.शि.का. की तरह ही देखना चाहिये यानी जब शिक्षक नहीं पढ़ाते तो हम कार्यक्रम बंद नहीं करते, इसी प्रकार अनुवर्तन के विषय में सोचना चाहिये । अनुवर्तन एक सामाजिक अंग है हो.वि.शि.का. का और उसका अपना महत्व है। इसलिये वह इस बात के एकदम खिलाफ था कि यदि यह असफल हो रहा है तो इसे बंद कर देना चाहिये। शैक्षणिक मुद्दे दूसरी बात है।

उसके ख्याल में यह मान्यता ठीक साबित नहीं हुई कि चूंकि अनुवर्तनकर्ताओ की डिग्री ज्यादा है इसलिये वे ज्यादा शैक्षणिक भूमिका निभाएंगे बल्कि उनकी डिग्री एक रुकावट है। दूसरी बात है कि शिक्षकों को हम जितना प्रशिक्षण देते है उससे कम अनुवर्तनकर्ताओ को, जबकि होना इससे उल्टा चाहिये। उनसे विषयवस्तु, उसकी पृष्ठभूमि, उन्मुखीकरण, सामाजिक पहलू आदि की बात प्रशिक्षण के दौरान ही करना चाहिये। जब हम शिक्षकों के उन्मुखीकरण सोचते हैं तो कार्यकारी दल का क्यों नहीं सोचते? हमें यह सोचना पड़ेगा व संवाद की स्थिति सुधारनी पड़ेगी। जहां तक पुराने स्रोत दल के सदस्यो और आज के अनुवर्तन दल के सदस्यों की रिपोर्टों की तुलना की बात है तो उसका यकीन है कि 1972 से आज तक कुछ इतनी बेकार व वाहियात रिपोर्ट मिलेंगे कि हम सोच नहीं सकते। इसलिये रिपोर्टो की स्थिति को देखकर निराश नहीं होना चाहिए क्योंकि एक आदर्श स्थिति तक पहुंचना एक धीमी प्रक्रिया है। संवाद हो या झगड़ा, माध्यमिक और उच्च माध्यमिक शिक्षकों के बीच एक बात खड़ी हो रही है। कम से कम उच्च माध्यमिक शिक्षकों को यह तो एहसास हो रहा है कि ऐसी चीजें हैं जो उन्हें भी नहीं मालूम, और एक माध्यमिक शिक्षक उन्हें ललकार तो रहा है। इसका महत्व कम नहीं है। विजय के इस प्रश्न पर कि यह तो माना गया है कि अनुवर्तन जारी रहना चाहिये फिर विनोद क्यों इतना जोर डाल रहा है, अनिल ने बताया कि खराब अनुवर्तन के कारण ही यह प्रश्न उठा है।

सुशील: अनुवर्तन के मूल्यांकन के लिये कुछ आधार तय करना चाहिये। अरविंद ने कुछ आधार प्रस्तुत किये व हार्डी ने उसमें एक नया आयाम जोड़ा। बात आधार तय करने की है, अनुवर्तन समाप्त करने की नहीं ।

विनोद ने विजय के प्रश्न से मुखातिब होते हुए कहा कि गुप्ते जी के वक्तव्य की पृष्ठभूमि में है बहुत निराशा। तब प्रश्न असर इस रूप में उभरते हैं कि अनुवर्तन का मतलब क्या है या कितना अनुवर्तन हो? इसका अर्थ यह नहीं है कि अनुवर्तन न हो वरन यह है कि कितना हो और कैसे हो?

विजय: ऐसे प्रश्न तो उठते रहे है व उठेंगे पर मेरी तो यह मान्यता रही है कि अनुवर्तन हमारे कार्यक्रम का एक अनिवार्य हिस्सा है

और इसको हटाने का सवाल तो उठता ही नहीं, इसको मजबूत बनाया जाना चाहिये। पहले भी रिपोर्टे खराब आती थी। पहले भी मासिक गोष्ठियों में टी.ए./डी.ए. को लेकर चर्चाएं चलती थी। धीरे-धीरे समझ में आया कि यह समस्याएं शुरू से रही है। तीसरी चीज कि अगर शिक्षकों को तकलीफ है तो मासिक गोष्ठी में उठेगी ही।

उनका निराकरण करके ही शैक्षणिक मुद्दों पर बात आएगी। यह दिखाता है कि किन परिस्थितियों में हमारे शिक्षक हैं और उनकी क्या समस्याएं हैं।

रेक्स: 1972 में भी वहीं मुद्दे थे, 1983 में भी वही, इसका क्या अर्थ है?

हार्डी: मुद्दे बदले हैं। अब टी.ए./ डी.ए. का मुद्दा नहीं उठता। जिन मुद्दों से हम सीधे नहीं जुड़े हैं वे नहीं उठते।

रेक्स: वह इसलिये कि हम बात नहीं करते।

विनोद: कार्यक्रम के इस विशेष अंग के कारण यदि मासिक गोष्ठियों में 3 सालों बाद अलमारी व टी.ए./ डी.ए. की मांग करने का आत्मविश्वास आया शिक्षकों में, चाहे मदद न मिली हो, पर मिलकर बात तो की। हमें लगता है कि शैक्षणिक बातो के लिये समय घट रहा है, तो हो सकता है उतना अच्छा न हो जितना होना चाहिये परंतु क्या इसे नकारात्मक माने?

गौतम: मासिक गोष्ठियों में रिपोर्ट पूरी आती नहीं या आखिरी मौके पर आती है। इसलिये मासिक गोष्ठियों में व्यवस्थित रुप से शैक्षणिक मुद्दों पर चर्चा नहीं हो पाती। दूसरा, कुछ मान्यताएं ऐसी हैं, जैसे अध्यायो का क्रम। ये क्रम भी टूटता है। इसलिये रिपोर्टो में अध्यायो की समानता नहीं होती है और कुछ शिक्षक उन शैक्षणिक मुद्दों से कट जाते हैं जिन पर चर्चा होती है। तीसरा, जब अनुवर्तक स्कूल जाता है तो वह किसी एक अध्याय के एक प्रयोग के समय पहुंचता है और उसी के बारे में लिखता है। उसी माह हुए बाकी अध्यायो व उसी अध्याय के अन्य प्रयोगो का जिक्र नहीं होता, चर्चा नहीं होती। इस संबंध में पिपरिया के शिक्षक का सुझाव था कि हर स्कूल में एक डायरी रखी जाए व हर अध्याय के अनुभव व कठिनाइयां उसमें लिखी जाएं। यह डायरी अनुवर्तनकर्ता को दिखाएं। मासिक गोष्ठी में भी साथ लेकर आएं।

और अनुवर्तनकर्ता से जो मुद्दे छूट जाएं उन्हें सामने रखें। मासिक गोष्ठी का प्रतिवेदन व मुख्य प्रश्न डायरी में लिख लें ताकि स्कूल के अन्य शिक्षकों को जानकारी हो सके। यह निर्णय सोहागपुर में भी हुआ है।

बृज: मासिक गोष्ठी का एक पहलू सामाजिक है जिसमें अलग-अलग गांवो व कक्षाओं के शिक्षकों का मेलजोल है और दूसरा है शैक्षणिक पहलू। मैं विनोद से सहमत हूं कि यदि यहां कोई मुद्दों का हल साल 2 साल में निकल जाता है तो बड़ी बात है परंतु शैक्षणिक मुद्दों का कुछ तो विधिवत हल, कुछ समय में निकलने की आशा होना चाहिये वरना ये बार-बार उठते रहेंगे और उनका महत्व कम हो जाएगा। मासिक गोष्ठी में शैक्षिक नवाचार का कुछ अंग जरूर होना चाहिये। या तो कोई नया प्रयोग हो या कोई चीज पढ़ाई जाए जो उनके पाठ्यक्रम से हटकर है। रूचि पैदा करना महत्वपूर्ण है। शैक्षणिक व सामाजिक मुद्दे दोनों उभरकर आएं। समस्याओं का हल समय अनुसार अवश्य हो।

श्याम: दो-तीन बातें बहुत जोर से कहना चाहूंगा। एक मैं इससे असहमत हूं कि उच्च श्रेणी शिक्षक को अनुवर्तनकर्ता नहीं होना चाहिये। उसी को होना चाहिये। इसके फायदे ये हैं कि एक तो माध्यमिक व उच्चतर माध्यमिक शिक्षकों के बीच कड़ी जुड़ रही है और दूसरा जब उच्च श्रेणी शिक्षक स्वीकारते हैं कि सहायक शिक्षक उनसे ज्यादा जानते हैं तो वह संस्कृति तो विकसित हो रही है जो हम चाहते हैं। दूसरी बात कि पदक्रम के बंधन टूट रहे हैं। यह कभी भी, किसी भी ढांचे में नहीं दिखता मुझे। डायरी की बात बिल्कुल बेकार है। इसका एक

बहुत नकारात्मक असर है। अगर समस्या होगी तो शिक्षक स्वयं हल कर लेगा, डायरी से उसे कोई मदद नहीं मिलेगी।

यह कहा जाता है कि शैक्षणिक बात नहीं होती। मैं तो इनके अलावा फालतू बातें अवश्य करवाऊंगा। क्या वे बातें नहीं है?

अनिल: कई लोगों ने कहा अनुवर्तन कि लंबी प्रक्रिया के रूप में देखा जाए। बहुत अड़चने व खाइयां हैं जो धीरे-धीरे पूरी होगी। ये तो वैसे पूरे कार्यक्रम का सिद्धांत है। दूसरी बात, अनुवर्तन की सामाजिक भूमिका मात्र प्रधान पाठकों, हाई स्कूल शिक्षकों व मिडिल के शिक्षकों के बीच की है। क्या हम कार्यक्रम के तहत गैर स्कूली तंत्र के लोगो को जोड़ सकते है?

चाहे ये पी.डब्लू.डी., कृषि विभाग, बिजली विभाग, के लोग ही और चाहे ये गैर-शासकीय विभाग के लोग हों, वकील हो, डॉक्टर हो, प्राइवेट इंजीनियरिंग का काम करने वाले लोग हो, वर्कशॉप में कार्यरत हों। यह मैं इसलिये कह रहा हूं कि एक बहुत बड़ी दिक्कत जो हमारे साथ आती है वह है कार्यकारी दल के लोगों का स्कूली तंत्र में पदार्किंत हो जाना जिसके कारण ये बहुत संकीर्ण हो जाते है। पर जब आप इस तंत्र के बाहर के लोगों को जोड़ने लगेंगे तो बहुत सारे नये आयाम खुलने लगेंगे और जानकारी मिलने लगेगी। जनता की राय जानने के, दिलचस्पी बढ़ाने के। मैं चाहता हूं इस पर गंभीरता से विचार किया जाये।

स्याग: (अपना अनुभव सुनाया जहां एक खेत में परिभ्रमण के दौरान जाने पर खेत के मालिक ने जो विज्ञान में ग्रेजुएट था कहा कि वह कार्यक्रम में जुड़ना चाहता है। वह मासिक गोष्ठियों में भी आयेगा व रोज एक घंटा देगा। स्याग ने कहा कि ग्रुप में पूछकर बताऊंगा आप जैसे लोगों को लेकर नीति क्या है, अभी मालूम नहीं।

अनिल: कल्पना कीजिये पिपरिया में सुंदर मिस्त्री की जो एक वर्कशाप चलाता है। क्या उससे व्यक्ति मशीन के अध्याय के लिये मिल सकता है?

साधना: विनोद ने कहा कि हमें शैक्षणिक पहलू की ट्रेनिंग करनी चाहिये। पर हार्डी के वक्तव्य से ऐसा लगता है जैसे बाकी की स्थिति सकरात्मक है- यानी कुछ भी हो रहा है चाहे अनुवर्तनकर्ता मुआयने के लिये जा रहे हैं, वह भी कम-से-कम एक प्रक्रिया है जो अपने आप में एक सकारात्मक बात है। पर मेरे विचार में ऐसा सोचना बहुत भ्रामक हो सकता है। कार्यकारी दल का जुड़ना मिडिल स्कूल शिक्षकों से संवाद होना, अगर यह सब हो पाता है तो यह अपने आप में बहुत बड़ी बात है। पर मैं एक चेतावनी देना चाहूंगी कि अगर उसमें एक शैक्षणिक पुट है, तो ही विकास व उत्साह की संभावना होती है। यह भी सही है कि जब कार्यक्रम शुरू होता है तो एक जोश शिक्षकों में मिलता है क्योंकि एक नई चीज़ सीखने को मिलती है पर 2-3 सालों में वह क्षीण हो जाता है क्योंकि वह एक ढर्रे जैसा बन जाता है।

वही ट्रेनिंग, वही गोष्ठियां, जब तक कि उसमें कोई नयी चीज नहीं डाली जाती। यह नयी चीज शैक्षणिक भी हो सकती है, सामाजिक भी पर शैक्षणिक बहुत महत्वपूर्ण है। अनुवर्तन को लेकर हमारा अपना नजरिया बदला है। शिक्षक अगर काम करता हुआ व प्रयास करता हुआ दिख जाता है तो वह भी बहुत बड़ी बात होती है। परंतु अधिकतर अनुवर्तन रिपोर्टो से लगता है कि अनुवर्तन एक ढर्रा बन गया है और शैक्षणिक पुट कम होता गया है। जैसा कि विनोद ने कहा कि अनुवर्तनकर्ताओ का प्रशिक्षण शिक्षको के मुकाबले ज्यादा होना चाहिये पर कम है, और लगातार भी अनुवर्तनकर्ताओ के साथ कोई संवाद नहीं है। अभी हाल ही में मासिक गोष्ठियो के दौरान प्रयास किये गये है उनसे अलग से बातचीत करने से उसका असर होगा वरना वे तो मासिक गोष्ठियो में आते ही नहीं है क्योंकि उनको लगता है कि वे बातें तो उनके लिये है नहीं। इसलिये इसका जो सामाजिक पहलू है, वह महत्वपूर्ण है परंतु उसके शैक्षणिक पहलू के विषय में भी सोचना चाहिये। मेरा मत है कि कार्यकारी दल का काम शिक्षकों के काम से ज्यादा खराब है तुलनात्मक दृष्टि में। दूसरा प्रश्न, जो तुम कह रहे हो कि कार्यक्रम कैसा चल रहा है यह जानने के लिये हमें भी घुसना पड़ेगा, इससे मैं पूरी तरह सहमत नहीं हूं। । पर एक कार्यक्रम ऐसा बना था जिसमें यह तय किया गया कि हम कार्यकारी दल के सदस्यों के साथ अनुवर्तन पर जाएंगे। पर जरा सैद्धांतिक स्तर पर सोचना चाहिये कि कितना जरूरी है हमारा इस काम में सीधे पड़ना। तीसरी बात, जिसमें और लोगों को जोड़ने के बात थी (अनिल ने कही) इसे शायद शिक्षक भी नापसंद करेंगे। ये भी जुड़ाव की एक बहुत धीमी प्रक्रिया होगी। मेरा मत है कि जितने भी ग्रामीण स्तर कार्यकर्ता है जैसे, ग्राम सेविका/ सेवक, मलेरिया कार्यकर्ता, कृषि विस्तार कार्यकर्ता, नर्से, इनमें से भी चुन-चुनकर लोगों को ट्रेनिंग में जोड़ा जा सकता है। इनकी अपनी ट्रेनिंग बहुत होती है जैसे एक मलेरिया कार्यकर्ता की मलेरिया परजीवी की पहचान करने की, उसके जीवन चक्र की। प्रशिक्षण होता बहुत बुरा है, पर होता है।

विजय: एक जीवंत जानकारी मिलती थी हमें न केवल कक्षाओं में क्या हो रहा है इस पर कार्यक्रम के विषय में उनके विचार क्या है, रुचि क्या है, आदि उसके बारे में कोई बात नहीं हुई। मेरे ख्याल में एकलव्य के जो कार्यकर्ता है उनके लिये यह जरूरी होगा कि वे सीधा संवाद बच्चों के साथ बनाए।

साधना: अनुवर्तन में हमारी भूमिका क्या और कितनी होगी इसको व्यवहारिक व सैद्धांतिक रूप में समझना बहुत जरूरी है। पढ़ाई ज्यादा होने वाले मिहनो के दौरान होगा या निश्चय कर लेना होगा कि साल भर में कुल कितना होगा? इसका मतलब ही है बच्चों से सीधा संपर्क। यह बहुत महत्वपूर्ण है। पिछले अनुवर्तन के दौरान स्कूलों के बच्चे शिक्षक से क्या परेशानी है, बहुत साफ समझा पाये। ऐसे संर्पक मालूम नहीं कार्यकारी दल के लोग, ए.डी.आई.एस. लोग आज करने की तैयारी में भी है या नहीं।

हार्डी: यह शैक्षणिक प्रक्रिया है हमारे लिये और इसलिये बहुत जरूरी है बच्चों से हमारा सीधा संपर्क बना रहे वरना बच्चों के लिये कुछ भी बनाने की हमारी क्षमता खत्म हो जायेगी।

विनोद: व्यवहारिक स्तर पर अभी एकलव्य की अनुवर्तन प्रणाली विकसित नहीं हुई जो कि अच्छी बात नहीं है। पर यह करना है, यह है दिमाग में।

बुलेटिन- श्याम बोहरे

बुलेटिन के लिये शुरू में एन.सी.ई.आर.टी. ने पैसा भी दिया था। सरकार द्वारा प्रावधान करने के बाद भी उपयोग करने में काफी दिक्कतें होती है। क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के पास हम लोग बुलेटिन की बात करने गये। सबसे पहले इस कार्यक्रम की मान्यता या दर्शन को लेकर ही टकराहट हो गयी। उन्होंने कहा कि बुलेटिन भोपाल में संपादित होगी। हमने कहा कि काम होशंगाबाद में हो रहा है तो या यहां ही संपादित होगी। वहां के एक वरिष्ठ रीडर आये होशंगाबाद में और इसका स्वरूप क्या होना चाहिये। इस पर उनसे बात हुई तो उनकी बहुत परंपरागत सोच थी- आम कॉलेज की पत्रिकाओं के समान। उनके लिये यह खुद के प्रचार की पत्रिका थी। हमारी जिद थी कि हम उसे होशंगाबाद में जो काम हो रहा है उसके अनुभवों के संवाद के रूप में देख रहे हैं। वे इस ढंग से प्रस्तुत करना चाह रहे थे कि बहुत बढ़िया हो रहा है होशंगाबाद विज्ञान। वे हमारी जो सामग्री लेकर गये थे उसे कभी नहीं छापा। उनके लिये वह पब्लिसिटी का मंच था व हमारे सपने उससे बाहर थे। पहले अंक से ऐसा प्रतीत हो रहा था। जैसे यह कार्यक्रम धरा पर स्वर्ग उतार लाया है। इससे पहला सबक सीखा कि इस बुलेटिन को निकालने के लिये कुछ और ही रास्ता निकालना पड़ेगा। अंत में किशोर भारती ने पैसा दिया और बुलेटिन निकली। अगर एक स्वैछिक संस्था इसमें पैसा नहीं डालती तो बुलेटिन नहीं निकलती। तो जैसे-तैसे शुरू हुई। शुरू हुई बहुत बड़े सपने के साथ व सपने और हकीकत में जो बहुत बड़ा फर्क होता है वह सामने आया इस बुलेटिन के रूप में। कारण यह था कि सपने हवाई थे उन्हें जमीन पर उतारा नहीं जा सकता था, जिस तरह के व्यक्ति व तैयारी की जरूरत थी वह नहीं थी। मासूमियत हममें थी कि हम शिक्षा को लेकर शिक्षको और पालको में जीवंत संवाद का मंच स्थापित कर लेंगें। परन्तु बाद में मालूम हुआ कि समाज में इस तरह की परम्पराएं नहीं है, प्रक्रियाएं नहीं है, संस्कृति नहीं है।

इसलिये यदि हम बुलेटिन को अलग-थलग ढंग से देखेंगे तो काम नहीं बनेगा। पर जब एकलव्य के बनने से हमारे हाथ बढ़े है जो

अनुवर्तन जैसी चीज को भी सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। यह प्रक्रियाएंं शुरू हो जायेंगी तो बुलेटिन को संकट का मंच बना सकेंगे। यानी बच्चों के विज्ञान क्लब, स्कूल के बाहर के लोगों से बातचीत, बच्चों के साथ पुस्तकालय, शिक्षकों के साथ चर्चा ये सब संबंधित है एक दूसरे से। दूसरी बात,बुलेटिन कितनी भी खराब निकली हो उसके बावजूद उसमें संभावनाएं बहुत है। हमने ऐसे कई शिक्षकों को पहचाना जिन्होंने बहुत हिम्मत के साथ बहुत जोरदार तरीके से अपने मत रखें। जैसे महेश भट्ट ने परीक्षा के संबंध में लेख लिखा था जब वह परेशान हुआ था तो। बहुत से छिपे हुए लोग ढूंढे। कहां क्या हो रहा है इसका अहसास सब तक पहुंचाना, जैसे, किट की कोई चीजों के विकल्प पहुंचाएं। इसके लिए 2-4 घुमंतू लोग होना ज़रूरी है। सबसे बड़ा मोड़ आया जब रेक्स आया। रेक्स ने इसको विज्ञान पत्रिका से निकाल कर एक व्यापक रूप दिया।

रेक्स: बहुत आलोचना होती है जो भी नयी चीज हम डालते हैं उसको लेकर। बुलेटिन को लेकर भी बहुत आलोचना होती है। यह थोड़ा कम करना चाहिये। पत्रिका की सीमाएं होती है। यह एक तरफा संचार का माध्यम है और जब तक इसे अन्य गतिविधियों के साथ जोड़ा नहीं जाता इसका कोई मतलब नहीं है। यह एक ऐसी पत्रिका होगी जो बच्चों की पढ़ने की आदत में सुधार करेगी। आज इस पत्रिका का स्वरूप भ्रमित है। मालूम ही नहीं पड़ता कि किससे संवाद करना चाहते हैं? यह सामान्य भ्रम का हिस्सा है जो पत्रिका में भी दिखता है। आप इसके द्वारा किससे- किस तरीके से संवाद करना चाहते हैं। मैं एक व्यक्ति के रूप में पुराने अनुभव के आधार पर जरूर एक अच्छी पत्रिका निकाल सकता हूं। यह पत्रिका मैं यहां बैठ कर, या बंबई में बैठकर निकाल सकता हूं। इसकी भूमिका को थोड़ा समझना चाहिये।

विजय: नर्गिस ने अगस्त-सितंबर के अंक देखे थे और सी.आई.ई. दिल्ली में अपने कुछ साथियों को दिखाये थे। उनका कहना था कि ऐसी पत्रिका इस देश में कहीं प्रकाशित नहीं हो रही है।

खास रूप से इसलिये कि बच्चों और अध्यापकों को खुला मंच मिल रहा है अपने विचार प्रकट करने के लिये। हो सकता है हमने जो मापदंड रखे हो वे बहुत ऊंचे हो पर हमें केवल इतना लगता है कि इतना निराश होने की जरूरत नहीं है।

रेक्स: मैं निराश नहीं हूं, जिस दिन से मैं आया हूं मैंने कहा है कि मैं एक साल के अंदर इसे पुरस्कार दिलवाऊंगा।

साधना: किस पहलू को लेकर नर्गिस व मल्होत्रा ने इसकी प्रशंसा की थी।

विजय: इस कार्यक्रम के भाग लेने वालों को मौका मिल रहा है लेखो इत्यादि से अपने विचार एक दूसरे तक पहुंचाने का।

अनिल: यह बहुत महत्वपूर्ण बात है। शिक्षा की पत्रिकाएं या तो ऐसी होती है जो शिक्षा पर शोध की जानकारी लोगों तक पहुंचा देती है या वे ऐसी होती है जो शिक्षाविदों के लिये समाचार पत्रिका टाईप होती है कि अमुक आदमी लंदन चला गया आदि। या कॉलेज और हाईस्कूल की रद्दी, हवा में उड़ने वाली, पलायनवादी दिशा में जाने वाली कविताओं वाली पत्रिकाएं। अभी डी.पी.आई. का प्रयास कि लोग अपने आसपास के भूगोल और इतिहास को ढूंढकर कुछ लिखें, भी बेकार गया। बिना अध्ययन स्कूल में बैठकर कुछ भी लिख दिया। तो इस प्रकार के अनुभव- जनित विचार, अनुभव-जनित सिद्धांत आप प्रकाशित करें, उन पर चर्चा करें, इस तरह की कोशिश ही नहीं है शिक्षायी पत्रकारिता में। इस मायने में यह एक बिरली पत्रिका हो जाती है हालांकि अभी इस तरह का हिस्सा काफी कम है और बाकी प्रक्रियाओ से जुड़ाव नहीं है।

रेक्स: यह जुड़ाव वाला पहलू बहुत महत्वपूर्ण है। जैसे, मासिक गोष्ठी का अजेण्डा पहले ही बुलेटिन में छाप दे।

हार्डी: मैं एक बात कहना चाहता हूं कि पिछले कई अंको में हम परीक्षा प्रश्न- पत्रों की समीक्षा छापते रहे है। मुझे उन समीक्षाओं को पढ़कर नहीं लगा कि मैं उनसे कुछ ढूंढ सकता हूं। उन समीक्षाओं में केवल प्रश्न पत्र की अच्छाइयां और कमियां लिखी है। एक तो नया पहलू जो रेक्स कह रहा है वह है और एक नया पहलू है लोगों की विषय की समझ बढ़ना। लोगों की अभिव्यक्ति बढ़ती है तो बहुत आत्मविश्वास आता है।

गुप्ते: मासिक गोष्ठियों में कई शिक्षकों ने कहा कि आप इसका उद्देश्य निर्धारित नहीं करेंगे तो यह एक खिचड़ी बन जायेगी।

अनिल: ऐसा कहा जा रहा है कि इसी पत्रिका का एक हिस्सा बच्चों के लिये हो, एक शिक्षकों के लिये हो आदि-आदि। यह कैसे होगा मैं समझ नहीं पाता हूं।

रेक्स: अभी मेरे दिमाग में भी स्पष्ट नहीं है।

पुरे: हर कॉम्पलेक्स को 2 पेज दे दिये जायेंगे। वे वहीं से तैयार होकर संपादित होकर आया करेंगे। 2-3 लोगो की कमेटी बना दी गयी है धार में जो वहां से दो पन्नों की सामग्री देगी।

अनिल: यदि इस प्रकार तिरला और उज्जैन में भी हो जाए तो करीब 6 पन्ने लगातार मैदानी अनुभव के आधार पर लोगों द्वारा लिखे हुए होंगे। जो काफी बड़ी बात होगी अपने आप में।

साधना: रेक्स भविष्य की योजना को थोड़े विस्तार में बताओ?

सुशील: अभी जो बुलेटिन निकल रहा है वह बहुत रियायत पर है, विज्ञापन आदि भी नहीं लिये जाते। इसके लिये क्या किया जायेगा।

रेक्स: रजिस्टर करना और नाम बदलना होगा। छपाई खुद कर सकते हैं यदि प्रकाशन के लिये साधन उपलब्ध होंगे तो। 4-5 हजार कॉपियां छापते हैं तो खर्चा करीब 12-13 हजार रूपये आयेगा। हम सोचते है कि इसे एक रू.

में बेचे ऐसे 5,000 रूपया मिलेगा। बाकी 7,000 में से करीब 4 एक हजार रूपया विज्ञापन से मिलना चाहिये। 3000 रूपये की रियायत तो देनी ही होगी। यदि रियायती कागज मिलता है तो कागज का खर्चा 25% कम हो जायेगा।
अनिल: 25% कागज का खर्चा सम्भालते-सम्भालते हालत खराब हो जायेगी।

परीक्षा-अनीता रामपाल

परीक्षा को लेकर चर्चा के लिये एक ढांचा प्रस्तुत कर देती हूं। इसके बाद कहां-कहां चर्चा की जरूरत है वह बता दूंगी। परीक्षा भी प्रशिक्षण का एक हिस्सा है व जब तक परीक्षा और प्रशिक्षण की एक जीवंत कड़ी नहीं बनती तब तक न परीक्षा का कोई मतलब है न प्रशिक्षण का। जो पढ़ाया जा रहा है वह कितना समझ में आया, नहीं आया, कहां तक आया, इनकी परख ही परीक्षा है। मेरा अपना नजरिया है कि वास्तव में परीक्षा का मतलब वही होगा जिसमें शिक्षक परीक्षा ले रहा है अपने छात्रों की। पर यह भी एक बहुत बड़ा सवाल है कि सबसे सही परीक्षा क्या होगा? क्योंकि कुछ व्यवहारिक दिक्कतों के कारण वार्षिक परीक्षा लेनी पड़ती है। परीक्षा छात्रों की ही नहीं हमारी भी है। परीक्षा के तीन हिस्से थे 1. लिखित 2. मौखिक (प्रायोगिक) 3. आंतरिक।

लिखित में केवल लिखित अभिव्यक्ति की परीक्षा होती है, मौखिक की नहीं। इसलिये मौखिक या प्रायोगिक परीक्षा का विचार आया। मौखिक परीक्षा में काफी लोगों की जरूरत होती थी ऐसे में ही हम जैसे लोग जुड़े थे। पर मौखिक बातचीत के आधार पर अंक देना बहुत व्यक्ति आधारित हो जाता था। इससे अंक देने में काफी विविधता होती थी। इसलिये तब तय हुआ कि प्रायोगिक परीक्षा का ढांचा बदला जाये। तब छोटे-छोटे सवालों वाला प्रायोगिक प्रश्नपत्र दिया गया जिसमें बच्चों को प्रयोग करके उत्तर लिखने होते थे। प्रायोगिक कौशल का मौके पर मूल्यांकन नहीं कर सकते यह सीमा है। तब प्रयोग संबंधी छोटे-छोटे प्रश्न देने का निर्णय हुआ ताकि हम कुछ तो निर्णय कर सके कि उत्तर प्रयोग के आधार पर दिया है या ऐसे ही। वास्तव में आंतरिक मूल्यांकन भी गिना जाना चाहिये, ऐसा प्रमोद ने हमेशा कहा। जब तक हम अपने शिक्षकों को इतना आत्मविश्वास व इज्जत नहीं देंगे कि वे अपने बच्चों का मूल्यांकन स्वयं करे तब तक परीक्षा का मतलब नहीं होता। ऐसा करने पर दिक्कते बहुत प्रकार की थी। हमने देखा इतने दबाव शिक्षको पर है इस परीक्षा को लेकर जैसे उनकी पदोन्नति रूक जाती है आदि। इसलिये चर्चा के दौरान शिक्षको ने बताया कि हम सब चाहते है कि हमारे

स्कूल का परिणाम अच्छा आये। इसलिये 15 नंबर देकर शिक्षकों के आत्मविश्वास को उभारने वाला प्रयोग सफल नहीं रहा। लिखित- क्योकि हमारा प्रशिक्षण व सिखाने की प्रणाली अलग है इसलिये हम परीक्षा में जांच करना चाहते हैं कि जो कौशल हम विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं वे विकसित हुए अथवा नहीं। परीक्षा में पुस्तक लाने की अनुमति है। इसलिये प्रश्न ऐसा न हो जो उनको कहीं मिल गया और वे रटकर चले आये या पुस्तक व अपनी अभ्यास पुस्तिका देखकर लिख दिया। प्रश्न ऐसा हो जिसका उत्तर स्वयं सोच कर देना पड़े। उदाहरण के लिये, परंपरागत प्रश्न और हमारे प्रश्नों में उत्तर देखिये:

परंपरागत प्रणाली का प्रश्न

1. पृथक्करण करने की तीन विधियां लिखो
   (क) उर्ध्वपातन (ख) क्रोमेटोग्राफी (ग) आसवन
2. कपूर और नौसादर के मिश्रण में से दोनों को अलग-अलग कैसे करोगे?

इससे स्पष्ट है कि इन प्रश्नों के उत्तर रटंत के आधार पर दिये जा सकते हैं।

हमारे प्रणाली का प्रश्न

तालिका

पदार्थ का नाम	पदार्थ का गुणधर्म
----------	----------
----------	----------

तालिका के बाद प्रश्न दिए जाते है जिनके उत्तर इसी तालिका में दी गयी जानकारी व पृथक्करण के सिद्धांतो की समझ के आधार पर सोच कर दिये जायेंगे। कई बार हमारे प्रश्नों में भी गड़बड़ियां होती रही है। हमने शुरू में कुछ ऐसे प्रश्न अवश्य दिए होंगे परंतु अनुभव के आधार पर हमारे प्रश्न पत्र की शैली भी बदली है। 'मूल अवधारणा' की समझ भी बनी है । 1975-76 के प्रश्नपत्रो में दशमलव पर प्रश्न नहीं थे। पर 1977 में दशमलव की गुणा का प्रश्न है। 1980 में एक प्रश्न दिया है कि 1.50 व 1.5 में से कौन बड़ा है।

अनुभव से मालूम हुआ की दशमलव में बच्चे कितने कमजोर है; इसलिये दशमलव पर खास जोर देने के लिये तब से एक प्रश्न हमेशा लिखित के प्रश्न पत्र में डाला गया। इसी से हम आते है ' मूल अवधारणा ' पर। हमें लगा दशमलव इतनी बुनियादी चीज है कि इसे बिना सीखें मिडिल पास नहीं होना चाहिये। 'मूल अवधारणाएं' इसी प्रकार की और भी है। भाषा में सुधार हुआ अनुभव से मालूम हुआ कि भाषा की दिक्कत के कारण बच्चे लंबे प्रश्न पढ़ ही नहीं पाते थे और इसलिये उत्तर नहीं लिखते थे। इसी प्रकार जिन प्रश्नो में हम बच्चों से काफी लिखने की अपेक्षा करते थे उसमें भी बच्चे लिख नहीं पाते थे। इसलिये अब हमने अपने प्रश्नपत्र को छोटे-छोटे भागो में बांटा है।

हमारे कई प्रश्नपत्रो में कई बार ऐसे प्रश्न बने है जिनमें प्रश्नो की अस्पष्टता के कारण उत्तर ठीक नहीं मिले है। प्रश्न उठा कि इसका बारीकी से विश्लेषण कैसे करेंगे और इसको कैसे सुधारेंगे। इसके लिये हमने अंको का पुनर्निर्धारण करने की विधि को अपनाया है। इससे हम यह मानकर चलते है कि हमारा प्रश्नपत्र एक संतुलित प्रश्नपत्र है। पर यदि इसमें कोई ऐसा प्रश्न है जिसमें लोगों को या तो हमारी भाषा समझ में नहीं आयी या हमारी अपेक्षा ज्यादा रही तो इसको कैसे सुधारें? इसके लिये हम उत्तरों का प्रश्नवार विश्लेषण करते हैं और तय करते हैं कि किन प्रश्नों में बच्चों ने बहुत कम नंबर लिये और किन में बहुत ज्यादा। ज्यादा अंक वाला प्रश्न बहुत आसान प्रश्न रहा होगा। इन अंको के आधार पर हम फेसीलिटी और डिस्क्रिमिनेशन इंडेक्स निकालते हैं और इनसे कुछ गणनाएं करके अंकों का पुनर्वितरण करते हैं। इस दौरान मूल अवधारणा के प्रश्नों को हम नहीं छेड़ते हैं यानी उनके अंग नहीं बदलते हैं। ये प्रश्न जैसे भी है यह चीज बहुत ही बुनियादी है और सबको आनी चाहिये इसके पीछे हमारी मान्यता यह है।

हार्डी: सकारात्मक बात लिखित परीक्षा के बारे में है। पिछले साल जो लोग प्रश्न बनाने आये थे उनकी परीक्षा की समझ व प्रश्न बनाने की क्षमता बहुत ही अच्छी हो गयी है। यह अभी के प्रश्नों में भी झलकता है। प्रश्न पत्रों का संतुलन एक ऐसा मुद्दा है जिसे वे अभी नहीं समझ पाए

हैं। प्रश्नो की भाषा के सवाल पर कई शिक्षको ने कहा कि आपकी कहानियां हमारे बच्चे समझ नहीं पाते है। सवाल को छोटा कीजिये। जिस गहराई से वे नये–नये विचार दे रहे थे मुझे दिल्ली के 1975-76 के दिन याद आये। दूसरी बात, पुर्ननिर्धारण की अवधारणा समझना बहुत मुश्किल है पर उसको व्यवहारिक रूप से कैसे करना है अब लोग समझ गये हैं।

विनोद: मैं पक्के तौर पर यह कह सकता हूं, पिछले साल के अनुभव से, कि शिक्षक पुनर्वितरण पूरी तरह से सीख गये है। पूरी प्रक्रिया यानी कापियां जमाना, फेसीलिटी व डिस्कीमिनेशन निकालना फिर सूत्र का उपयोग करके अंको का पुनर्वितरण करना सब।

हार्डी: दिक्कत प्रायोगिक परीक्षा की गंभीर है। यह सामाजिक परिस्थिति से जुड़ा हुआ है। परीक्षा और खासकर बोर्ड की परीक्षा का महत्व है। अब प्रायोगिक परीक्षा लेने का ढंग पुराने ढंग से भिन्न हैं। पहले कार्यकारी दल का सदस्य व सहायक शिक्षक की टीम जाती थी और मौके पर कुछ मूल्यांकन भी करती थी। बच्चों से छोटे –छोटे प्रयोग करवाना व प्रश्न पूछना यह तरीका था। कुछ लोगों ने तो गंभीरता से किये पर बाकी शिक्षकों ने घपला किया। इसलिये जो सही तरह से परीक्षा ले रहे थे उनकी बहुत प्रतिक्रिया हुई। और यह प्रतिक्रिया पूरी प्रणाली को लेकर हुई कि इस विज्ञान में तो नंबर आराम से मिल जाते हैं। एक तरीका इसे सुधारने का यह आया कि परीक्षा लेने वाली टोली परीक्षा प्रश्नपत्र बनाकर ले व अंक वहां न दे। उत्तर पुस्तिकाएं संगम केंद्र पर ले आये और अंक दे। दूसरा प्रस्ताव था कि जैसे हम लोग लिखित का प्रश्नपत्र बनाते थे वैसे ही प्रायोगिक परीक्षा का प्रश्न पत्र बनाने की कोशिश की जाये और इसको कार्यकारी दल के लोग स्कूलों में दें और इसका मूल्यांकन संगम केंद्र स्तर पर समूह में हो। इसमें कुछ सोचा गया था कि संगम केंद्र स्तर पर मूल्यांकन होने से जिसको जितने मर्जी नंबर देने वाली स्थ◌ाति पैदा नहीं होगी। शिक्षक पर भी पालक व अन्य स्थानीय लोगो का जोर कम हो जाता है। समूह में मूल्यांकन होने से कौन किसको कितने नम्बर दे रहा है यह पहचानना भी मुश्किल हो जाता है। दूसरा, समूह में प्रश्नों व मूल्याकंन के विषय में चर्चा हो पायेगी। लिखित प्रश्न पत्र के अच्छे बनने का कारण है कि वह प्रश्नपत्र सामूहिक रूप

बनता है। साथ ही लगातार हम लोगो का योगदान होता है व बहस एक ज्यादा ऊंचे स्तर पर हो पाती है। यह प्रायोगिक परीक्षा में नहीं हो पाता क्योंकि वह प्रश्नपत्र केवल 2 लोग बनाते हैं। इसके पीछे एक सैद्धांतिक सवाल है डी.एस.ई. ऑफिस ने न तो संगम केंद्रों पर प्रश्न पत्र बनाने और न ही मूल्यांकन करने की अनुमति दी है। उन्होंने कहा कि आपको जो कहना है वह मासिक गोष्ठियों में कह दीजिये। मौके पर प्रायोगिक कुशलता के मूल्यांकन को हटाने पर बहुत सारे शिक्षकों ने सवाल उठाये कि आप बात तो करते हैं कि प्रायोगिक कुशलता का

प्रशिक्षण होना चाहिये परंतु इसका प्रावधान ही नहीं रखते। यह कहने वाले दो–तीन तरह के लोग हैं। एक तो वे जो ईमानदारी से मूल्यांकन करना चाहते हैं, एक वे जिन्हें अब समझ में नहीं आ रहा कि अनुसंधान नंबर कैसे दें। मासिक गोष्ठी में जोरदार पैरवी हुई इसे रखने के लिये। मैंने व्यवहारिक दिक्कते बतायी। इस पर बड़े समूह में चर्चा करनी चाहिये । इन वस्तुगत परिस्थितियों में हम किस तरह की प्रणाली प्रायोगिक परीक्षा के लिये अपना सकते हैं। मुख्य सवाल है कि इन सब प्रश्नों के बावजूद क्या कार्यकारी दल को पूरी छूट दे देनी चाहिये? या प्रायोगिक कुशलता का मूल्यांकन हटा देना चाहिये या संगम केंद्र स्तर पर पर्चा बनाना चाहिये या एक ही पर्चा लिखित परीक्षा की तरह बनाया जाये?

गुप्ते: (प्रायोगिक परीक्षा की प्रयोग व्यवस्था चार प्रयोगों के आधार पर समझायी।) हाईस्कूल की परीक्षा में परीक्षक को चाय–वाय पिलाने का चक्कर, नंबर बढ़वाने का चक्कर जो कुछ होता है वह यहां भी होने लगा है।

साधना: प्रायोगिक कौशल के मूल्यांकन का प्रावधान हटा देने से प्रश्न बहुत सीमित हो गए थे। कोशिश क्या होती है कि एक प्रयोग हो और प्रयोग के विषय में जो कुछ भी कहना है वह लिखित प्रश्नों के आधार पर हो या चित्रों के आधार पर। दूसरा ज्यादा पचड़े में न पड़ने का रवैया हो गया है। कुछ घिसे–पिटे प्रश्न है जैसे, पत्ती या चूड़ी का क्षेत्रफल निकालना, फूल चिपकाना आदि जो हर जगह दिये जाने लगे है।

अनवर: फूल खोलकर चिपकवाना व 2-3 दिन के बाद देखा तो मुरझाने या टूटने से क्या कौशल का सही अंदाजा लगाया जा सकता है

यह समस्या शिक्षाको ने बतायी, पेश की। देखिये कहा यह गया है परीक्षको से कि वे वहीं मूल्याकंन करे या उसी दिन करे। पर इस पर आपका कोई नियंत्रण नहीं होता। अध्यापक कॉपियां अपने साथ ले जाता है फिर उनका मूल्यांकन वह कभी भी करें। 100-100,200-200 कॉपियां है कहां तक वहीं मूल्यांकन करेंगे। इसमें और भी बातें हैं जैसे मान लीजिए पत्ती का क्षेत्रफल निकालना है तो सही स्थिति तो वह होती जिसमें पत्ती का क्षेत्रफल निकालना है तो सही स्थिति तो वह होती जिसमें पत्ती प्रश्नपत्र के साथ रखी जाती जिसको रखकर परीक्षक मिलान करता परन्तु ऐसा नहीं किया जाता है।

हार्डी: जो पहला सवाल है उसके संदर्भ में यह कहना है कि नियम के अनुसार कुछ सीमा है प्रायोगिक परीक्षा लेने की। फूल का मूल्यांकन 2-3 दिन तक किया है। अनुभव है फूल इतनी जल्दी सूखकर टूटता नहीं हैं।

पहला सवाल विश्वास का है।

दूसरा सवाल प्रायोगिक परीक्षा के दायरे का है।

तीसरा सवाल प्रायोगिक परीक्षा का उद्देश्य क्या है?

अनिल: लिखित परीक्षा में जब जिला स्तर पर प्रश्न पत्र बनाने की बात हुई तो गोपनीयता की बात उठी और कहा गया ये 3-4 शिक्षक मिलकर प्रश्न पत्र नहीं बनाएंगे। एक–एक शिक्षक अलग–अलग प्रश्न पत्र बनायेगा और एक मॉडरेटर होगा जो इन प्रश्न पत्रों में से या तो एक को चुन लेगा या इनमें से जोड़कर प्रश्न पत्र बनायेगा। हम लोगों ने 2

सालों तक लड़ाई लड़ी कि इस प्रकार जब अलग-अलग होकर प्रश्न बनाते हैं तो प्रश्नों का स्तर अच्छा नहीं होता। बहुत समझाया तब कहीं 2 वर्षों के प्रयास के बाद माना कि 3-3 शिक्षक मिलकर प्रश्न बनायेंगे।

मैं परीक्षा की एक बिल्कुल भिन्न भूमिका देखता हूं और मैंने इस भूमिका को हमेशा ज्यादा महत्व दिया है। एक पूरी प्रणाली के ऊपर एक लगातार दबाव रखना एक खास दिशा में आगे बढ़ने के लिये। आज हमारी परीक्षा के कई सिद्धांत टूट चुके है। इसके बावजूद इसका जो असर होता है वह परंपरागत परीक्षा से अलग है। इसकी दिशा ही अलग है। अब अधिकतर शिक्षकों को, वे माने या न माने, यह

दें तो इस परीक्षा में अवधारणाओं की स्पष्टता आवश्यक है। यदि बच्चों को ग्राफ बनाना नहीं आता, दूरी नापना नहीं आता तो बच्चे पास नहीं होंगे। अब कई मायनों में हमारी परीक्षा सीमित हो गयी है कुछ अध्यायों से प्रश्न आते ही नहीं है, मौके पर मूल्यांकन नहीं है। इसके बावजूद भी एक खास दिशा में आगे बढ़ने का लगातार दबाव बना रहता है और यह अपने आप में गुणात्मक रूप से बहुत आगे हैं परंपरागत परीक्षा से। जहां पर न दशमलव का दबाव था, न दूरी नापने का दबाव था, न वर्गीकरण का, न नक्शे बनाने का, न ग्राफ का दबाव था कुछ भी नहीं था। परंतु इसकी सीमाएं भी स्पष्ट हो गयी है। मौके पर मूल्यांकन वापस डालेंगे तो फायदा भी होगा नुकसान भी। लिखित परीक्षा के टाइम पर टीम वर्क हो या न हो ये सब अब सीमित फर्क डालेंगे। मुझे लगता है हमें दूसरा नजरिया अपनाना चाहिये। इस परीक्षा से जो मूल्यांकन हो रहा है, उसे हम गौण परीक्षा कहेंगे। हम इससे एक ज्यादा महत्वपूर्ण काम करें परीक्षा का जो इस प्रणाली पर और ज्यादा दबाव डाले। जिसकी विश्वसनीयता, प्रतिष्ठा इस परीक्षा से कई गुना ज्यादा हो। वह परीक्षा इस परीक्षातंत्र से प्रसारित न की जाए। वह परीक्षा एकलव्य को उसी तरह से प्रतिपादित करनी पड़ेगी जिले स्तर पर, संभाग स्तर पर, प्रदेश स्तर पर जिस तरह से के.एस.एस.पी ने की। उनकी कल्पना थी कि वे समाज में विज्ञान को लेकर ऐसे मूल्य स्थापित कर देंगे जिन मूल्यो के लिये आगे बढ़ने के लिए पूरे समाज से दबाव है और उन्होंने अपने ढंग की परीक्षाएं जनता में चलाई जो समाज से जुड़ी हुई है, पर्यावरण से जुड़ी हुई है, वैज्ञानिक कुशलताओं व वैज्ञानिक विचारों से जुड़ी हुई है। उन्होंने इनको इतनी प्रतिष्ठा दे दी कि यदि जिले स्तर पर परीक्षा हुई व उसका पारितोषिक वितरण है तो वह किसी बड़े आदमी के द्वारा होगा। बच्चों के फोटो अखबार में छपवाये जिन्होंने परीक्षा दी थी। उनके नाम छपे, पुरस्कार मिले, छात्रवृत्तियां दिलवायी और खूब हल्ला किया। उनके द्वारा प्रसारित 3-4 परीक्षाएं मीडिल, हाई स्कूल व कॉलेज तक के बच्चों के लिये है।

विनोद: यह परीक्षा स्कूली शिक्षा की मिडिल या हाई स्कूल की परीक्षाओं की बात नहीं है अब।

अनिल: अलग तरह से प्रतियोगिताओं की परंपरा स्थापित की। पहेलियां है, प्रतियोगिताएं है । मुख्य सिद्धांत है विज्ञान और समाज की कड़ी को स्थापित करना दूसरा, वैज्ञानिक कुशलताओ व विचारों का महत्व स्थापित करना था और इन तीनो बातों को ध्यान रखकर उन्होंने प्रतियोगिताओं को खास ढंग का मोड़ दिया। उनको क्षेत्रीय स्तर पर, प्रदेश स्तर पर विकसित किया और प्रतिष्ठा का सवाल बना दिया कि उनमें 50-60 हजार तक बच्चे व युवा भाग लेते हैं अपनी खुशी से। मान लीजिये। संगम केंद्रों पर प्रतियोगिता होगी ब्लॉक स्तर पर व 10 चुने हुए बच्चों को इनाम लेने के लिये बुलाया जायेगा अपने खर्चे पर या उनको आप छात्रवृत्ति देंगे जो भी करें तो क्या भागीदारी नहीं होगी? और उन्होने इसे सीधा मध्यमवर्गीय आकांक्षाओ के साथ जोड़ दिया है। उन्होने वर्ग के सवाल खड़े नहीं किये । आज पूरे केरल में इन प्रतियोगिताओ की बहुत प्रतिष्ठा है। व्यवहारिक स्तर पर परीक्षा में ज्यादा मेहनत डालकर सुधारने के चक्कर में परेशान मत होइये बल्कि तंत्र के बाहर से काम कीजिये। एक समांतर प्रतियोगी प्रणाली स्थापित कीजिये।

अनवर: यह ठीक है इसका बहुत असर भी पड़ेगा पर अभी एकलव्य और किशोर भारती की जिम्मेदारी है स्कूल कार्यक्रम चलाने की तो इसलिये जो इम्तहान लिया जाता है उसका पूरा असर होता है प्रोगाम के ऊपर और इसलिये हमारे लिये यह जरूरी कि सोचे कि इम्तहान फिर भी होते रहेंगे हर हालत में।

अनिल: मैं परीक्षा के महत्व को नहीं नकार रहा हूं परन्तु साथ ही एक समांतर प्रक्रिया की बात कर रहा हूं। यदि आप यह नहीं करेंगे तो आप दिशा का दबाव नहीं रख पायेंगे।

विजय: हमने भी एक कोशिश की स्कूल के शिक्षकों को परीक्षा में जोड़ने की तब वहां ये विरोधाभास उभर कर आए कि शिक्षाक अपने स्कूल का फायदा करवाना चाहते है क्या ये दबाव केरल में नहीं बनते है?

अनिल: बनते है। वहां भी कोचिंग क्लासेस चालू हो गयी है, प्रतिष्ठा का प्रश्न तो है। परन्तु वहां पर परीक्षा का नियंत्रण

के.एस.एस.पी. के हाथ में है। वे नियम तय करते हैं। इसलिये गुणात्मक स्तर बड़ा ऊंचा है। उतनी आसानी से बिखराव नहीं होता।

विजय: वहां भी बिखराव होगा ऐसा मुझे लगता है यदि उसको विशेष रुप से संभाला नहीं गया तो।

साधना: कैसे मालूम की बिखराव नहीं है?

अनिल: बात हुई थी परमेश्वरन से। फर्क बहुत सीधा-सादा है । जैसे, आप बनखेड़ी की उच्चतर माध्यमिक शाला में परीक्षा करते हैं जहां निरीक्षक आप हैं और इस ग्रुप की कुछ शक्ति है ईमानदारी से निरीक्षण करवाने की।

विजय: प्रदेश स्तरीय परीक्षा की बात करें तो ग्रुप की शक्ति कैसे हैं?

अनिल: अभी प्रदेश स्तरीय की बात नहीं कर रहा हूं। पहले व्यवहारिकता की बात न करके सिद्धांत की बात कर ले।

विजय: व्यवहार की बात करना इसलिये जरूरी है क्योकि सिद्धांत के स्तर पर हमने एक परीक्षा प्रणाली खड़ी की और अब देख रहे हैं कि सामाजिक दबाव के कारण उसकी क्या हालत हो रही है।

अनिल: सिद्धांत के स्तर पर दोनों चीजें बहुत अलग है।

विनोद: हम थोड़े मुद्दे से अलग हो रहे हैं। मुझे यह लगता है कि बात की कड़ी यह होनी चाहिये थी कि हम जिस शिक्षा प्रणाली की बात कर रहे हैं उसमें क्या हम एक सीमा पर पहुंच गए हैं और अब एक ही तरीका है करने का कि समांतर प्रणाली बनाएं? और फिर वह समांतर प्रणाली कौन-सी है? के.एस.एस.पी. वाली या कोई और व के.एस.एस.पी. वाली प्रणाली क्योंकि वहां सफल है व यहां हो सकती है या नहीं कि उसकी सफलता के बहुत राजनैतिक और सामाजिक कारण है उस पर अलग से बात कर सकते हैं। मुख्य बात है कि स्कूली परीक्षा में कोई गुणात्मक सुधार हम छोड़ दें और समांतर प्रणाली की बात करें या पहले बात करे कि अभी भी कुछ किया जा सकता है या नहीं? मुझे लगता है स्कूली परीक्षा की बात बिल्कुल रह जायेगी।

हार्डी: अभी ध्यान केंद्रित स्कूली परीक्षा पर करें तो बेहतर होगा।

अनिल: मैं बिल्कुल यह नहीं कह रहा हूं कि हमारी चलती हुई परीक्षा

प्रणाली की कमियों को दूर करने को हम तैयार न हो । यह बिल्कुल कीजिये। परन्तु एक दूसरा पहलू जिसे आज कीजिये या एक साल बाद वह है समांतर प्रणाली का। अब दोनो पर अलग-अलग सोचिये दोनो के अलग-अलग महत्व हैं। कोई एक-दूसरे को हटाता नहीं है।

साधना: आज तक जो परीक्षा ली जाती रही क्या वह जरूरी है? क्या उस पर नए ढंग से सोचा नहीं जा सकता शायद विजय ने यह पूछा था। कुछ गहरे मुद्दे उभरे हैं जो समाज और शिक्षक दोनो से जुड़े है। शिक्षक पर अच्छा परिणाम लाने के लिये कैसा आर्थिक दबाव होता है, बुरा परिणाम आने पर तरक्की रूकती है। कुछ बहुत ईमानदार शिक्षक बिना हमारे किसी व्यवस्थित प्रयास या सर्वेक्षण के सामने उभरे हैं जिनका खुद का बहुत रोष है आज के गिरते हुए परीक्षा स्तर को लेकर। तो दो बाते है। एक तो औसत शिक्षक में कुछ विश्वास रखकर एक बार दोबारा से सोचना चाहिये कि आंतरिक मूल्यांकन को कैसे सार्थक बनाया जा सकता है। क्या यह संभव है या इसको भूल ही जाना चाहिये? इसके बारे में सोचें और प्रायोगिक स्तर पर लागू करने का प्रयास करे। इससे परीक्षा का महत्व अपने आप घटेगा। एक छोटे स्तर पर भी संभव होता है तो आंतरिक मूल्यांकन का हिस्सा बढ़ाने की भी सोची जा सकती है। क्या इसी प्रणाली में कुछ बुनियादी परिवर्तन के बारे में सोचा जा सकता है? हम वैसे ही कुछ ऐसे उद्देश्य पा चुके हैं जैसे परीक्षा में खुली किताब, जो आज जिले स्तर पर लागू है और छोटी -मोटी बात नहीं है। ऐसे ही टीम में बैठकर प्रश्न पत्र बनेंगे यह हम मनवा पाये हैं तो क्यों नहीं हम आंतरिक मूल्यांकन के बारे में कुछ कर सकते?

बृज: प्रायोगिक परीक्षा को थोड़ा व्यापक बनाना चाहिये। प्रदर्शनियो में बच्चे मॉडल बनाते है। उनको मूल्यांकन का अंग बनाना चाहिये वह खुला प्रदर्शन है उनके कौशल का। कितना व्यवहारिक है मालूम नहीं पर कम-से-कम कहना चाहता था।

खरे: प्रायोगिक परीक्षा में जो परेशानी आ रही उसमें हमें आंतरिक मूल्यांकन पर नये तरह से सोचना चाहिये। हमेशा आंतरिक परीक्षा में पास होने पर बाह्य परीक्षा में पास माना जायेगा,

ऐसा कहा जाता है परंतु अंत में आंतरिक परीक्षा का मूल्य कम कर दिया जाता है। मासिक इकाईवार मूल्यांकन में आंतरिक मूल्यांकन पर जोर देना चाहिये। इस मूल्यांकन की सही गलत की जांच कार्यवाही दल सदस्यों को अपने अनुवर्तन के दौरान करनी चाहिये। यदि फिर भी यह प्रयोगात्मक स्तर पर सफल नहीं होता तो सोचना पड़ेगा। पर यदि सफल होता है तो प्रायोगिक परीक्षा के अंक इसी के आधार पर दिये जा सकते हैं। जब वार्षिक परीक्षा होती है तो मास्टर के ऊपर दबाव रहता है परंतु यदि लगातार आंतरिक मूल्यांकन होता रहेगा तो मास्टर के पास भी एक ढाल रहेगी कि भई अब हम कुछ नहीं कर सकते आंतरिक मूल्यांकन में इसके अंक बहुत खराब है।

अरविंद: पहली बात, आंतरिक मूल्यांकन में इकाईवार योजना के तहत कोई भी सुधार करना सबसे आसान है। यदि कोई नया कदम लेकर शिक्षा विभाग के पास जाएंगे तो शायद आसान न हो परंतु मौजूदा प्रणाली विकृत रूप में चल रही है और उसमें सुधार करना चाहते हैं तो यह समझाना शायद संभव हो पाये। दूसरी बात, खरे साहब के समर्थन में बुनियादी रुप से बहुत अच्छा विचार हैं कि बच्चे का समय- समय पर सुधार होता रहे। इसलिये इसमें कुछ किया गया तो सुधार की गुंजाइश है।

अनिल: आंततिक मूल्यांकन को लेकर एक टिप्पणी मैंने लिखी है। उसे पढ़ देता हूं ताकि उसकी सारी समस्या व्यवस्थित रुप से सामने आ जाएं। सतत मूल्यांकन, इकाईवार योजना के तहत मूल्यांकन, आंतरिक मूल्यांकन को लेकर क्या-क्या प्रयास हुए हैं हमारे व अन्य लोगो के द्वारा वह सामने आ जाए।

(परीक्षा के प्रपत्र से यह पढ़ा गया। यह प्रपत्र हो.वि.शि.का. की शैक्षणिक फाइल व परीक्षा फाइल में उपलब्ध है। आगे की काफी चर्चा रिकॉर्ड नहीं हुई है।)

अरविंद: ये निर्णय हुए है कि धार और उज्जैन केंद्र में कक्षा छठी की परीक्षा को मुद्दा बनाकर परीक्षा के विषय में व्यापक बातचीत की जाये। दूसरा, परीक्षा में गड़बड़ियों को लेकर कुछ कार्यक्रम आदि आयोजित किए जाएं। तीसरा मासिक गोष्ठियों में परीक्षा के मूल्यांकन में

वस्तुनिष्ठता को लेकर काम किया जाये। चौथा, शासकीय कर्मचारियों के यहां जो बातचीत हुई है उससे व हम जो करना चाहते है उससे पूरी तरह से परिचित कराया जाये। पांचवा, परीक्षा की जो भी जानकारी उपलब्ध है उसे इकट्ठा करके बड़े पैमाने पर फैलाया जाये। अधिकारियों से चर्चा का अर्थ था कि हमें परीक्षा या मूल्यांकन के आर्डर सरकारी तंत्र से ही निकलवाने पड़ते है और यदि हम अन्तिम समय में बिना पूरी जानकारी दिये उनसे आर्डर निकलवाने पहुंच जाएं तो उनकी प्रतिक्रिया होगी। वे कहेंगे कि आप सारे निर्णय करके हमें अन्तिम क्षण में आकर बताते है।

हो.वि.शि.का. मूल्याकंन- डॉ. अरविंद गुप्ते

अरविंद- मूल्यांकन का प्रश्न तो किसी भी कार्यक्रम से जुड़ा होता है। 3 पहलू होते हैं:

1. शैक्षणिक मूल्यांकन- जो भी काम किये जा रहे हैं उससे उद्देश्य जहां तक भी पूरे हो रहे हैं यह अहसास हो पाये।
2. प्रशासनिक पहलू: कार्यक्रम सरकारी तंत्र में है इसलिये कहीं- न- कहीं तो प्रशासन उत्तरदायी है। कार्यक्रम का आगे प्रसार किया जाये या नहीं उसके लिये कुछ आधार चाहिये। जो लोग सीधे जुड़े हैं उन्हें एक अहसास हो सकता है। परंतु प्रशासन का काम इस प्रकार की भावना के आधार पर नहीं चलता

उनको कोई ठोस प्रमाण चाहिये होता है। जिसको आंकड़ों वाली रिपोर्ट से पूरा किया जा सकता है ताकि उठने वाले प्रश्नों के उत्तर सही–सही दिये जा सकें।

3. सामाजिक पहलू: जब कोई नवाचार का कार्यक्रम शुरू होता है तो उसका प्रभाव समाज पर पड़ता है। समाज में कार्यक्रम को लेकर कुछ प्रश्न होते हैं, कुछ शंकाएं होती हैं। समाज में इसको लेकर कई तरह की प्रतिक्रियाएं है:

(क) उदासीन: ऐसे लोग जो सीधे प्रभावित नहीं हैं इसलिये कुछ लेना देना नहीं होता कार्यक्रम से। ऐसे पालक जो बच्चों की शिक्षा पर अपना ध्यान किन्ही कारणवश नहीं रख पाते उन्हें भी कार्यक्रम से कुछ लेना–देना नहीं रहता।

(ख) पक्ष में प्रतिक्रिया कारण–

1. किशोर भारती या अनिल भाई के जानने वाले अर्थात जो अनिल भाई व साथी कर रहे हैं वह अच्छा ही होना चाहिये। मुख्य आधार विश्वास है। ये लोग इसको समझे बगैर, शैक्षणिक व अन्य पहलू समझे बगैर समर्थन देते हैं।
2. दूसरे कुछ लोग जो मान्यता प्राप्त सिद्धांतों को कहीं न कहीं समझते हैं और समर्थन देते हैं। जनता के लोग कम है। शिक्षक लोग हैं अधिकतर पर ऐसे लोग कम है।

(ग) विरोधी प्रतिक्रियाएं:

1. जो किशोर भारती के खिलाफ है इसलिये वे इससे भी खफा है।
2. कार्यक्रम से तकलीफ नहीं पर इस व्यवस्था पर अविश्वास है। वे कहते हैं कि शासकीय तंत्र इतना खराब है कि ऐसे कार्यक्रम के क्रियान्वयन में गड़बड़ होगी ही। इसलिये कार्यक्रम से लाभ कम है हानि अधिक हो सकती है। ऐसे लोग कहते हैं कि शिक्षक नहीं पढ़ाते हैं तो बच्चों का नुकसान होता है वे उत्तर कहां से पाएं। पहले किताबों में कम से कम उत्तर तो मिलते थे। वैसे कार्यक्रम अच्छा है।

(घ) न समर्थक है न विरोधी पर आशंका है:

इसमें मुख्यत: मध्यमवर्गीय लोग हैं। पालक हैं जिनके बच्चे इस कार्यक्रम में है। इनको कोई आपत्ति नहीं होगी यदि यह आश्वासन मिल जाये कि आगे चलकर उनके बच्चों को कोई दिक्कत नहीं होगी। क्योंकि एक बात बहुत जोर से कही जाती है कि इस कार्यक्रम से जो बच्चे निकलते हैं उन्हें आगे चलकर परेशानी होती है/ होगी। उनको वास्तविक रूप से डर होता है।

इन सब प्रश्नों में उत्तर मिलना चाहिये। ये उत्तर मूल्यांकन से मिल सकते है। आंतरिक मूल्यांकन व बाहरी मूल्यांकन।

आंतरिक मूल्यांकन- आंतरिक मूल्यांकन परीक्षा से सीमित रूप में होता है। फीडबैक, अनुवर्तन आदि से भी हम आंतरिक मूल्यांकन गुणात्मक रूप से करते है। पर यह प्रश्न पूछने वालों को संतुष्ट नहीं करता क्योंकि वे उत्तर कार्यक्रम अच्छा है या बुरा है के रूप में चाहते हैं,

मूल्यांकन के आधार पर। यह आसान काम नहीं है, जिस स्तर पर प्रश्न पूछा जाता है लगभग उस स्तर पर उत्तर देने की आवश्यकता होती है।

इस कार्यक्रम के मूल्यांकन की मांग क्यों उठती है जबकि एन.सी.ई.आर.टी. या शासन के कार्यक्रमों के मूल्यांकन की मांग नहीं उठती। कारण, एन.सी.ई.आर.टी. व शासन स्थापित है इसलिये ये जो भी करेंगे, सोच समझकर करेंगे ऐसा मान लिया गया है और जो भी मानक वे स्थापित करते हैं वे ही मूल्य बन जाते हैं। इनकी किताबों में बहुत जानकारी हैं व दूसरी तरफ हो.वि.शि.का. की पुस्तकों में जानकारी नहीं है। बच्चों को प्रयोग करने का मौका नहीं मिल रहा है जिसके बारे में वे कुछ नहीं कर सकते (पालक आदि) और उनको लगता है कि जानकारी प्राप्त करने में उनके बच्चे पिछड़ गये हैं।

बाहरी मूल्यांकन को लेकर यह बात उठाई जाती है कि यह भी ठीक वैज्ञानिक मूल्यांकन नहीं होगा क्योंकि तुलना के लिये आधार नहीं हैं। संक्षेप में मूल्यांकन के प्रयास देखे तो पहला है कमल के द्वारा किया गया मूल्यांकन (नवीं व दसवीं कक्षा के हो.वि.शि.का. व गैर हो.वि.शि.का. के बच्चों के अंको के तुलना वार्षिक परीक्षा में)। सीमा यह थी कि हो.वि.शि.का. का नमूना छोटा था। गैर हो.वि.शि.का. का नमूना बड़ा था। यानी नमूने तुलनात्मक नहीं थे। यह सन 1977 में हुआ। दूसरा एम.एड. के पांच थीसिस पर आधारित है। 2 राज्य शिक्षा संस्थान के द्वारा, 2 क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के द्वारा व एक जबलपुर के शिक्षा महाविद्यालय के द्वारा करवाये गये हैं। उनके जांच के तरीके बहुत विवादास्पद हैं। जबलपुर के श्री नीमा की थीसिस में विधि की तुलना की गई। दो समूहो को 'आयतन' पढ़ाया गया। एक को हो.वि.शि.का. विधि से एक को प्रदर्शन विधि से और फिर उनकी (दोनों समूहों की) आयतन की समझ का परीक्षण किया गया।

जबलपुर वाले सज्जन का निष्कर्ष निकला है कि विज्ञान बच्चे हमारी प्रणाली से ज्यादा अच्छी तरह से समझे हैं। राज्य शिक्षण संस्थान भोपाल के दोनों थीसिस कार्यक्रम के प्रतिकूल हैं। उन्होंने क्या कहा है कि दोनो तरीको में कोई फर्क नहीं है।

इससे शायद उन्होनें यह निष्कर्ष निकाला हो कि जब दोनो बच्चों में कोई फर्क नहीं है तो इतनी मेहनत करने का क्या अर्थ है। उन्होनें बहुत सारी प्रश्नावलियां दी थी, परम्परागत प्रश्न दिये थे। उनके औजार बहुत विश्वसनीय नहीं थे। क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के थीसिस के लेखकों में से एक स्रोत दल के सदस्य थे व दूसरे राज्य विज्ञान शिक्षण संस्थान में पढ़ाते हैं उन्होंने हो.वि.शि.का. के उद्देश्यों पर प्रश्न बनाए थे जैसे अवलोकन करना, तर्कशक्ति जांचना आदि। ये प्रश्न उन्होंने होशंगाबाद के बच्चों को व बाहर के जिलों के बच्चों को दिये और तुलना की। दोनो का निष्कर्ष था कि होशंगाबाद के बच्चे बेहतर हैं। पर एम.एड की थीसिस साथ एक गड़बड़ होती है कि वे सितंबर-अक्टूबर में काम शुरु करते है- और बहुत जल्दी-जल्दी करते हैं। मेरा यह मत है इन पांचों थीसिस के बारे में सवाल उठाये जा सकते हैं।

अनिल: एक और मूल्यांकन जो कमल ने किया था। इसमें कमल ने बच्चों की तर्क शक्ति, अवलोकन शक्ति, विश्लेषण शक्ति, जिज्ञासा आदि जैसे वैज्ञानिक गुणों की परख के लिये प्रश्न दिये थे उसने बनखेड़ी के 8-10 स्कूलों में वि.शि.का. व गैर वि.शि.का. स्कूलों में ये दिये थे जो जवाब आए उसका मूल्यांकन करने पर बात अटक गयी क्योंकि कैसे मूल्यांकन करना है समझ में ही नहीं आया। वे प्रश्न पत्र आज भी पड़े हैं।

अरविंद: व्यापक स्तर पर व्यवस्थित मूल्यांकन के लिये डॉ. दाणी जो मनोविज्ञान के प्राध्यापक हैं उनसे संपर्क किया है। वे अतिरिक्त डी.पी.आई. रहे हैं व सेवा निवृत्ति के बाद भोपाल वि.वि. में प्रोफेसर रहे । अब वे फिर खाली है। उनके विषय में जानकारी है कि वे एक बहुत ही ईमानदार व सक्षम शिक्षायी मनोवैज्ञानिक है व उनके निष्कर्षों पर कोई संदेह नहीं करेगा। जब उनसे बात की तो उन्होंने रुचि दिखायी व एक प्रस्ताव बनाया। लेकिन उनके प्रस्ताव में थोड़ी दिक्कत थी। उन्होंने विद्यार्थियों के तीन नियंत्रण समूहों की बात की थी (1) जिसमें हो.वि.शि.का. की तरह से विज्ञान पढ़ाया जायेगा यानी सारी चीजें पुस्तक, प्रशिक्षण, अनुवर्तन आदि रहेंगे । (2) जिसमें पुस्तक परंपरागत होगी पर बाकी सारे हो.वि.शि.का. के तत्व होंगे व (3) जिसमें केवल परंपरागत पुस्तक से परंपरागत

ढंग से पढ़ाई होगी। नीमा के काम से वह थोड़ा फर्क होगा। यह देखना चाहेंगे कि क्या कोई फर्क पड़ रहा है ? यदि हां, तो वह कहीं किसी तल्ा विशेष के कारण तो नहीं पड़ रहा है। इस प्रस्ताव में मूल्यांकन के लिये 6 साल की समयावधि की मांग की। बजट करीब 13 लाख रू. का है। हमारा उद्देश्य इससे नहीं हल होता क्योंकि हमारा उद्देश्य यह जानना है कि अभी जो जिले स्तर पर कार्यक्रम चल रहा है या 16 रूकूलों में चला उसका क्या असर है। क्या बच्चों में कोई परिवर्तन आया है? क्या उन्हें हाई स्कूल में कोई दिक्कत आ रही है? सोचने का ढंग कुछ बदला है? उनसे फिर से बात की और उन्होंने कहा कि ऐसे मूल्यांकन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है क्योंकि परिस्थितियों की तुलना करना मुश्किल है। पर फिर वे माने और अपने मूल प्रस्ताव में एक भाग यह जोड़ा कि वे छठवीं से 11वीं तक के हर स्तर के बच्चों को इस कार्यक्रम के उद्देश्यों आधार पर प्रश्न बनाकर देंगे और देखेंगे कि उन गुणों का विकास हो रहा है अथवा नहीं। तुलना दूसरे जिले के बच्चों से होगी। उनका प्रस्ताव एरिक एन.सी.ई.आर.टी. को दिया है। जांच समिति के पास समय पर नहीं पहुंचा था अब अगली बार विचार होगा। डी.पी.आई. ने एक समीक्षा समिति बनाई है जिसके अध्यक्ष राज्य विज्ञान संस्थान के निदेशक है। यह समिति इस कार्यक्रम की समीक्षा करेगी। 14 सितंबर को इस समिति की पहली बैठक में श्रीमती देव ने कहा कि इस कार्यक्रम के बच्चे न केवल विज्ञान में बल्कि अन्य विषयो में भी पिछड़ रहे हैं। तब मेरे दिमाग में आया कि इसकी जांच करना तुल्नातमक दृष्टि से ज्यादा आसान है। होशंगाबाद संभाग के जिलो के अन्य विषयों के पेपर समान होते है। इनके परिणाम इकट्ठे करके तुलना करके ढूंढा जा सकता है कि क्या होशंगाबाद के बच्चे अन्य विषयों में पिछड़ रहे हैं? एक दूसरा तरीका है हाई स्कूल के बच्चों के अंकों की तुलना करना। 1984 में 1978 वाला बैच हाई स्कूल की परीक्षा में बैठेगा इसका प्रश्नपत्र पूरे प्रदेश स्तर पर एक ही है।

डॉ. दाणी संशोधित प्रस्ताव के बाद एकलव्य के लोगों के बीच बातचीत नहीं हुई। संशोधित प्रस्ताव के अनुसार पार्ट 'ए' में वे कुछ ऐसे प्रश्न बनायेंगे जिनके द्वारा विज्ञान की अवधारणा की समझ और अन्य गुणों का परीक्षण हो सके।

जो प्रश्न वे बनाएंगे वे बहुत ज्यादा विश्वसनीय होंगे, यह जरूरी नहीं है ऐसा उन्होंने प्रस्ताव में लिखा है। उनसे बात करने पर पता चला कि ऐसे टेस्टों को बार-बार देकर बेहतर करते हैं। इस प्रकार बने बेहतर प्रश्नों के आधार पर 2 जिलों में विद्यार्थियों की तुलना की जायेगी।

अनिल: डॉ. दाणी के प्रश्नों में क्या ऐसे गुणो के परीक्षण की क्षमता होगी? क्योंकि राज्य शिक्षा संस्थान में एक सज्जन ने शुद्ध याददाश्त के प्रश्नों के आधार पर ऐसा मूल्यांकन किया है।

अरविंद: नहीं ऐसा नहीं होगा, डॉ. दाणी एक प्रबुद्ध व्यक्ति हैं।

रेक्स: डॉ. दाणी का एक और गुण है कि वे खुले विचारो के व्यक्ति हैं। वे कहते हैं कि ऐसे तैयार परीक्षण उपलब्ध नहीं है और हमें परीक्षण करना है प्रवृत्तियों, समीक्षात्मक चिंतन जैसी चीजों का।

अरविंद: पार्ट 'बी' शैक्षणिक भाग होगा। वह पहले मैं बता चुका हूं। वह कैसे करेंगे अभी बहुत विस्तार में बात नहीं हुई है। परन्तु वे पता करना चाह रहें हैं कि इस विधि से फर्क पड़ रहा है या अन्य तत्वों से? स्कूल 5 या 10 होंगे। पार्ट 'बी' के तीन चरण है 2-2 साल के। पार्ट 'ए' में वे विज्ञान की अवधारणा और दृष्टिकोण देखने वाले परीक्षण बनायेंगे उनका कहना था कि नमूना इतना बड़ा लेंगे ताकि इसकी वैधता स्थापित हो जाए।

अनिल: एकलव्य की भूमिका क्या होगी?

अरविंद: उनका काम शुरू होगा तो हम लोगों के साथ लगातार संपर्क होगा। कम से कम शुरू में जब वे परीक्षण तैयार करेंगे आदि। पर हम यह चाहते थे कि काम एकलव्य के अंदर न हो ताकि उसकी वैधता आदि के प्रश्न खड़े न हों। इसीलिये एरिक से पैसे की बात हुई है।

विजय: डॉ. दाणी को चुनने का आधार क्या है?

अरविंद: सेवाराम व बेहार उनको अच्छी तरह जानते हैं और हम लोग भी मिलते रहे हैं।

अनिल: इनके कुछ पेपर पढ़े हैं?

अरविंद: नहीं, एक बार पचमढ़ी में इनसे अंको के पुनर्वितरण के सिद्धांत पर बात हुई थी।

साधना: पचमढ़ी में जब हो.वि.शि.का. मैं मूल्यांकन के तरीकों की बात हुई थी तब दाणी ने इतनी तेजी से पूरी भावना व अवधारणा को पकड़ा था कि उनकी क्षमता एकदम ही दिखने लगी थी।

अनवर: यह सवाल शायद विजय भी पूछ रहे हैं कि इसके अलावा उनको चुनने का क्या कोई और आधार है, खासतौर से तरीकों को लेकर? अभी तक हम जो चिंता देखते थे लोगों की कि यदि मूल्यांकन के कुछ नकारात्मक निष्कर्ष निकले तो उनका असर क्या होगा? यही बात एन.सी.ई.आर.टी. के साथ बातचीत के समय मन में रही ऐसा हमें लगता है। क्या कई मूल्यांकन नहीं होने चाहिये जिनमें कुछ सकारात्मक व कुछ नकारात्मक हो? आज तो

हम अपने से करवा रहे हैं मूल्यांकन पर जब हम फैलाव की बात करते हैं तो ऐसे अलग-अलग लोगों द्वारा किये गये मूल्यांकनों पर हमारा नियंत्रण नहीं होगा। ऐसी संस्था या लोग करवायेंगे जो एकदम स्वतंत्र होंगे। ऐसी स्थिति में बजाय मूल्यांकन करने वाले व्यक्ति की वैधता पर प्रश्न खड़े करने के हमें इन सारी चीजों (निष्कर्षो) पर बहस की तैयारी करनी चाहिये। लोगों की विश्वसनीयता पर प्रश्न खड़े करते रहना कहीं हमारे दृष्टिकोण और हमारे अंदर की कमजोरी दिखाता है।

साधना: अनवर यह सवाल हमेशा उठाता रहता है जिसमें अनवर की समझ बहुत संकीर्ण लगती है कि यदि नकारात्मक मूल्यांकन कर दिया तो उससे कोई डर है हमें। मेरी समझ में कारण यह नहीं है। मैं यह कहूंगी कि अन्य लोग जो मूल्यांकन करते हैं जो न तो कभी हमसे मिलते हैं न कभी हमसे बात करते हैं उनसे हमारा संपर्क नहीं है। उन्हें न हम नियंत्रण कर सकते हैं न करने का प्रयास ही करना चाहिये। इसलिये वे काम कर रहे हैं करते रहेंगे। यह मानकर चला जाता है। इनका सामना करने व सम्भालने की तैयारी है । हमारे खुद के भी हित हैं कि इस कार्यक्रम का मूल्यांकन हो उन्हीं कारणों से जो गुप्ते जी ने कहे हैं। साथ ही यह रहता है कि हम लोग मूल्यांकन से जुड़े न हो क्योंकि हम कार्यक्रम से जुड़े है। इससे क्या निष्कर्ष आयेंगे चिंता का विषय नहीं है। चिंता का विषय है कि यह मूल्यांकन गंभीरता से व सही ढंग से किया गया है या नहीं। मैं यह समझती हूं जो भी काम बाहर के लोग करेंगे वे पूर्णत: अपने

स्रोतों के आधार पर नहीं कर सकते उनको स्कूल में काम करने के लिये हमारी बहुत मदद चाहिये होगी और उसमें हम समय लगायेंगे, तो यह जरूर स्पष्ट होना चाहिये कि यह सब किस व्यक्ति के साथ कर रहे हैं। इसलिये हमेशा यह चिंता रहती है कि व्यक्ति खुद कितनी गहराई में उतरने को तैयार है?

विजय: हमारी इच्छा एक उचित व अच्छे मूल्यांकन की है जिनके आधार पर हम अपने अंतिम निर्णय ले पायें। ये बात नहीं होनी चाहिये कि एक बार मूल्यांकन हो गया फिर हमने मूलभूत बातों पर सवाल शुरू कर दिये और जब मैं शैक्षणिक योग्यता की बात करता हूं तो वह संदेह करने के लिये नहीं। मैं यह चाहता हूं कि हममें से कुछ को उनके काम का अध्ययन करना चाहिये। उनका झुकाव, आंकड़ों को देखने का तरीका, हमें कितना विश्वसनीय व युक्तिसंगत लगता है, यह जानकारी होनी चाहिये। साथ-साथ यह भी जानकारी होनी चाहिये कि मूल्यांकन की आधुनिक तकनीकों से वे कितना परिचित हैं। शैक्षिक कार्यक्रमों के मूल्यांकन के क्षेत्र में आजकल काफी काम हो रहा है। अक्सर जो जानकारी आती है वह आंकड़ो के रूप में नहीं होती हैं। आप आंकड़ों वाले तरीको से निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। बहुत सारी गुणात्मक जानकारी आती है। और आजकल गुणात्मक जानकारी का विश्लेषण करने के नये तरीके विकसित हो रहे हैं। यदि इन तरीकों को लागू करके मूल्यांकन करते हैं तो मूल्यांकन की रिपोर्ट ज्यादा विश्वसनीय होगी। इसलिये मैं कह रहा हूं कि डॉ. दाणी प्रोफेसर रह चुके हैं फिर भी इनकी शिक्षा पर प्रकाशित सामग्री दिखनी चाहिये। गुणात्मक जानकारी का विश्लेषण का काम है करते हैं या सामान्य आंकड़ों से ही

विश्लेषण करते हैं? वहां भी यदि करते हैं तो किस हद तक समझ है चीज की। यह कोई जरूरी नहीं है कि क्योंकि अच्छे मनोवैज्ञानिक है इसलिये आंकड़ों के विश्लेषण में भी बहुत साफ हो। इसलिये देखना चाहिये कि हम कितने संतुष्ट हैं स्थानीय परिस्थितियों के हिसाब से। क्योंकि जितना अभी विश्वास होगा उतना ही हम इनके निष्कर्षों को स्वीकार कर पायेंगे।

विनोद: दाणी साहब ने पहला प्रस्ताव दिया था उसमें जो तरीके उन्होंने लिखे हैं वे आजकल के स्वीकृत तरीके हैं। असल में मुझे कुछ आश्चर्य हुआ था कि उनको यह सब मालूम भी है। 7-8 साल का अनुभव है

इन चीजों का विश्लेषण करने का। शिक्षा व मनोविज्ञान की समस्याओं का मूल्यांकन करने के लिये जो सांख्यिकी तरीका बहुत अच्छा माना गया है वह सब उन्हें मालूम था और उसमें आत्मविश्वास भी था। मुझे वे शैक्षणिक दृष्टि से संतोषजनक लगे। जहां तक गुणात्मक जानकारी की बात है, इसका जिक्र नहीं है प्रस्ताव में। पता नहीं वह किया भी जा सकता है कि नहीं क्योंकि उसके तरीके भी इतने विकसित नहीं हैं।

विजय: तुम्हें याद है कि जब भाषा ग्रुप के साथी काम कर रहे थे तो सामान्य भाषा विकसित करने में कितनी दिक्कत हुई थी? विश्लेषण की तो बात छोड़ दो आधारों पर ही सहमति में कितनी दिक्कत हो रही है।

विनोद: यह दिक्कत हमेशा आयेगी। मैं यह कहना चाहता हूं कि शिक्षायी मनोविज्ञान में जो आधार है उनसे हम लोग जिनकी भौतिकी की ट्रेनिंग है शायद कभी सहमत नहीं हो पायेंगे। उनके मानकीकरण और पैमाने कभी भी हमको ठीक नहीं लगेंगे। उसमें एक मुश्किल है। कुछ मानक शिक्षायी शोध क्षेत्र में मान्य है और उनको वैसा ही स्वीकार किया जाता है। यदि हम लोग अपनी तरफ से कुछ बनायेंगे और हम लोग उससे संतुष्ट भी हो पर अन्य जगहों में वे मान्य नहीं होंगे।

अनिल: ये फर्क क्यों है?

विनोद: जो जानकारी होती है जैसे अगर आप किसी भाषा में देखना चाहते हैं कि बच्चों की क्षमता कैसी है। अब आपने एक परीक्षण किया और देखा। मुश्किल यह है कि सांख्यिकी विश्लेषण के लिये आपको इन उत्तरों को अंकों में बदलना पड़ता है। गुणात्मक जानकारी को अंकों में बदलने में ही दिक्कत आती है। कैसे बदलेंगे? तो लोग मानक तय करते हैं। एक तरीका यह हो सकता है कि जो आकाशवाणी की हिंदी है वह सबसे अच्छी है व उसके 5 अंक, जो बाजार की हिन्दी है वह सबसे बेकार उसका 1 अंक व उसके बीच में। समस्या यहां आती है पैमाने तय नहीं करेंगे तो उस जानकारी को इस्तेमाल कैसे करेंगे?

यह भी कहा जाता है कि अलग-अलग सांस्कृतिक परिवेश में उनकी अलग-अलग वैधता होनी चाहिये, मानकीकरण होना चाहिये। जैसे यदि भाषा वाले कहते हैं कि हम कुछ मनोवैज्ञानिक परीक्षण करेंगे तो तुरंत प्रश्न उठता है कि ऐसे परीक्षणों का भारत के

लिये मानकीकरण हुआ है या नहीं? हर एक देश, हर एक क्षेत्र के लिये प्रमाणिक परीक्षण का मानकीकरण होता है। यदि वह न किया जाये तो परीक्षण का कोई मतलब नहीं है। तो जो भी काम करेगा वह इन मानक परीक्षणों का उपयोग करेगा। अगर हमें पसंद नहीं आये तो वह कहां से परीक्षण लायेगा? यही दिक्कत है।

विजय: मैं सहमत नहीं हूं। परीक्षण अक्सर बाहर विकसित होते हैं। खासकर गुणात्मक जानकारी को अंको में बदलने की जो पद्धति बना रखी है। वहां सामाजिक कारकों को आप गुणात्मक से परिणात्मक बना रहे हैं। बाहर के लोगों ने शोध कर रखा है। वे काफी समय केवल नार्मलाईजेशन करने में लगाते हैं। हमारे देश में क्या होता है, हर जगह मैं नहीं कह रहा हूं पर जहां मैंने देखा है इसमें जो नार्मलाईजेशन बाहर के देश में हो गया उसके आधार पर कुछ परीक्षण बना लिया। पर उसको जितना टेस्ट करना चाहिये नहीं करते। या तो उत्सुकता है कि तुरंत कुछ जानकारी निकल जाए जिसका विश्लेषण करके प्रकाशित करें या उस प्रक्रिया के महत्व को नहीं समझते है। तो जब हम कह रहे थे कि इनकी कुछ प्रकाशित सामग्री देखो वह इसलिये क्योंकि उससे स्पष्ट होगा कि इनका तरीका क्या है?

विनोद: इसी वजह से मुझे लगता है कि वे ठीक आदमी है। बहुत सारे परीक्षण जो बाहर के हैं उनका भारतीय स्थिति में मानकीकरण हुआ है। हिंदुस्तानियों ने भी किया है बाहर के लोगों ने भी किया है। बहुत सारे लोग जो परीक्षण इस्तेमाल करते हैं उनका वास्तव में नहीं हुआ है। दूसरी बात जो हमें आश्चर्य लगा था कि 6 साल का 13 लाख रुपये का प्रस्ताव है। वे परीक्षण विकसित व मानकीकरण भी इसी अवधि में करेंगे। 6 साल की अवधि है ही इसीलिये। यह साफ कहा उन्होंने कि हमें परीक्षण विकसित करके उन्हें मानकीकृत करना है।

सुशील: मुझे हमेशा एक प्रश्न परेशान करता रहा है आज साफ हुआ और भी। कमल ने जब मूल्यांकन किया था तो यह दिखाने के लिये किया था कि तर्क शक्ति बढ़ती है। उसके बाद आज जब बात हो रही है तो वहीं हो रही है कि हमको प्रशासन को दिखाने के लिये, समाज को दिखाने के लिये मूल्यांकन करना है। मुझे मूल्यांकन का यह ढांचा ठीक जंचता नहीं है।

क्या हम लोग भी जानना नहीं चाहते कि वाकई में तर्क शक्ति विकसित होती है या नहीं होती? क्या हम यह नहीं जानना चाहते कि बच्चों में जिज्ञासा बढ़ी है या नहीं? क्या हम यह नहीं जानना चाहते कि शिक्षको में जो प्रशिक्षण पाया उसको वे लागू करते हैं या नहीं कक्षा में ? क्या ये प्रश्न हमारे नहीं है? मुझे आश्चर्य हुआ जब यह तय कहा गया कि समाज में जो बात उठती है उसके जवाब देना है या इस तरह से बात उठती है कि व्यक्ति की योग्यता क्या है? अरविंद का पूरा प्रस्तुतीकरण समाज के सवालों के उत्तर देना था। मैं जानना चाहता हूं एकलव्य का व हमारा नजरिया क्या है? अरविंद के नजरिये को स्वीकार करके बात हो रही है या नहीं?

अरविंद: मैंने तीन आधार दिये थे। शैक्षणिक, प्रशासनिक और सामाजिक।

सुशील: अनवर ने जो प्रश्न उठाया है वह महत्वपूर्ण है। स्वतंत्र लोग जब मूल्यांकन करेंगे और यदि वह ननकारात्मक आयेगा तो क्या हम तैयार है परिणामों को वहन करने को? इसका जवाब दिया जाये। लेकिन अनवर ने कहा था कि यह डर बार-बार पेश किया गया इसलिये उसने यह प्रश्न उठाया है। मतलब यह है कि नकारात्मक मूल्यांकन होने का डर है तो मूल्यांकन से हम क्या कोशिश कर रहे हैं? क्या एक सकारात्मक मूल्यांकन पाने के लिये हम व्यक्ति को चुन रहे हैं?

साधना: मूल्यांकन की बात में बहुत ज्यादा चिंता दिखायी जाती है तो उसकी दो व्याख्याएं हो सकती हैं। एक, बहुत डर है इसलिये इतने सवाल जवाब। दूसरा कारण मैंने व विजय ने प्रस्तुत किया है। अब निर्भर करता है कब कौन कैसे प्रस्तुत करता है। अब तुम जब सवाल उठाते तो अपनी तरह से व्याख्या करते हो।

अनवर: यह इसलिये होता है क्योंकि जो लोग सवाल उठाते है वे देखते है कि इस व्यक्ति की वैज्ञानिक पद्धति की समझ हम से मेल खाती है या नहीं। दूसरी बात जहां तक अपनी समझ बढ़ाने की बात है कार्यक्रम को लेकर तो हमने कुछ लोगों से स्पष्ट सुना है कि कोई बाहर से आने वाला तुमको कोई नई बात नहीं बता देगा जो तुम्हें पिछले 10 साल में पता नहीं होगी। वह ज्यादा से ज्यादा कुछ संख्याएं बता देगा प्रतिशत निकालकर यह काफी पक्का मत है। कहा जाता है कि यह सब ठीक है अधिकारियों को दिखाने व समझाने के लिये। आने वाला नया क्या बतायेगा?

बृज: यह दिक्कत इस वजह से है क्योंकि सवाल हमेशा उठता है कि यह जो आप नवाचार कर रहे हैं उसका मूल्यांकन किया क्या? उसमें कुछ परिवर्तन की जरूरत है क्या? पर इसमें एक महत्वपूर्ण बात है मूल्यांकन का स्वतंत्र होना और उसमें हमारा विश्वास होना। जो परिणाम है उनकी विश्वसनीयता निर्भर करेगी मूल्यांकन करने वाले की पद्धति की समझ और जो पैरामीटर उपयोग किये उन पर। इसलिये लगता है कि उसे इन दोनों में विस्तृत ज्ञान होना चाहिये। इसलिये अपना विश्वास बनाने के लिये हम पता करते हैं कि कौन कर रहा है।

विजय: अब मैं अपने साथियों की ही बात करूंगा। यह भाषा ग्रुप है यहां तो विश्वास का कोई प्रश्न नहीं है परंतु इन्होंने जो रिपोर्ट लिखी है उससे मुझे बहुत आपत्ति है। निष्कर्ष यह दिया गया कि हमारी पुस्तक और परंपरागत पुस्तक की पठनीयता बराबर है। अब हमारे सामने सवाल है कि क्या यह परीक्षण पठनीयता जांचता है? इस परीक्षण में बहुत बहस के बाद रिडन्डेन्सी का मुद्दा तब सामने आया जब हमने कहा कि ये कैसे कहते हो कि 'क्लोज टेस्ट' से भाषा समझने की क्षमता (काम्प्रीहेन्सीबिलिटी) मालूम चल रही है? और इसमें रिडन्डेन्सी की क्या भूमिका है यह कुछ सामने लाया नहीं है। हमने उनसे कहा कि एक वाक्य को ले लो

" WE ARE DREAMING DREAMY THIRSTILY"

और इसको हमने 10 बार दोहराया और 120 शब्दों का एक पाठ बन गया। इसमें से हर एक सातवें शब्द को हमने निकाल दिया और अब इसे किसी भी व्यक्ति को दे दी। यदि वह व्यक्ति निरा बेवकूफ नहीं है तो उसके परिणाम 100% आ जायेंगे तो इसमें क्या हम कहेंगे कि इस पाठ को समझने की क्षमता 100% है? इसमें इतनी ज्यादा रिडन्डेन्सी है कि आप पाठ के आधे हिस्से को भी हटा दें तो भी हम पढ़ कर समझ लेंगे। मेरा प्रश्न है कि क्या आपने स्थापित कर दिया है कि 'क्लोज टेस्ट' से भाषा समझने की क्षमता मापी जा सकती है? यह आपने कैसे साबित किया इसका उत्तर नहीं है।

रेक्स: उन्होंने कहा कि हालांकि हमने इस परीक्षण की वैधता स्थापित नहीं की है पर भारत व बाहर के कई लोग यह सिद्ध कर चुके हैं कि इस

परीक्षण के परिणामों और पठनीयता के बीच काफी संबंध है।

विजय: मैं कह रहा हूं कि हमको खुद बैठकर थोड़ा लिखित अभ्यास करने की जरूरत है। आप प्रकाशित सामग्री देख लीजिये कि कितनी बहस चल रही है कि 'क्लोज टेस्ट' वास्तव में क्या मापता है?

शायद इस उदाहरण से साफ हो। मान लो हम प्रयोग करने के लिये निर्देश दे रहे हैं जिसमें जानबूझकर रिडन्डेन्सी कम कर रखी है। परीक्षण करके कहते है कि भाषा समझने की क्षमता कम है जबकि यह अभी तक तय नहीं हुआ है कि इस प्रकार के निर्देश वाले लेख के लिये इस परीक्षण के परिणामों और भाषा सीखने की क्षमता में संबंध है। हम

किस आधार पर इस निष्कर्ष पर विश्वास कर रहे है? अगर वे कहते हैं कि निर्देशों वाला एक लेख लेकर उस पर 'क्लोज टेस्ट' देंगे और भाषा सीखने की क्षमता का परम्परागत टेस्ट देंगे, दोनो के परिणामों में अन्तर्सम्बन्धा निकालेंगे और फिर स्थापित करेंगे, स्वतंत्र रूप से कि ऐसे लेखो के लिये 'क्लोज टेस्ट' भाषा सीखने की क्षमता नापता है या नहीं, तब ही इसे इस्तेमाल किया जा सकता है

अनिल: अभी तक जो बहस थी वह सुशील के सवाल पर थी। अब अगर सुशील प्रतिक्रिया दे कि उसको क्या कहना है तो मदद मिलेगी।

विनोद: मैं अपने समझ प्रस्तुत करना चाहता हूं आप लोग जैसे भी देखें। ये जो परीक्षण का मामला है, ये जो सारी बातें उठी हैं यह बहुत उलझा हुआ मामला है। ये जो सामाजिक दायरों में परीक्षण का मामला है मैं आपको यकीन से कहता हूं कि आप बढ़िया से बढ़िया परीक्षण लाइये मैं उसकी धज्जियां उड़ा दूंगा। सामाजिक क्षेत्र में कारक इतने होते हैं कि आप पूरा नियंत्रण नहीं कर पाते, पहली बात। दूसरी बात इन कारकों के बीच संबंध स्थापित करने के लिये दिये हुए समीकरण नहीं हैं। वे आप आमतौर पर किसी जनसंख्या समूह के विश्लेषण के आधार पर ही मानते हैं। लेकिन हमेशा प्रश्न उठ सकते हैं कि यह समूह सार्वभौमिक है? किसी भी मान्य सांख्यिकीय विश्लेषण पद्धति को 'रिग्रेशन मॉडल' में रखिए और उसके संदर्भ में देखिए और लगेगा समुचित नहीं हैं। ये समस्या और जटिल हो जाती है जब आप चीजो के संबंध देखना चाहते हैं। हम कहते हैं कि हम करना और

वैज्ञानिक रूप से करना चाहते हैं। ये दोनों बहुत ही अंतर्विरोधी चीजे बन जाती हैं। हो सकता है किसी तरह से बुद्धिमता के परीक्षण को बहुत बड़ी जनसंख्या में परखकर आप उसके बारे में कुछ कह सकते है। पर यदि आप पता करना चाहते हैं कि पाठकों की प्रवृत्तियों में परिवर्तन आया या नहीं तो 10 लोगों की 10 पद्धतियां होंगी हर एक पद्धति की अच्छाइयां होंगी, बुराइयां होंगी। आमतौर पर जो बात रह जाती है वह है जो विजय ने कही थी कि हर एक व्यक्ति की एक-एक पद्धति को लेकर प्रतिबद्धता होती है। कोई बंदा कहता है ' फैक्टर मॉडल' अच्छा है तो उससे प्रतिबद्ध हो गया, कोई कहता है ' क्लस्टर मॉडल' अच्छा है तो उससे प्रतिबद्धहो गया, कोई कहता है 'रिग्रेशन मॉडल' अच्छा है तो उससे प्रतिबद्ध हो गया। कोई कहता है कि इसका एक गुणात्मक विश्लेषण होना चाहिये। मैं उन्हीं चीजों की बात करूंगा जो अच्छी तरह की गयी होंगी। तो यह बहुत विरोधाभासी चीज है। यह कहना कि हम विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में इन बातों का परीक्षण करना चाहेंगे (जो मैं करना चाहूंगा) - अनुवर्तन का क्या महत्व रहा है? क्या यह सकारात्मक सोच रही है? सामाजिक पहलू का परीक्षण करना चाहता हूं। इसकी परीक्षा प्रणाली का सामाजिक व शैक्षणिक रूप में क्या असर रहा है? इसमें शिक्षण प्रशिक्षण इन दोनों पहलुओं से अच्छा रहा है क्या? और यह पढ़ाने का तरीका अच्छा रहा है क्या। मैं इस मत पर पहुंच चुका हूं कि इनका मूल्यांकन शायद औरो से बहुत अच्छा हो जब कि आप आंकड़ों में उसे नहीं बता पायेंगे। मैं यह कह सकता हूं कि

'क्लोज टेस्ट' काफी अच्छा है। उस पर बहुत काम हुआ है। उस पर भी भारतीय परिस्थिति, लिखने की शैली इत्यादि को लेकर बहुत प्रश्न है तो मैं आपको बता सकता हूं कि बहुत सारे ऐसे परीक्षण है जो उद्धरित किये जाते हैं वे इतने वैध इतनी नहीं है। वे इतनी जगह परखे नहीं गये हैं जितनी जगह 'क्लोज टेस्ट'। हां, 'क्लोज टेस्ट' की भारतीय परिस्थितियों में भी परख होनी चाहिये, यह मैं मानता हूं।

तो दिक्कत यह आती है जो सुशील ने प्रश्न उठाया कि क्या हम लोग इन चीजों का मूल्यांकन नहीं करना चाहते हैं? करना चाहते हैं। पर जब करेंगे तब मैं ही शायद इससे संतुष्ट नहीं हो पाऊंगा। इसमें रणनीति हो तो मैं मानता हूं कि इस कारण से महत्व है। अगर आप इसमें एक वैज्ञानिक रूप से संपूर्ण प्रणाली देख रहे हैं तो वह शायद इन चीजो में है ही नहीं।

स्याग: आप जो कह रहे हैं वह बिल्कुल ठीक है। इसलिये हम एक ही परीक्षण लेकर उससे आश्वस्त नहीं होंगे बल्कि कई परीक्षण लेकर तुलना करेंगे।

डी.पी.सिंह: मैं यही कहना चाहता हूं कि जो सारी बातें वैज्ञानिक हिसाब से मनोवैज्ञानिक हिसाब से की गई तो इतना तो आत्मविश्वास होना ही चाहिये कि हम लोग जो कर रहे हैं सही कर रहे है। जहां सवाल है कि यह नहीं हो रहा है तो इसकी सीमाएं भी हम समझ रहे हैं। तो अपने हिसाब से यह जाहिर होने ही नहीं देना चाहिये कि हमारा आत्मविश्वास कुछ कम हो रहा है आदि। रहा मूल्याकंन का सवाल तो गुप्ते जी ने 3 प्रश्न रखे ही थे कि शैक्षणिक दृष्टि से क्यों जरूरी है, प्रशासनिक दृष्टि से क्यों जरूरी है। अब इसमें सवाल यह उठता है कि सामाजिक विज्ञान में इतने कारक है कि मूल्यांकन का बहुत सही तरीका कभी हो नहीं सकता। दूसरी चीज है कि समय कारक भी काम करता है। इसलिये क्योंकि जो शुरुआत की अवधि है उसमें हम उनको कोई जानकारी नहीं दे रहे हैं और बाद में भी बाहरी कारक क्या काम कर रहे हैं, हाई स्कूल में क्या असर हो रहा है। इनका बहुत सही और वैज्ञाानिक अध्ययन करना बहुत मुश्किल है।

अरविंद: सिंह साहब ने अभी जो कहा व उससे पहले अनवर ने जो वक्तव्य दिया उससे आभास लग रहा है कि कार्यक्रम के बारे में कुछ शक पैदा हो गये है। मैं उसको थोड़ा स्पष्ट करना चाहूंगा कि जैसे विजय ने 'क्लोज टेस्ट' के विषय में कहा

कि एन.सी.ई.आर.टी. की किताब के हिस्से और बाल वैज्ञानिक के हिस्से के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया कि पठनीयता में कोई अंतर नहीं है। इतने बड़े कार्यक्रम का जब मूल्यांकन किया जाता है तो कई पहलुओं को लेकर किया जाता है व हां और नहीं में उत्तर नहीं आता। एक प्रकार से एक दूध का दूध, पानी का पानी वाली स्थिति कि यह एकदम खराब है, यह एकदम ठीक है, नहीं आती। जो भी जानकारी मिलेगी ज्यादा व्यापक स्तर पर किये गये, ज्यादा विश्वसनीय परीक्षण से तो उससे काफी सहायता हमको मिलेगी। सोचने के लिये नया आधार मिलेगा। जो भी होने वाला है, मैं विजय से बिल्कुल सहमत हूं कि बजाय इसके कि हम बाद में सवाल उठाते रहे हमें चर्चा करके पहले ही आश्वस्त हो जाना चाहिये। व्यवहारिक पहलू पर डॉ दाणी से तो हम बात कर ही लेंगे थीसिस आदि ले ही लेंगे। लेकिन मैं चाहता हूं कि डॉ. दाणी के साथ एक गोष्ठी हो जिसमें आप (विजय) आ सकें तो बहुत ही अच्छा होगा। पहले उनका काम देख लें फिर गोष्ठी हो। उनके प्रस्ताव को सायक्लोस्टाइल करके सबको भेज दूंगा।

अनिल: दो अलग-अलग ढंग की टिप्पणियां करनी है। पहली टिप्पणी विजय, विनोद ने जो सब कहा है उस पर है। जिन लोगों ने रिसर्च की है लम्बे अरसे तक, वे सामान्यत: शोध की पद्धतियों को लेकर काफी जागरूक रहते हैं। सवाल निष्कर्षो के हमारे पक्ष या विपक्ष में होने का उतना नहीं होता जितना कि यह समझना कि आखिर कहा क्या जा रहा है। प्रश्न उठता है कि पद्धति क्या इस्तेमाल की। मुझे याद है खुराना ने बहुत बड़ी-बड़ी बातें कहना शुरू कर दिया था। परंतु हमारे विभाग में कोई सुनने को तैयार न था। जब तक कि कोई शोध प्रोजेक्ट सामने न आ जाता था जिससे पता चलता था कि किस तरह की चर्चाएं हुई, प्रयोग हुए आदि। हम कुछ विद्यार्थी इन प्रयोगों को दोहराते भी थे अपनी प्रयोगशाला में। जब तक भरोसा नहीं होता था की पद्धति ठीक है या नहीं तब तक निष्कर्ष नहीं सुनते थे।

क्योंकि आप विज्ञान में कुछ भी निष्कर्ष निकाल सकते है गलत पद्धति इस्तेमाल करके। समाज विज्ञान में अनेकों कारक होने के कारण मामला और भी उलझ जाता है। मान लीजिये हमने 1972-74 में रिंग के कुएं खोदे और जो लोग हमारे रिंग खरीदने आते थे हम उनकी वेशभूषा, बैलगाड़ियां देखते नौकर–चाकर देखते थे और तय करते थे कि वे मध्यम किसान है या बड़े किसान। बहुत कम ही जमीन के बारे में पूछते थे । उनके रंग ढंग से अंदाज लगाते थे। हम जैसे जमीन जायदाद को जाने बिना पहचानते थे वैसे ही समाज विज्ञान में भी कई संकेत है। बिहार के बारे में किसी ने कहा था कि बारिश के मौसम में खेत में खड़े आदमी को पहचानना है कि वह सामान्त है या मजदूर तो देखो कि उसके हाथ में छाता हैं या नहीं। तो समाज विज्ञान में अक्सर ऐसे प्रतीकात्मक व संकेतात्मक चीजों पर भरोसा किया जाता है। परंतु यदि आज भी कोई आकर कहता है कि वह हमारे रिंग कार्यक्रम का अध्ययन करना चाहता है और इसकी जानकारी प्राप्त करने में हमारी मदद चाहिए तो मैं जरूर जानना चाहूंगा कि वह किस ढंग का शोध करना चाहता है। उसकी पद्धति इस लायक भी है या नहीं। क्योंकि वह मुझसे मदद मांग रहा है मेरा समय लेगा। मैं भूमिका आंशिक रूप से सुशील का उत्तर देने के लिये बना रहा हूं। 'क्लोज टेस्ट' की बात हुई, यदि 'क्लोज टेस्ट' यह दिखाता कि बाल वैज्ञानिक की पठनीयता ज्यादा है, मेरे तब भी यही सवाल होते। मैं यह समझना चाहूंगा कि यह परीक्षण दिखा क्या रहा है। परंतु मेरा एक अहसास है कि सरल भाषा का इस्तेमाल किया है बच्चों को ज्यादा समझ में आना चाहिये। इसलिये मैं पक्का हो जाना चाहूंगा कि जो परीक्षण इस्तेमाल किया है वह वास्तव में यह परख कर सकता है। एक शिक्षक ने कहा है कि शिक्षकों का दृष्टिकोण बदल गया व बच्चों मे अवधारणात्मक समझ बहुत विकसित हो गयी। बीस मास्टरो के सामने जब उसने रखा तो उन्होंने प्रश्न पूछे तरीकों को लेकर व उसकी धज्जियां उड़ा दी। तो मेरे लिये यह महत्वपूर्ण नहीं है कि पक्ष मैं जाता है या विपक्ष

में परंतु यह सब कहने के बाद भी मैं सुशील की बात से सहमत नहीं हूं। यह मामला बहुत उलझा हुआ है। अगर हमने एक कार्यक्रम मात्र इसलिये शुरू किया था कि बच्चों का शैक्षणिक स्तर ऊंचा करना है, तब चाहे कोई बाहर से आये मूल्यांकन कर ले। परंतु कल-परसों यह साफ किया कि इसके पीछे एक सामाजिक दृष्टिकोण है। कल जब अनुवर्तन की बात हुई तो हार्डी कह दिया इसमें मात्र शैक्षणिक प्रक्रिया मत देखिये सामाजिक प्रक्रिया देखिये। तो मुझे जरुर चिंता होती है कि जो विद्वान इसका मूल्यांकन करने आयेंगे और इसको फैलाएंगे और अभी से ही यथास्थिति को बनाये रखने वाली शक्तियां समाज की और सरकार की कार्यक्रम को दबाने की कोशिश में है और तभी एक व्यक्ति, अच्छी या बुरी पद्धति से उसके खिलाफ एक वक्तव्य दे देता है तो लोग इसका इस्तेमाल करेंगे, इसे खत्म करने के लिये। इसका मतलब है हमारे हाथ में जो सामाजिक परिवर्तन का औजार है उससे हम हाथ धो बैठेंगे। वैसे ही परिवर्तन की शक्तियां बहुत कमजोर है व उसके खिलाफ वाली शक्तियां मजबूत है और इस स्थिति में इसका कोई मूल्यांकन होता है और उसका उपयोग ये शक्तियां करती हैं तो इसकी मुझे चिंता है। इसीलिये मेरा कहना रहा है कि हमने शिक्षा के मान्य सिद्धांतों को लेकर काम किया है, जो सर्वमान्य, सार्वभौमिक, सिद्धांत है और मुझे इस बात के मूल्यांकन की जरूरत महसूस नहीं होती कि ये वास्तव में असर पैदा करते हैं या नहीं करते। इसलिये सरकार को और समाज को उत्तर देने के लिये रणनीति के रूप में इसे करने को मैं तैयार हूं। इसलिये कमल का पर्चा है वह मैं सबको दे देता हूं- तुम्हारा सवाल है तुम पढ़ लो। एक बात और आखिर इस कार्यक्रम में आप किस बात का परीक्षण करने वाले है यह साफ हो जाना चाहिये। आप प्रयोगनिष्ठ व पर्यावरण आधारित शिक्षण विधि का परीक्षण करने वाले है तो यह गलत जगह है। क्योंकि यहां पर आप किसी भी स्कूल में शुद्ध रूप में ये विधियां नहीं चला पाएं है। यदि आप यह देखने वाले हैं कि इस विधि को सरकारी स्कूलों में डालने पर वह क्रियांवित हो पाती है या नहीं तो कर लीजिये आप। क्योकि यदि आप कहे कि होशंगाबाद जिले

में 8-10 साल से प्रयोगनिष्ठ विधि चलाई गई और वह असफल हो गई इससे कोई परिवर्तन नहीं हुआ तो मैं शुरू से कह दूंगा यह मूल्यांकन गलत है चाहे आप किसी भी तरीके का इस्तेमाल करे। इसके लिये तो पहले इस विधि को लागू करने के लिये आदर्श स्थिति पैदा कीजिये, फिर कीजिये तुलना।

साधना: दो बाते कहनी है खास उस संदर्भ में जो अनिल ने कहा। एक तो यह कि , अनिल ने हमेशा कहा है कि जो काम किया है वह शिक्षा के बुनियादी सिद्धांतो का काम है इसलिये इसको लेकर मेरे मन में कोई सवाल नहीं है। मुझे लग रहा था कि हम कई लोगो की यह मान्यता है कि शिक्षण विधि को लेकर सवाल नहीं पूछ रहे हैं। पर इस विधि को अपनाने में हमने जो तरीके चुने है व उन तरीकों को क्रियान्वित करने में हम शैक्षणिक दृष्टि से व सामाजिक दृष्टि से किस दिशा में बढ़ रहे हैं अगर इसके संकेत भी मिलते हैं व क्या ऐसे एक सामाजिक हस्तक्षेप के कार्यक्रम से नये मुद्दे भी खड़े हुए है और वे मुद्दे क्या है, तो काफी है जो भी उपलब्ध शोध है शिक्षा या मनोविज्ञान में वह शायद सामाजिक पहलू पर कोई प्रकाश न डाल पाएं। पर मैं एक मान्यता लेकर चलती हूं कि हम जो शिक्षको को मुक्त करते है या औजार देते है वैज्ञानिक मानसिकता या कौशल या किसी और रूप में उनमें क्या हो रहा उसको लेकर शायद कुछ परीक्षण ऐसे होंगे जो कुछ दिखा सकेंगे। अगर ऐसा नहीं तो फिर सवाल वास्तव में यह उठता है कि हम ऐसे चक्कर में क्यों घुस रहे हैं। मुझे अस्पष्ट है। मैं जब बात करती हूं तो मुझे लगता है कि कुछ नया सोचने को अवश्य मिलेगा। निष्कर्ष की बात नहीं है पर कुछ नये मुद्दे खड़े होने की उम्मीद अवश्य है। जैसे अभी श्याम कह रहा था कि 'क्लोज टेस्ट' से यह सिद्ध हुआ कि बच्चे संस्कृत निष्ठ भाषा ज्यादा समझते है। निष्कर्ष तो हम निकालते हैं।

विनोद: जो प्रयोग निष्ठ विधि को एक विधि के रूप में परखना चाहता है वह विज्ञान को ही परखना चाहता है वह विज्ञान को ही परखना चाहता है। मुझे यह परख करने वाली चीज लगती ही नहीं है। हां, अगर परख करने की बात लगती है तो वह है कि जो तरीके हमने अपनाये वे क्या असरकारक हैं।

ये बात हमेशा हमारे प्रशिक्षण व अनुवर्तन में निकलती है। इसमें रूचि है सामाजिक पहलू में, लोगो पर क्या असर पड़ा, पालको पर क्या असर पड़ा, आदि। पर इसमें एक दिक्कत है कि अगर वैज्ञानिक मूल्यांकन की बात है तो यह सब पता करने का मेरे पास कोई तरीका नहीं है। यह जरूर कहा जा सकता है कि यह शायद ठीक है, इसके यह पहलू कुछ ठीक है, यहां यह कमी है तो यह समझ में आता है। यदि हम पर इतना दबाव हर तरफ से कि उषा देव कहती हैं कि कार्यक्रम धार में लागू ही नहीं होगा बिना मूल्यांकन के, तो यदि उचित व्यक्ति है और उसे सहयोग

देकर हम यह काम करवा ले, दिल पर हाथ रखकर कि यह ठीक ही निकलेगा तो यह झमेला खत्म होगा। ऐसा न करने से हमारी ज्यादा शक्ति खर्च हो रही है।

अनवर: विनोद तुमने जो कहा कि ये मान्यता है कि विज्ञान सिर्फ करके सीखा जा सकता है। यह तो अगर मोटे तौर से लिया जाये कि तैरना देखकर किसी को नहीं आयेगा इसको बिल्कुल मानते हैं। पर यहां अक्सर लोग समझते हैं कि करके सिखाकर का अर्थ है प्रयोग। मुझे लगता है कि विज्ञान का इससे कुछ ज्यादा मतलब होता है जिसमें आंकड़ों का विश्लेषण करके देखना भी करके देखने में आ जाता है। तो पद्धति जो हम इस्तेमाल कर रहे हैं वह कितनी वस्तुनिष्ठ है जिसमें इन सब चीजों का एक सापेक्ष अनुपात आ जाता है ? इस स्तर की कभी बात नहीं होती। जब बात करते हैं कि यह किताब जो लिखी गयी है इसमें विश्लेषण या चर्चा तभी शुरू होती है जब प्रयोग खत्म हो जाता है यानी यदि कभी बच्चे प्रयोग के बीच में अटक जाए तो आमतौर पर चर्चा वाले सवालों तक पहुंच ही नहीं पाते। तो क्या हम ऐसे न रखे कि चर्चा का कुछ हिस्सा प्रयोग के पहले भी हो। इसलिये यह कहना शायद ठीक नहीं है कि विज्ञान केवल करके सीखा जा सकता है क्योंकि फिर विज्ञान सीखने की प्रक्रिया के जो अन्य तत्व है, उनके अंतर्संबंध नहीं उभरते।

हार्डी: मुझे समझ में नहीं आता कि मूल्यांकन एक व्यापक स्तर पर पाठ्यक्रम का कर रहे हैं या एक पूरे जिले में जो कार्यक्रम

चल रहा है उसमें परिणामों का? इसका मूल्यांकन कैसे होगा मुझे नहीं समझ में आता। आपको किसी अध्याय में सुधार करना है या यह देखना है कि इसमें कोई और चीज जोड़नी हैं तो यह काम आपको खुद करना पड़ेगा छोटे-छोटे प्रयोगों से। एक बड़े पैमाने के मूल्यांकन से यह जानकारी नहीं मिल सकती कि हमें क्या चीज करनी चाहिये। इससे केवल यह जानकारी मिल सकती है कि इसका क्रियान्वयन कैसे हो रहा है अभी। शुरुआत में समझ लेना चाहिये इस मूल्यांकन का उद्देश्य क्या है। विज्ञान सीखने का तरीका प्रयोगनिष्ठ हो और साथ ही पर्यावरण आधारित हो, ये तो बुनियादी मान्यताएं है। पर एक बात जरूर है, जांची जा सकती है दो बड़े बड़े ग्रुप लेकर कि प्रायोगिक कुशलताएं सृजनात्मकता व अभिव्यक्ति पर कुछ असर हुआ है या नहीं? अवधारणाओ आदि का मूल्यांकन अलग मुद्दा है और यह काम या तो हम लोगो को करना चाहिये या बाहर के कुछ लोगो को बुलवाकर करवाना चाहिये।

रेक्स: 2-3 वैज्ञानिक यहां बैठे हुए हैं। यहां कहा जा रहा है कि यह पद्धति मान्य पद्धति है, बुनियादी मान्यता है, इसका क्या मतलब है? मैं जानना चाहता हूं कि 11-12 साल की उम्र में बच्चे की सीखने की प्रक्रिया में याददाश्त, खोज आदि विविध कारकों की क्या भूमिका है?

बृज: जो तीन समूह लिये गये थे वे स्कूल जाने वाले बच्चों के थे। क्या हम एक समूह उन बच्चों का नहीं ले सकते जो स्कूल छोड़ देते हैं, आठवीं के बाद?

अनिल: अनवर जैसे पूछता है शिक्षण के किस तरह के तरीके डाले, क्या पूरी जानकारी देकर विश्लेषण करवायें? इस तरीके का मूल्यांकन अगर करना है तो तुम दिल पर हाथ रख कर पूछो कि तुम्हें किस पर ज्यादा विश्वास है। मैं 2 तरीके तुम्हें बताता हूं (1) दाणी का तरीका। (2) मैंने जीव विज्ञान का एक अध्याय तैयार किया। उसको बाचावानी में पढ़ाया जा रहा है और मनमोहन कपूर जाते हैं जिनकी बुनियाद पर मुझे भरोसा है कि विज्ञान समझते हैं व लौटकर आकर कहते हैं कि अनिल हमने सोचा था कि तुम बहुत अच्छे जीव वैज्ञानिक हो, बहुत अच्छी

शिक्षा तुमने पायी है। ये क्या कचरा तुमने वहां भेज दिया? शिक्षक के समझ में नहीं आता, बच्चों के सर के ऊपर से निकल गया' इत्यादि। मुझे मनमोहन कपूर के इस स्कूल के एक चक्कर पर दाणी साहब की जांच-परख से ज्यादा भरोसा है।

बृज: इस मूल्यांकन का सकारात्मक पहलू कोई निकलेगा क्या? यदि यह एक रणनीति वाली भूमिका समझ में आती है तो यह एक मुद्दा बनता है कि क्यों यह करवाया जा रहा है। उद्देश्य को लेकर काफी भ्रम है अभी।

हार्डी: इसका पहला उद्देश्य है हो.वि.शि.का. इस जिले में 5 साल से क्रियान्वयन हो रहा है, इसकी शैक्षणिक उपलब्धि क्या है?

साधना: इसके संबंध में निष्कर्ष मिल जायेगा ऐसा नहीं है। शायद कुछ दिशा मिलेगी जिससे आगे सोचने में मदद मिलेगी। ऐसे प्रस्तुत करोगे कि निष्कर्ष मिल जायेंगे तो बहुत दिक्कत आ जायेगी। अनिल ने उदाहरण दिया वह रोचक है मैं एक ताजा उदाहरण देती हूं। हरि पिछली मासिक गोष्ठी से आकर कहने लगा कि सूक्ष्मदर्शी में से जीव जगत अध्याय के काफी हिस्से निकाल देने चाहिये। उसके आधार को मैंने बहुत चुनौती दी। यानी मनमोहन कपूर आकर क्या कहते हैं, उसके आधार पर निर्णय नहीं होगा। अनिल ने इसको इतना सरलीकृत कर दिया है कि यदि उनकी बात नहीं मानेंगे तो जैसे उनकी क्षमताओं पर शक कर रहे हैं और पता नहीं क्या-क्या।

अनिल: मैं जानता हूं इतना सरल नहीं है। मैं कहना यह चाह रहा था कि हम में से काफी लोगों का अहसास आधारित तरीका हैं मूल्यांकन करने का उससे जो सामान्य समझ उभरेगी मैं उस पर ज्यादा निर्भर करूंगा बजाय औपचारिक मूल्यांकन के।

विनोद: मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि मूल्यांकन जो करेंगे वे क्या करेंगे कि लोगों को प्रश्नावली या ऐसा ही कुछ देकर भेजेंगे और जानकारी इकट्ठी करेंगे।

रेक्स: एक उदासीन दिमाग से जाना होगा। मनमोहन कपूर जैसा व्यक्ति नहीं जो पहले ही एक तरफ झुका हुआ है।

विनोद: पर यदि वह (कपूर) आकर कहते हैं कि यह अध्याय बकवास है।

रेक्स: फिर भी मैं कहूंगा उसका झुकाव है। उसके पूर्वाग्रह हैं।

स्याग: क्या कोई उदासीन व्यक्ति होगा?

विनोद: खैर छोड़ दो। मैं दूसरी बात कर रहा था। जो भी कोई मूल्याकंन करेगा उसका मतलब है कि वह व्यवस्थित रुप से एक कार्यस्थल के आंकड़े इकट्ठे करके उनका विश्लेषण करेगा। मैं इन्हीं आंकड़ों की कीमत कम करके नहीं आंकूंगा यदि वे किसी पूर्वाग्रह वाले व्यक्ति द्वारा लंबी अवधि में इकट्ठे किये गये हों। चाहे वे व्यक्ति पूर्वाग्रह रखते हो किंतु उन्होंने ये आंकड़े उसी प्रक्रिया से जुटाए हैं। अंतर केवल इतना है कि उन्होंने इस समय पर ये सारे आंकड़े इकट्ठे नहीं किये बल्कि वर्षों की अवधि में किये और उन्हे 'क्लोज टेस्ट' या ऐसे ही किसी चीज के रूप में नहीं रखा।

रेक्स: मैं यहां लगातार सालों से सुन रहा हूं कि हम जानना चाहते हैं कि स्कूलों में क्या हो रहा है। अब एक व्यक्ति सामने है जो आंकड़े इकट्ठे करके विश्लेषण करके बताएगा। तो बजाय इसके कि हम अपने अहसास के आधार पर समझते रहे अच्छा यह होगा कि इन आंकड़ों को लेकर विश्लेषण करें।

विनोद: जहां तक मेरी समझ है हम यह मानकर चल रहे हैं कि दाणी साहब या कोई और यह मूल्यांकन करेगा ही, इस बात पर सहमति है। यह चर्चा इस सहमति के बाद हुई है। आशा है इस पर कोई गलतफहमी नहीं है।

रेक्स: तब मुझे बहस नहीं समझ में आयी।

अनिल: ऊषा देव जैसे सवाल के लिये जो दूसरा मूल्यांकन जो अरविंद ने प्रस्तुत किया है- अन्य विषयों के अंकों की तुलना इस संभाग के स्तर पर व हाई स्कूल में परिणामों की तुलना 1984 के आधार पर- यदि इन दो को आप कर देंगे कंप्यूटर आदि के द्वारा तो 90% जो आपकी समस्या आ रही है इस

कार्यक्रम को लेकर वह दूर हो जायेगी और दाणी वाला मूल्याकंन बाकी 10% भी हल कर देगा।

विनोद: मैं आपको एक मनोवैज्ञानिक पहलू बताता हूं। आप किसी को कहिये कि आपने आंकड़े लिये थे और विश्लेषण किया है कंप्यूटर से, बस। आप किसी को कहिए कंप्यूटर पर हो गया है तो बहुत बड़ी बात है।

अनिल: एक सफाई करना चाहता हूं। दाणी साहब के मूल्यांकन का मुद्दा होगा कि बच्चों में तार्किक शक्ति, अवलोकन, जिज्ञासा, सृजनात्मकता इत्यादि विकसित हुई है या नहीं? होशंगाबाद व उसके आसपास जो जनता पीड़ित है वह इस बात से चिंतित नहीं है कि सृजनात्मकता विकसित हो रही है या नहीं? उनकी चिंताएं प्रमुखत: वे दो है जो अरविंद की दूसरी मुद्दे से जुड़ी हैं। कहीं इसका कोई नकारात्मक असर दूसरे विषयों पर नहीं पड़ रहा (पिछले 3 साल के परिणामो के आंकड़े ले लीजिये, विश्लेषण कर लीजिये और निकाल लीजिये जवाब)। उससे भी बड़ा डर है कि कहीं हायर सेकंडरी में हमारे बच्चों को नुकसान तो नहीं होगा। एक और डर कहीं पी.ई.टी. और पी.एम.टी. में तो नहीं दिक्कत आयेगी और प्रतिभावान छात्र योजना में हमारे बच्चों को नुकसान तो नहीं हो रहा है? 4 चीज़ें कर लीजिये, दाणी साहब वाला हो या न हो यहां के समाज को उससे कोई फर्क नहीं पड़ने वाला यह मैं आपको बता देता हूं।

अरविंद: अनिल की बात में विरोधाभास है। पहले उन्होंने कहा कि दाणी साहब के उससे कुछ भी निष्कर्ष निकले यानी यदि इस कार्यक्रम के पक्ष में नहीं निकलता तो भी आपको कोई चिंता नहीं।

अनिल: नहीं, चिन्ता है। हाथ से एक हथियार निकलने की चिन्ता जो मैं पहले समझा चुका हूं।

अरविंद: यदि यह निकलता है कि तर्क शक्ति विकसित नहीं हो रही आदि

अनिल: तो चिंता है। मैं उनके तरीकों आदि पर सवाल खड़े करूंगा। सैम्पलिंग देखूंगा। बहुत कुछ समझने का प्रयत्न करूंगा।

हार्डी: अगर फैलाव करना है तो क्रियान्वयन के विषय में जो जानकारी मिलेगी वह बहुत जरूरी है।

अनिल: परंतु प्रशासनिक व राजनैतिक बातों के लिये वह कम जरूरी है।

अरविंद: एक बात और कि जब हम मूल्यांकन की बात करते हैं तो डॉ. दाणी का मूल्यांकन अंतिम शब्द नहीं है। सामाजिक पहलुओं का मूल्यांकन कोई और करने को तैयार है तो उसको करने दिया जायेगा, जैसे महेश भट्ट। व्यापक स्तर पर भी करना चाहेगा तो जरूर उसका स्वागत है।

सुशील: अभी तक जो कुछ कहा गया उसके संदर्भ में फिर से जानना चाहता हूं कि मूल्यांकन का मुख्य कारण क्या है? सबने अलग-अलग कारण बताये। मैं समझना चाहता हूं कि क्या अभी कोई सहमति है?

विनोद: मूल्यांकन के कारण निम्नलिखित है:-

1. अगर अच्छे तरीके से हमें यह पता चले कि बच्चों में कुशलताओं, तार्किक चिन्तन, निर्देशों के आधार पर प्रयोग करना आदि में क्या हुआ है, इसका एक अहसास मिले तो यह एक उपयोगी जानकारी हमारे कार्यक्रम के लिये होगी और यह इच्छा है जानने की।
2. सरकारी संस्थाओ व शिक्षा संस्थाओ को समझने के लिये, जिसमें हमारी काफी शक्ति जाती है, वह मिल जाए तो अच्छा होगा।

ये दो मुख्य पहलू हैं मेरे लिये। इसके अलावा छोटी-छोटी बाते है कि वे लोगो को बताएं कि 9वीं में क्या हो रहा है या अन्य विषयो में क्या हो रहा है।

सुशील: जैसे कि कहा गया है कि अच्छा पढ़ाने से क्या फर्क पड़ता है, जैसा कि उद्देश्य इस कार्यक्रम के है तार्किक शक्ति बढ़े, अवलोकन की क्षमता बढ़े, प्रायोगिक कुशलताएं बढ़े लेकिन इस जानकारी के आधार पर क्या नयी चीज डाली जाएं यह पता नहीं चलेगा ऐसा मैंने किसी को बोलते हुए सुना। तो मुझे बताओ कि इस जानकारी का क्या होगा?

विनोद: इसका उत्तर बिल्कुल अभी नहीं दिया जा सकता है यह जब ही दिया जा सकता है जब पता चले कि किस तरह की जानकारियां सामने आयी। पर अगर ऐसी चीजें आयी जो हमें सहायता देती हैं इन चीजों को बदलने की तो जरूर इस्तेमाल करना चाहिये। पर इस सबके बावजूद हमारी अपनी जो समझ है वह समाप्त नहीं हो जायेगी। सब कारकों को मिलाकर ही कहा जा सकता है कि इसका कार्यक्रम पर क्या असर पड़ेगा।

अनिल: क्या उभरेगा वह इस पर भी निर्भर करता है हमने क्या प्रश्न दिये हैं दाणी साहब को। मान लीजिये हम पूछते हैं कि जिस चरण पर हमने अमूर्त चिंतन के अभ्यास डाले हैं वहां पर यह बच्चों से हो पा रहा हैं या नहीं? ऐसे पैने सवाल पेश करने पड़ेंगे।

स्याग: हम किसका मूल्यांकन करना चाहते हैं जो बच्चे इससे निकले उनका या जो शिक्षक है उनका या हम कक्षा में क्या हो रहा है वह देखना चाहते हैं? सब कुछ इस पर निर्भर करता है।

विनोद: यह तो तैयार करना पड़ेगा पूरा कि किन-किन मुद्दों को लेकर वे काम करेंगे।

अनवर: पहली बार जब उनसे बात हुई तो उन्होंने कहा था कि वे पहले तय कर लेंगे ऐसी चीजें जैसे करके सीखने का क्या मतलब है। फिर इस सैद्धांतिक मॉडल के आधार पर तुलना करेंगे पुस्तको की, अन्य सामग्री की।

विनोद: नहीं मैं तो बात कर रहा था कि पहले 2 साल में जो समझ है।

खरे: हम मूल्यांकन के संबंध में काफी कुछ चर्चा कर चुके हैं पर जैसा कि अनिल भाई ने कहा था कि अभी तक इतने लंबे पैमाने पर मूल्यांकन हुआ नहीं है और मूल्यांकन का बहुत महत्व है। वे लोग जो आज इस योजना के विरोधी है उनकी वृद्धि आज नहीं तो कल तो होगी ही। सरकार की दृष्टि में इस मूल्यांकन पर होगी। हमारा मतलब है कि हमें मूल्यांकन में सहायता देनी चाहिये। दूसरी बात है कि क्या जनता दाणी साहब के मूल्यांकन का पूरा विश्वास करेंगी? जनता तो यह समझेगी कि दाणी साहब ने मूल्यांकन किया है वह हमारे पक्ष में नहीं है, इसलिये

ठीक नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तो हम समझेंगे। तीसरी, इससे हमारे विस्तार कार्यक्रम पर भी असर पड़ेगा। वे लोग जो उज्जैन, धार में बैठे हैं और वे लोग जो शहडोल, नरसिंहपुर में ले जाना चाह रहे है उन पर इसका प्रभाव पड़ेगा इसलिये इस मूल्यांकन में परोक्ष रूप से हमें जरूर सहायता चाहिये।

हार्डी: ये सब मानते हैं कि दाणी साहब के मूल्यांकन प्रस्ताव को आगे बढ़ाना चाहिये। दाणी साहब के साथ गोष्ठी करनी चाहिये व छोटे-छोटे मूल्यांकन शुरू कर देना चाहिये।

विनोद: जब 1978 में स्नेहलता शुक्ला आयी थी तो उन्होंने नहीं किया या उनके साथ नहीं किया इसका कारण आप संक्षेप में बतायेंगे क्या?

अनिल: श्रीमती स्नेहलता शुक्ल, प्राध्यापक शिक्षा, शैक्षिक टेक्नोलॉजी केंद्र, एन.सी.ई.आर.टी. को हम लोगों ने इस कार्यक्रम के मूल्यांकन के लिये आमंत्रित किया था। उन्होंने कहा था अलग-अलग हिस्से में मूल्यांकन करने की आवश्यकता है। बच्चों पर असर, शिक्षकों पर असर, प्रशासन और समाज पर असर आदि। उसके बाद उन्होंने तरीके पर बात की। उन्होंने कहा कि तरीका भागीदारी का होगा। ये नहीं कि हम एन.सी.ई.आर.टी. वाले कहीं अलग बैठकर मूल्यांकन करेंगे। हम आपके साथ मिलकर मूल्यांकन करेंगे। उनसे सवाल पूछे गये थे कि इस भागीदारी वाली बात को और जरा समझाइये। उन्होंने बताया कि हम लोग सवाल बनायेंगे, औजार बनायेंगे और उनके साथ हमारे सहायक इस इलाके में आयेंगे। हम आपसे अपेक्षा करते हैं कि आप घुमाने फिराने में इनकी मदद करेंगे, एक। दूसरा, हम अक्सर कुछ प्रश्नावलियां और फर्म बनवाकर भेजेंगे उनको आप भरवाकर भेज दिया कीजियेगा। हमको तो यह कहीं भगीदारी नहीं दिख रही थी। हमने उनसे कहा कि आप तो केवल हमारी सेवाएं ले रही हैं। हम तो भागीदारी से समझते हैं कि अब आप की पहली गोष्ठी हो रही होगी तो उसके नियोजन में, अवधारणात्मक समझ में बनाने में, भाषा तय करने में हम साथ होंगे। उन्होंने कहा नहीं नहीं ऐसा नहीं चलेगा। यह तो शिक्षा विषेशज्ञो का काम है, इसके लिये बहुत प्रशिक्षण चाहिये, अनुभव चाहिये, तरीके चाहिये। ये ऐसा नहीं है इसमें कोई भी

भाग ले ले। आप प्रश्नों पर टिप्पणी कर सकते हैं। हमने कहा कि यदि हमने टिप्पणी की कि आपकी भाषा बच्चों के सर के ऊपर से जा रही हैं और आपने नहीं माना तो? हमारी भागीदारी का यह मतलब जो आपने बताया तो यह हमको स्वीकार नहीं है। तो बात बिल्कुल अटक गयी। उनको एक हद के बाद हमारी भागीदारी बिल्कुल स्वीकार नहीं थी। हमने कहा कि दूसरा तरीका यह हो सकता है कि आप पूरी तरह से अपने सहायकों पर निर्भर होकर करवाये काम। हम आपके फार्म वगैरह भी नहीं भरवायेंगे। तो उनको थोड़ी दिक्कत लगी कि उन्हें कर्मचारी बढ़ाने पड़ेंगे, प्रोजेक्ट का आकार बढ़ेगा। पर वे यह कह कर चली गयी कि हम सोचेंगे। ये वही दिन थे जब क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के लोग हमसे उखड़ रहे थे। एक पूरी शाम क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय की पूरी टीम व श्रीमती शुक्ल होशंगाबाद के बाजार में घूमती रही। इसके बाद जब श्रीमती शुक्ल वापस आयी तो काफी अलग थी। बात करने को तैयार नहीं थी। वे वापस गयी और उसके बाद कभी कुछ नहीं कहा। मुझे उसी दिन लगा था कि क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के लोगो ने कुछ पट्टी पढ़ा दी थी।

साधना: हमारी भागीदारी की समझ को इस आधार पर चुनौती दी थी कि आप तो पूर्वाग्रह वाले समूह के हैं। मूल्यांकन एक पूर्वाग्रह वाले समूह की भागीदारी से कैसे हो सकता है?

विनोद: जब मैं उनके पास जवाब लेने गया तो उन्होंने बताया कि उनका कितना और काम है। 3-4 मूल्यांकन वे कर रही हैं। उन्होंने कहा कि कितना वे करना चाहती हैं पर कितनी रुकावटें हैं जो पहले उन्हें मालूम नहीं थी।

अनिल: हम लोगो ने श्रीमती शुक्ल को इतनी आसानी से छोड़ा भी नहीं था। उसके बाद विनोद, विजय, कमल भी मिले। एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक व संयुक्त निदेशक से मेरी मुलाकात हुई। उन दोनो से मैने निवेदन किया पर उन दिनो यह भावना दिल्ली में फैलने लगी कि हमने श्रीमती शुक्ल को मना कर दिया है। सत्यम साहब ने पूछा कि तुम लोगो ने श्रीमती शुक्ल से मूल्यांकन

करवाने के लिये क्यों मना कर दिया? मैंने कहा कि हमने तो उनका स्वागत किया है। तो उन्होने कहा कि मुझे तो जानकारी मिली है कि आपने मना कर दिया है। जानकारी संयुक्त निदेशक ने दी है। तब मैं उनके पास भी पहुंचा । उन्होनें कहा कि, ' मुझे तो श्रीमती शुक्ल ने कहा कि वे व्यस्त है उनके पास और काम है

मुझे तो ऐसा नहीं लगा कि आपने मना किया। हां, मैंने आपके डी.पी.आई. को लिखा था तो उन्होंने उत्तर नहीं दिया तो हमने सोचा शायद प्रशासन रुचि नहीं ले रहा।' पर उन्होने कहा मुख्य बात श्रीमती शुक्ल के पास समय न होना है। तब मैं श्रीमती शुक्ल के पास गया। उधर साहब व सत्यम की सारी बातें सुनायी। उन्होंने वही बताया, 'कि नहीं मैं तो व्यस्त हूं आप लोग तो अच्छे लोग हैं'। फिर मैंने भोपाल से सेवाराम द्वारा ड्राफ्ट करवाकर डी.पी.आई. को चिट्ठी भिजवायी। उसके बाद मैं संयुक्त निदेशक को मिला हूं 2-3 बार। उनसे पूछा अब क्यों नहीं भेज रहे तो उनका कहना था कि श्रीमती शुक्ल की रूचि नहीं है। सत्यम साहब आज तक यह फैला रहे हैं कि हमने मना कर दिया।

अरविंद: सेवाराम जब श्रीमती शुक्ल से मिले और पूछा कि आप क्यों नहीं कर रही तो उन्होने कहा कि वे लोग मुझे कार्यक्रम के उद्देश्य ही नहीं बता रहे है। सेवाराम जी ने कहा ऐसा है मैडम कि वे बेचारे शिक्षाशास्त्री तो हैं नहीं। आप उनसे बात कर लीजिये व खुद ही उद्देश्य उसमें से निकाल लीजिये।

विनोद: इस संबंध में आखिरी बात उस समय श्रीमती शुक्ल की बॉस श्रीमती विजया मुले थी। उन्होने जब यह सुना तो कहा कि 'तुम लोग बच गये!'

अनिल: फिर यह आखिरी बात नहीं है। विजया मुले की बात को भी 'यू हैव टू टेक विद ए पिंच आफ साल्ट'।

हस्तक्षेप- अनिल सदगोपाल

अनिल: यदि इस विषय को थोड़ा गहराई से समझा जाए तो बनेगा- हस्तक्षेप, इसका चरित्र, इसकी प्रक्रिया और, इसकी संभावना व दूसरे शब्दों में प्रशासन, स्वैच्छिक ग्रुप और जनता का आपसी संपर्क और काम करने का तरीका। मैं इसको एक छोटी सी घटना से शुरू करूंगा। पिछले साल जब एकलव्य स्थापित हो रहा था तो उसके संबंध में मैं डी.पी.आई. के पास गया। उन्होंने कहा कि यह तो सब ठीक है कि आप प्रदेश स्तर पर स्कूलों में नवाचार का काम करना चाहते हैं परन्तु मैं सरकारी अधिकारी होने के नाते सरकार के काम में बदलाव लाने के लिये तीन ढंग की ताकते जानता हूं। पहली ताकत है विधायिका, दूसरी है न्यायिक और तीसरी है प्रशासनिक। एकलव्य के पास इन तीनों में से कौन सी होगी जिससे परिवर्तन ला सके। मैने कहा कि एकलव्य के पास इन तीनो में से कोई ताकत नहीं होगी। उन्होंने कहा फिर परिवर्तन कैसे करेंगे। तो मैंने कहा कि एकलव्य के पास एक बहुत बड़ी ताकत होगी-हस्तक्षेप की। और वह हस्तक्षेप एकलव्य सरकार के किस स्तर पर करेगा, कहां पर करेगा, कब करेगा और क्या काम करवाने के लिए करेगा, इसका कोई अता-पता सरकार को नहीं रहेगा। इसकी पूरी पहल, पूरा नियंत्रण और पूरा निर्णय एकलव्य के हाथ में रहेगा। परंतु इसी कथन में हस्तक्षेप की सीमा भी दिख रही है। एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है। इसकी जो भी शक्ति है, इसकी सीमा भी है। इस संस्था के साथ जनता जुड़ी हुई नहीं है। इस संस्था में मध्यम वर्ग के निष्ठावान परिवर्तन को लाने के लिये आतुर नौजवान लोग हैं और जब तक इस हस्तक्षेप करने वाली संस्था के साथ जनता नहीं जुड़ जाती है तब तक हस्तक्षेप सीमित रहेगा। तो आज का जो मेरा कथन है कि हस्तक्षेप करने वाला ग्रुप- स्वैच्छिक संस्था किस प्रकार से बड़ा होकर जनता का स्वरूप ले ले उसके क्या तरीके होंगे उसको उभारने के लिये और उसके संदर्भ में सवाल खड़े करने के लिये है। 1980 में हमने किशोर भारती के काम को समझाने के लिये एक दिशाबोध पर्चा लिखा था। उसमें हमने एक जगह लिखा था कि वि.शि.का. को अनुमति देकर मध्यप्रदेश शासन ने प्रगतिशील भूमिका निभाई है। उस समय किसी ने इस बात पर कभी गौर नहीं किया, सोचा नहीं था परन्तु एक साथी ने इस वाक्य को पढ़कर बहुत आपत्ति की।

कहा कि आप क्या बात कर रहे हैं। समझ में आया कि सरकार ने प्रगतिशील भूमिका कभी नहीं निभाई। सरकार में काम करने वाले कुछ व्यक्तियों ने समय-समय पर अपनी पृष्ठभूमि के कारण, अपने विचारों के कारण कुछ प्रगतिशील इजाजत दी, कदम उठाए। इसका यह मतलब नहीं है कि सरकार ने कुछ किया। इसको लेकर बहुत साफ हो जाना चाहिये नहीं तो हमारे हस्तक्षेप वाले काम कर असर पड़ सकता है। सन् 1978 में यह भ्रम बहुत ज्यादा था। 1977-78 में जब हमने अपना प्रस्ताव तैयार किया था जिला स्तरीय प्रसार के लिये, तो हमें यह बहुत बड़ा भ्रम था कि हम यह कार्यक्रम सरकार को सौंप रहे हैं। हमने उस समय अपने आगे के काम के सारे निर्णय इस आधार पर किये थे कि हम यह कार्यक्रम सरकार को सौंप रहे हैं। हमने उस समय अपने आगे के काम के सारे निर्णय इस आधार पर किये थे कि बस सवा या डेढ़ साल में ऐसी प्रक्रिया होगी जिसमें हर प्रकार से यह सारा काम सरकार या एन.सी.ई.आर.टी. की किसी शाखा को सौंप दिया जाएगा। सिर्फ प्रशासनिक नहीं बल्कि शैक्षिक भूमिका भी क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, भोपाल में जो स्त्रोत दल खड़ा हो रहा है या मध्यप्रदेश के कॉलेजों से जो नये जो खोजे जा रहे हैं वे और पुराने साथी मिलकर एक नया स्त्रोत दल खड़ा कर लेंगे।

सरकार ने डी.एस.ई. कार्यालय में विज्ञान इकाई खोली, कटारे साहब को वहां पर स्थापित किया। यह सारी तैयारी बहुत असामान्य, असाधारण ढंग से हुई। परंतु कुछ ही महीनों के अंदर हमारा भ्रम तेजी के साथ टूटा। 1978 का साल खत्म भी नहीं हुआ था कि यह निष्कर्ष निकलने लगा था कि सरकार इस काम को न तो प्रशासनिक स्तर पर और न ही शैक्षिक स्तर पर चला सकती हैं। उसकी जबरदस्त सीमाएं हैं। उस तंत्र का अपना चरित्र, उसके अंदर का पद क्रम, उसके गैर प्रजातांत्रिक गैर प्रगतिशील रवैये इतने ज्यादा है कि न क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय उस ढंग की भूमिका अदा कर पाएगा और न डी.एस.ई. कार्यालय। इस बात को और गहराई से समझने के लिये और एक स्वैच्छिक ग्रुप की क्या भूमिका हो सकती है इसको समझने के लिये में दो या तीन उदाहरण देना चाहूंगा। सबसे पहले मैं किट का उदाहरण देना चाहूंगा। किट को लेकर बहुत जबर्दस्त अनुभव रहा है। लगभग दो साल तक जब भी क्षतिपूर्ति का मौका आया तो हम लोग कई अवसरो पर डी.एस.ई. और डी.ई.ओ. को समझाने और प्रेतित करने की कोशिश करते रहे कि कुछ प्रस्ताव बने,

भेजा जाए। कुछ हुआ, देरी से हुआ, कुछ गलत हुआ, अधूरा हुआ पर अंत में कुछ हो गया। इतनी देरी से गया और उसका पीछा करने का कार्यक्रम डी.एस.ई. कार्यालय का बहुत कमजोर था। जब उन्होंने कोशिश भी की तो हर एक की अपनी-अपनी सीमाएं थी। दो साल तक क्षतिपूर्ति के कोई आसार नजर नहीं आए। तीसरे साल में हमारा निर्णय बदला। हम लोगों ने पहल करके अपना प्रस्ताव तैयार किया। उसकी एक प्रति प्रॉपर चैनल से भेजने के लिये डी.एस.ई. कार्यालय भेजी और जो कार्बन कापी थी (जिससे असल में काम हुआ था) शिक्षा सचिव और डी.पी.आई. को सौंप दी। उसके बाद वह किस प्रकार से वित्त विभाग में से और शिक्षा विभाग में से बाहर निकल कर स्वीकृत हुआ है उसकी एक बड़ी कहानी है और डी.एस.ई. कार्यालय यदि अपनी पूरी ताकत भी लगा देता तो भी हल नहीं कर पाता। यह थी पहली समस्या। दिसंबर के अंतिम सप्ताह में डी.पी.आई. ने कटारे साहब को यह चेतावनी दी कि वह प्रस्ताव शायद मंजूर हो जाएगा और आप अग्रमि टेण्डर बुलवा लीजिये और काम श ुरू कर दीजिये। इतना साफ कहने के बावजूद विज्ञान इकाई ने कोई कार्यवाही नहीं की। कहा कि हम सरकारी लोग है, हम तो तभी करेंगे जब सब कुछ लिखा हुआ आ जाएगा। हालांकि टेण्डर बुलवाने से आप वचनबद्ध नहीं होते। डी.एस.ई. कार्यालय ने इसके बावजूद भी एकदम नियमो के मुताबिक चलने का निर्णय लिया अन्यथा पैसा आने के बाद जो पैसा उपयोग नहीं हो पाया, उसकी मात्रा बहुत कम हो जाती। फरवरी में डी.पी.ई. ने फिर कहा कि वह लगभग मंजूर हो गया है अब आप निकाल दीजिये टेण्डर। उसके बाद मैंने कटारे साहब से बात की । उन्होनें कहा कि हम नहीं निकाल सकते जब तक हमारे हाथ में नहीं आ जाता। मैं समझा यह रहा हूं कि कई बार भ्रम होता है कि विज्ञान इकाई ने पहल इस तरह की है। परन्तु मेरा अपना मत हैं कि ऐसा नहीं है। अगर रमण गुप्ता ज्यादा प्रभावशाली ढंग से किट वितरण का काम करने लगता है तो हम फिर भ्रम में पड़ जाते है। यदि वह वास्तव में भी प्ररित है तो उसकी जबर्दस्त सीमाएं है। वह तीन बंदो में से एक है, पूरे तंत्र का पुर्जा है एक प्रकार से। यदि हम मानते है कि पहल स्थापित हो गयी है विज्ञान इकाई में क्योंकि हमने बहुत प्रजातांत्रिक ढंग से आदान-प्रदान किया है तो मेरा अगला

सवाल है कि अब अगला प्रस्ताव किट क्षतिपूर्ति का (जो कि चला जाना चाहिये था) किसकी पहल से जा रहा है और कब जा रहा है ?

इससे हटकर पाठ्यपुस्तक निगम का उदाहरण है जिससे बात ज्यादा साफ हो जाएगी। जब डॉ.टी.बी. नायक पा.पु.नि. के संचालक थे और हमें पहली (छठवीं की) बाल वैज्ञानिक छपवानी थी तो हमें कोई दिक्कत नहीं आयी। बहुत तेजी के साथ, सही ढंग से छपी बिना समस्या के। किन्तु नायक स्वयं प्रेरित थे और उस समय तक पा.पु.नि. में भ्रष्टाचार की प्रक्रिया स्थापित नहीं हुई थी। कल्याण चक्रवर्ती भी स्वयं प्ररित थे और नायक से ज्यादा जुझारू थे पर उसके बावजूद वे हमारी किताब जल्दी छपवाने में कोई खास भूमिका अदा नहीं कर पाये क्योंकि तब तक पा.पु.नि. में भ्रष्टाचार स्थापित हो चुका था। उस समय शिक्षा विभाग में बहुत भ्रष्ट मंत्री था और इस कारण से चक्रवर्ती की भूमिका बहुत सीमित हो गयी। किताब का मामला असल में जाकर वहां फंसा था जब उसकी कीमत तय करने की बात आई थी और उसकी कीमत बहुत ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर तय की जा रही थी। उसकी जो मूल्य निर्धारण समिति थी उसके अध्यक्ष के साथ हमने बहुत समय तक चर्चा की। उनके सारे कर्मचारियो के साथ मूल्य नीति को लेकर बहुत विस्तार में बातचीत हुई। चक्रवर्ती ने कह दिया था कि यदि समिति मूल्य कम कर देगी तो मुझे आपत्ति नहीं है। समिति ने अपने सारे नियम पेश किये, बाद में पता चला कि उनके सारे नियम निराधार थे, और बाद में वे नियम बदले भी गये। पर उन्होंने हर प्रकार से कोशिश की कि इसकी कीमत कम न हो। इस मांग के संबंध में हमने हर स्तर पर चर्चा/संपर्क करे। अंत में बेहार साहब जो इस समय शिक्षा सचिव थे, उन्होंने दखल दिया। उनके दखल के बावजूद, भी कीमत कम नहीं हुई। अंत में बात कैसे बनी? हमने आठ-दस शिक्षको से बात की और उन शिक्षको ने अपने इलाको से बच्चों और पालको ने ढेर सारी चिट्ठियां शिक्षा मंत्री को लिखी। उसके दस बारह दिन बाद जब मैं चक्रवर्ती से मिलने पहुंचा तो उन्होंने एक बड़ा गट्ठर मुझे दिखाया और कहा कि ये शिक्षा मंत्री से आया है और पूछा है कि इस किताब को निकालने में क्यों देरी हो रही है? तो मैंने उनको लिखकर भेज दिया है कि फाइल आपकी ही मेज पर रखी हुई है। कोई चार-पांच दिन के अंदर सारा

मामला हल हो गया। इसमें सम्भावना दिखी कि किस प्रकार से आप जनता को जोड़ सकते है। किन्तु इसमें भी भ्रम नहीं रहना चाहिये कि यह हर जगह कारगाार होगा। अगले संचालक ठाकुर थे जो स्वयं प्ररित नहीं थे और हमारे साथ एक खेल खेल रहे थे। हमें भ्रम में डाल रहे थे कि वे हमारे साथ है। काफी समय तक हमको लगा कि वे हमारे साथ है। वे हमें बताते रहे कि उन्होने पाण्डुलिपि छपने को आगरा भेज दी है। मध्य अक्टूबर में कई बार मिलने के बाद मैंने उनके रचना सेक्शन के एक छोटे अफसर से बात की तो उन्होंने कहा कि पाण्डुलिपि नहीं जाएगी इस साल, आप बेफ्रिक रहिये क्योकि अभी ठाकुर साहब प्रकाशक के साथ लेन-देन का मामला तय कर रहे हैं। वे ज्यादा मांग रहे है प्रकाशक दे नहीं रहा, इसलिये आपकी पाण्डुलिपि नहीं जाएगी। सोचा कि एक बार फिर वह काम करें जो हमने पहले किया था, बच्चों से चिट्ठियां लिखाएं लेकिन मध्य अक्टूबर में इसका समय नहीं था। यह कक्षा 8 की पुस्तक के खण्ड 2 की कहानी है। उस समय एक ही तरीका समझ में आया, मुख्यमंत्री के पास गये (यह समझ में आ गया था कि ठाकुर शिक्षा सचिव की नहीं सुनने वाला क्योंकि शिक्षा मंत्री उसका साथ दे रहे थे)। मुख्यमंत्री से बात

की, उस समय ठाकुर ने मुख्यमंत्री को पटाया नहीं था। मुख्यमंत्री ने उनको चेतावनी दी और कहा कि एक महिने के अंदर छपी हुई किताब लेकर आएंगे आप दिखाने के लिये। वह एक महिने में नहीं छपी, पर दो महिने में छप गयी और ठाकुर साहब इस घटना के कारण आज तक हमसे सख्त नाराज हैं। उस समय जनता की भूमिका उभारने का प्रयत्न कर सकते थे पर समय कम था। एक ऐसा समय था करीब डेढ़-दो सालो का जब डी.ई.ओ., डी.एस.ई., डी.पी.आई., संयुक्त डी.पी.आई., पा.पु.नि. के संचालक, शिक्षा सचिव सब ऐसे थे जिनकी पकरवर्तन के कामो में शून्य रूचि थी। उन दिनों हम एक पत्ता तक नहीं खड़का सके। सरकार प्रगतिशील थी या नहीं थी उसी समय तय हो गया था। सरकार वही थी, ये सारे व्यक्ति बदल गये थे और सब घूस लेने वाले। यह सन 1980 के चुनाव के तुरंत बाद की बात है। अगर हम आज जाते है मुख्य मंत्री के पास (खण्ड-2 अभी भी फंसी हुई है, नहीं छप रही है) तो मेरे ख्याल में कुछ नहीं होगा। इसी बीच ठाकुर साहब

काफी सर्तक हो गये और पा.पु.नि. को जो 80 लाख का मुनाफा हुआ (कानूनन नहीं होना चाहिये) जिससे उन्होंने तय किया कि स्कूल भवन बनवाएंगे और सबसे पहली इमारत उन्होंने सीधी जिले में चौरहट तहसील में, अर्जुनसिंह के गांव में बनवायी। इसका उद्घाटन अर्जुनसिंह से करवाया। ऐसी हालत में आप क्या कर सकते है? आप जरूर अशोक बाजपेयी से कह सकते हैं वे कुछ करेंगे, आप बेहार से कह सकते हैं वे भी कुछ करेंगे परन्तु इस समय जनता की भूमिका को कारगार बनाने का बहुत अच्छा मौेका है। इस समय पूरे जिले में अभियान चलाने की आवश्यकता है, मासिक गोष्ठी के माध्यम से, बुलेटिन के माध्यम से, व्यक्तिगत संपर्क से, हो सके तो पत्र से कि बच्चे, पालक जहां-जहां सम्भव हो ढेर सारी चिट्ठियां लिखे और दबाव डालें सरकार पर कि वह किताब छापे।

परीक्षा का मामला आज विनोद ने बहुत अच्छी तरह से समझाया। परीक्षा की बदलती सीमाएं क्या है, और उसमें बेईमानी को नियंत्रित करने की क्या सीमाएं है और इस तरह यदि हम परीक्षा में सुधार करना चाहते हैं तो कुछ सुधार हम अंदर से ही नियम बदलकर कर सकते हैं, कुछ खुद ज्यादा सक्रिय होकर कर सकते हैं परन्तु ज्यादा सम्भव होगा यदि पूरी जनता में (होशंगाबाद जिले की) परीक्षा को लेकर एक नया माहौल बनाएं। हमने आज सिद्धांत बनाया है कि परीक्षा के नियम बदलने का जो काम है वह तो करेंगे ही परन्तु साथ-साथ जनता में नया माहौल बनाने का काम भी करेंगे। तभी आप पूरे समाज में नकारात्मक प्रक्रिया जो परीक्षा को लेकर हुई है उस पर कुछ दबाव डाल पाएंगे जिसका असर सरकारी तंत्र पर पड़ सकता है। इसलिये मैं बार-बार जनता की भूमिका बात कर रहा हूं परंतु उसको समय से करना, उसकी पूर्व तैयारी करना, उसके लिये लंबे व दूरगामी कार्यक्रम बनाना बहुत जरूरी है। मैं अब सिद्धांत

बनाने पर आउंगा– नौकरशाही की सीमा को लेकर किस ढंग के सिद्धांत होते है। पहला सिद्धांत कि नौकरशाही की परिवर्तन को लेकर साधारणत: अपनी कोई निष्ठा

नहीं होती। अपवाद स्वरूप कुछ लोग होते हैं हर स्तर पर जिनकी कभी–कभी अपनी निष्ठा कुछ सीमा तक चलने की होती है। दूसरी बात कि इस नौकरशाही से जुड़े कर्मचारियों की रोजी–रोटी का सवाल इस बात से कभी नहीं जुड़ा होता कि उन्होने शिक्षा में या कहीं भी नवाचार या परिवर्तन का काम किया हो। उनकी सी.आर. में कभी नहीं लिखा जाएगा कि कटारे साहब ने ईमानदारी से परिवर्तन के काम को समर्थन दिया। तीसरी बात, कि पूरे शासकीय तंत्र का वही वर्ग चरित्र है जो समाज के उपर शासन करने वाले उच्च वर्ग का। इसलिये वह वर्ग चरित्र निर्धारित कर देता है कि उस पाइप लाइन में पानी बहेगा या तेल। आप उसको बदल नहीं सकते। इसी बात को लेकर बेहार के मॉडल से हमारे कुछ अंतर हो जाते है। बेहार जब कहते है कि सरकारी तंत्र का आप फायदा उठाइये तो इस विश्वास से कहते हैं कि सरकारी तंत्र में कुछ परिवर्तन लाया जा सकता है। हम भी कहते है उसका फायदा उठाइये, उसके अंदर जो विरोधाभास है चाहे वह व्यक्तियों के है, प्रणालियो के है उनके नियमो की कमजोरियो के है, उनका जरूर फायदा उठाइये पर इस बात का कोई भ्रम नहीं है कि उस तंत्र में परिवर्तन लाया जा सकता है बल्कि घोर अविश्वास है उस तंत्र पर। घोर अविश्वास के साथ हम उसमें हस्तक्षेप करते हैं और हम उसकी रणनीति बनाते हैं। रणनीति इस पूरे तंत्र के विरोधाभासो पर आधारित होती है। योजना आयोग अब एकलव्य के समर्थन में एक मीटिंग बुलाता है और समर्थन देता है तो कभी भ्रम नहीं होना चाहिये कि आपने योजना आयोग में इस तरह के कामों के समर्थन की कोई नीति बना दी है। वह एक अकेली घटना है, एक विरोधाभासी परिस्थिति के कारण यानी स्वामीनाथन की उपस्थिति के कारण हो गयी, वह दोहरायी नहीं जा सकती। जब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आपके साथियो को फैलोशिप देता है तो कभी खुश नहीं होना चाहिये कि आयोग में आपने प्रणाली स्थापित कर दी है। आपने कुछ खास घटनाओं और परिस्थितियों का लाभ उठाकर कुछ व्यक्तियो को समर्थन दिलवा दिया। आप यह नहीं कह सकते कि कल रायपुर या उड़ीसा में बैठा व्यक्ति इस प्रक्रिया को दोहरा सकता है । तो रणनीति क्या बनती है? हमारे जैसे स्वैच्छिक ग्रुप नौकरशाही और सीमित रूप में राजनैतिक स्तर पर उनके

विरोधाभासो को पहचानें, उनका सूक्ष्म विश्लेषण करें, उनके नियमों की कमजोरियों को पहचाने और तय करे कि कब, कहां और कैसे हस्तक्षेप करना है। जहां पर आपको अच्छे व्यक्ति दिख जाते हैं तंत्र में वहां पर उनको वैचारिक स्तर पर साथ चलने से बहुत फायदा होता है। जैसा हमने बेहार के साथ किया। या कुछ हद तक कटारे के साथ। एक डी.ई.ओ. थे स्थापक। उनको हमारे विचार और काम करने के तरीके बहुत पसंद आए। वे कहते थे कि आपको जो आर्डर पास करवाना है आप उसको टाइप करके ले आइये और मुझसे दस्तख्त करवा लीजिये और यही नहीं, वे यहां आते थे, प्रयोग करते थे, प्रदर्शनियो में भाग लेते थे और बहुत उत्साह के साथ शिक्षाकों को कहते थे कि इसमें काम करो। परन्तु हमें कभी भ्रम नहीं हुआ कि वह कार्यालय बदल गया है। वह कभी बदला नहीं, आज भी नहीं बदला है जो हमारे विरोधी या उदासीन हैं उनको कभी प्रतिकूल नहीं करना चाहिये। उनके साथ संतुलित संपर्क करके, एक संतुलित फासला बनाकर रखना चाहिये। क्योंकि वह बहुत नुकसान पहुंचा सकता है, जैसे ठाकुर को हमने प्रतिकूल कर दिया, लाचारी में। उसका नुकसान अभी तक हो रहा है। जहां-जहां सम्भव हो अच्छे व्यक्ति को खास स्थिति में डालने की कोशिश करनी चाहिये। जैसे हमने कटारे को यहां बुलवाकर की, कुछ हद तक मालवीय जी के साथ हो पायी। बहुत बड़े स्तर पर बेहार साहब के साथ वह काम किया। एन.सी.ई.आर.टी. का गठन, कभी भ्रम नहीं होना चाहिये कि किसी शासकीय नीति का परिणाम है। एन.सी.ई.आर.टी. का गठन 1979 में शिक्षा सचिव के साथ जो प्रक्रिया इस कार्यक्रम के फैलाव की शुरू हुई थी उसी संवाद से विकसित हुई एक नीति थी जिस समय से एस.सी.ई.आर.टी. का गठन हुआ है शासन की कोई इच्छा नहीं थी करने की। और बेहार का एस.सी.ई.आर.टी. में जाना, बेहार का एकलव्य में आना एक अच्छे व्यक्ति की पहचान कर सही स्थान पर डलवाने का मामला है। ये भी हस्तक्षेप की कहानी है। ये पहला सिद्धांत है- नौकरशाही के साथ इस ढंग की भूमिका अदा करना।

दूसरा सिद्धांत भी उतना ही महत्वपूर्ण है जिसकी भूमिका इन पांच-छः दिनों में काफी स्पष्ट हुई है- वह है जनता को वैचारिक स्तर पर परिवर्तन के लिये तैयार करना और उनके साथ

काम करके माहौल तैयार करना। इस पर मैं कुछ नहीं कहूंगा। यह सारा काम अनवर करेंगे और बताएंगे कि जनता को जागरूक कैसे करना है।

गलत फहमी बिल्कुल न रहे इसलिये मैं फिर से दोहरा देना चाहता हूं कि ये शासकीय तंत्र बदला नहीं जा सकता और नियंत्रित नहीं किया जा सकता। इस पर मात्र दबाव डाला जा सकता है स्वैच्छिक गुटों के द्वारा और जनता के द्वारा और अपने काम करवाये जा सकते है। पहल हमेशा हमारे हाथ में रहा करेगी। पहल करने वाली एजेन्सी का चरित्र क्या हो इस पर विचार करते है। सृजनात्मक हो, विकेन्द्रित हो, प्रजातांत्रिक हो यही उसकी शक्ति है यही उसकी जिम्मेदारी है। आपके हस्तक्षेप का समय आप स्वयं तय करेंगे। किस स्तर पर कब हस्तक्षेप करेंगे। दो सवाल पेश करना चाहूंगा–

1978 में जो हमारा भ्रम था और टूटा कि हम सरकार को कुछ सौप सकते है, उसी से यह सवाल बनता है कि क्या स्वैच्छिक संस्था की हस्तक्षेप वाली भूमिका कभी भी समाप्त होगी? कभी ऐसा समय आएगा जब स्वैच्छिक गुटो की आवश्यकता नहीं रहेगी? यह सवाल मैं खुले सवाल के रूप में पेश कर रहा हूं। यह भी प्रश्न है कि किस काम के लिये और कब, स्वैच्छिक गुटो को खास निर्णय करके सीमित कामों के लिये समांतर प्रणालियां स्थापित करनी चाहिये? किशोर भारती एकलव्य ग्रुप ने अभी एक समान्तर प्रणाली कर दी है बुलेटिन की क्योकि वह डी.एस.ई. कार्यालय ने नहीं की। अापको निर्णय करना है कि क्या अभी कोई ऐसा क्षेत्र बचा है, जहां (चाहे किट का है, किट में पूरा काम नहीं करना क्याेंकि हमारा विश्वास है तंत्र से करवाने का) समान्तर प्रणाली स्थापित प्रणाली स्थापित करना अब जरूरी हो गया है? इस प्रकार से सीमित निर्णय सीमित कामो के लिये करने होंगे।

दूसरा सवाल है स्वैच्छिक संस्था के चरित्र का आप कितना फैला सकते है, निर्णय कीजिये। अभी आप मालवा क्षेत्र में, भोपाल, होशंगाबाद के क्षेत्र में फैल रहे हैं। क्या इतना बड़ा आप इसको बना सकते है कि आप पूर्वी मध्यप्रदेश में भी चले जाएं। या मध्य भारत की ओर चले जाएं? और अधिक

फैलने से आपके सृजनात्मक और प्रजातांत्रिक चरित्र पर क्या असर पड़ेगा और उससे आपकी हस्तक्षेप की भूमिका कैसे सीमित हो जाएगी, यह भी सोचने की बात है। क्या यह आवश्यक नहीं होगा कि स्वैच्छिक संस्थाओ के ऐसे स्वतंत्र तंत्र अलग-अलग इलाको के लिये अलग-अलग ढंग से बन जाएं, ताकि उनकी हस्तक्ोप की यह प्रजातांत्रिक और सृजनात्मक ताकत हमेशा बनी रहे। इन दो सवालो के साथ मैं समाप्त करना चाहूंगा।

स्याग: अस्पष्ट प्रश्न

अनिल: म.प्र. में राजनीति का चरित्र बहुत कुछ इस बात से निर्धारित होता है कि म.प्र. में विकास का चरित्र क्या है? म.प्र. में इस समय मुख्यत: कृषि उत्पादन होता है। छोटे स्तर पर बढ़ते हुए औद्योगिक क्षेत्र हैं और उत्पादन की इन्हीं दो शक्तियों को नियंत्रित करने वाले तबको का प्रतिनिधित्व राजनीति में हैं, सामंती और पूंजीवादी। तो आपको इस नजर से राजनीति को देखना होगा। आपको सामंती और औद्योगिक शक्तियों के अंर्तद्वंद का फायदा उठाना होगा। नौकरशाही का चरित्र बहुत अलग होता है। क्योंकि नौकरशाही प्रमुखत: मध्यमवर्ग से उभरकर आती है। उसमें भी एक वरिष्ठ नौकरशाही है और एक कनिष्ठ नौकरशाही है। इन दोनों के चरित्र में भी काफी अंतर होता है। वरिष्ठ नौकरशाही बड़े शहरो के उपरी मध्यम वर्ग से निकलकर आती है और कनिष्ठ नौकरशाही स्थानीय स्तर की होती है। उनका रिश्ता, उनका लगाव इस इलाके के सामंती तबके के साथ होता है। इसकी संभावना कि इसमें समर्थन देने वाला कोई मिले बहुत कम है बनिस्बत वरिष्ठ नौकरशाही के। इसीलिये ऐसे इलाकों में विधायक, सांसद आदि का समर्थन नहीं मिलता है। किन्तु जहां तेजी से औद्योगिकीकरण हो रहा है वहां हो सकता है ऐसे विधायक मिल जाएं जो इस कार्यक्रम को प्रगतिशील समझे।

स्याग: जो स्वैच्छिक संगठन है, उसमें कैसे लोग है, इस पर भी तो निर्भर होगा, न? जैसे एक छोटी-सी संस्था है जिसमें स्थानीय

लोग ज्यादा हैं उनका चरित्र अलग तरह का होगा। उसका भी असर पड़ेगा।

सुशील: ये तंत्र के विरा◌ेधाभास तंत्र-जन्य है या जो ये व्यक्तिगत रूप में उभरते है जैसे बेहार है। इसे तंत्र का विरोधाभास कहेंगे या ये उनका व्यक्तिगत गुण है। ये मैं समझना चाहूंगा।
अनिल: इस मामले में केवल तंत्र की बात नहीं है। इसमें समाज की भूमिका है। जिस पृष्ठभूमि से बेहार निकले है जिस ढंग की उन्होंने शिक्षा पाई है, उससे उन्हें भारत की समस्याओं के बारे में जानकारी मिली है। उनके कारण आई.ए.एस. के पूरे दबाव के बावजूद उन्होंने अपनी निष्ठा नहीं खोई। मैं उनको उस विरा◌ेधाभास में देखता हूं जिसमें हम सब हैं। मध्यम वर्ग के वे तत्व जो भारत की मुख्य धारा से असंतुष्ट है, उसमें गड़बड़ देख रहे है और उसको बदलने के लिये कुछ करना चाहते है, जिन्होंने कुछ समझौते किये, कुछ पैसो के कारण या कुछ भ्रमो के कारण।

<u>समाहित होना न होना</u>

यह चर्चा हस्तक्षेप की चर्चा होते-होते उभर आयी। इस पर तरह-तरह के प्रश्न उठे व कभी कुछ स्पष्ट उत्तर और कभी अत्यन्त अस्पष्ट उत्तर सामने आये क्योकि किसी ने भी बहुत विस्तृत रूप से पहले इन प्रश्नो को सोचा नहीं था।
सुशील: एक खास कारण से मैं यह अन्तर पूछ रहा था कि ये (अनिल बोर्डिया जैसे) ऐसे व्यक्ति हैं जो शासन तंत्र में भी है और किसी हद तक प्रगतिशील विचारो के प्रति निष्ठा भी है। ऐसे व्यक्तियो का एक विशेष उपयोग शासन भी करता है। एक तरफ जहां स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता ऐसे व्यक्तियो का उपयोग करते है वहीं शासन भी इनका एक विशेष उपयोग करता है वह है परिवर्तनों की सहमति (को-आप्ट) करना।
अनिल: शासन में इस तरह के जो तत्व होते है, जो प्रगतिशील दिखते है वे एक ओर तो इसमें अवरोध को दूर करने की कोशिश करते हैं

अपने तरीके से। परन्तु शासन भी उनका उपयोग करना जानता है। यह बात साफ -साफ उभर रही है कि शासन इन तत्वों का उपयोग समाज में होने वाले परिवर्तनों को समाहित करने में भी करता है। मुझे अच्छी तरह याद है कि इस प्रकार का उपयोग अनिल बोर्डियो का भरत सरकार ने किस तरह किया? अनिल बोर्डियो बहुत अच्छे व्यक्ति थे, बहुत निष्ठावान और वास्तव में चाहते थे कि कुछ हो जाए प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से। भारत में कुछ क्रांतिकारी बात करे, कुछ माहौल बन जाए, परिवर्तन का। इसी समय में जनता शासन आया। वहां के लोगो ने भी तय किया प्रौढ़ शिक्षा करने का। दोनो के हित मिल गये अनिल बोर्डियो ने अपने ढंग से समझा, और शासन ने अपने ढंग से समझा। दोनो ने मिलकर काम किया। अनिल बोर्डियो सरीखा आई.ए.एस. अधिकारी प्रौढ़ शिक्षा करने के लिये भारत

सरकार को मिल नहीं सकता था। परन्तु शासन को भी बहुत साफ था कि अनिल बोर्डियो की सीमाएं है। तो उसका दुष्प्रभाव देखिये कि हिन्दुस्तान के बहुत सारे अच्छे स्वैच्छिक समूहों को, छात्र युवा संघर्ष वाहिनी के बहुत अच्छे कार्यकर्ताओ को,अनिल बोर्डियो ने समझा बुझाकर, यह कह कर कि बहुत संभावनाएं हैं इस कार्यक्रम में, उनको प्रौढ़ शिक्षा का अनुदान दे दिया। वे संस्थाएं, वे ग्रुप, वे नौजवान लोग उस अनुदान के चक्कर में बरबाद हो गये। ऐसे बहुत से लोगो को हम जानते है जो कहते हैं कि कैसे हम बरबाद हो गये। पैसा मिला पर कुछ कर नहीं पाये। उन्होंने यहां तक कोशिश की कि खेतिहर मजदूरो को संगठित करने वाले मार्क्सवादी विचारो से प्रेरित लोग उनको तक उन्होंने समझा, विश्वास दिलाकर अपनी मीटिंगो में बुला लिया। यह सहमति करने की शक्ति होती है शासन में। अनिल बोर्डियो जिस ढंग की क्रांतिकारी बातें करते थे माओ का एक कथन उन्होंने अपने ऑफिस में लटका रखा था। तो उनकी ऐसी छवि थी, इतने शक्तिशाली थे, ऐसे सपने वे दिखाते थे कि मार्क्सवादी विचारक भी उसमें बह गये।

स्याग: इसमें आप क्या आकलन देंगे कि किशोर भारती और एकलव्य समाहित संस्थाएं नहीं है?
अनिल: आप तब तक समाहित संस्था नहीं है जब जक तंत्र के चरित्र को समझ रहे हैं और उनकी कार्यवाही को इस बारीकी से देख रहे है।
स्याग: जिन लोगो का आपने उदाहरण दिया उनकी भी समझ थी।
अनिल: उन्होंने जरूर विश्लेषण किया होगा बाद में और उन्होंने अन्त में प्रौढ़ शिक्षा का अनुदान लेने से मना कर दिया।
अनवर: ये जो आप तंत्र की बारीकियों की बात कर रहे थे ना तो हम यह जोड़ रहे थे कि ऐसे कि लोग तंत्र में भी मिल जाएंगे जो बहुत बारीकी से तंत्र का ऐसा विश्लेषण कर देंगे, जो आप कर रहे हैं और वे सरकार में काम कर रहे है, तो आप क्या कहेंगे उनको क्या वे समाहित नहीं हैं?
हार्डी: मुझे लगता है कि अगर हममें से किसी की भी यहां क्षमता है या हिम्मत है कि खेतिहर मजदूरो का संगठन खड़ा कर सके तो फिर मुझे मालूम नहीं है कि फिर ये सवाल उठता है कि हम समाहित है या नहीं? समाहित होना किस स्तर पर होता है, किसका होता है, कैसे होता है, किसका होता है, कैसे होता है समझना जरूरी है, केवल प्रतिक्रिया के लिये कह देना कि समाहित किया है, साफ नहीं है।

विजय: हम शुरूआत से ही समाहित हैं, क्या कहना चाहते है आप?
हार्डी: देखिये ऐसा है कि एक समाज में कुछ प्रकिगयाएं है, उन प्रक्रियाओं में परिवर्तन के कई कदम होते हैं। कहां तक आपकी सीमा है, यह आपकी व्यक्तिगत सीमाएं भी तय करती है और उन सीमाओ के रहते आप कितना कर पा रहे है, अगर आपकी वास्तविक शक्ति से ज्यादा है, तो आप समाहित नहीं हैं। और यदि ये कम है तो यह सवाल कि आप समाहित है या नहीं है उठता ही नहीं है।
अनिल: देखिये मामला उलझा हुआ है, इसकी कोशिश कर सकता हूं हल करने की और लोग भी मदद करे। मैंने जिक्र किया शासकीय प्रगतिशील तत्वों का जो एक ही टाइम पर दो ढंग की भूमिका अदा करते हैं कभी उनके कामो से वास्तव में कुछ फायदा हो जाता है, कभी उन्हीं के

कामों से नकारात्मक प्रक्रियाएं भी हो जाती है जो वे समझ पाते या नहीं समझ पाते है, अलग सवाल है। परन्तु मेरे ख्याल से अपनी योगयता , अपनी मानसिक तैयारी, इस प्रणाली को समर्थन देने की और उसकी सीमाएं, इन सबको जानते या मानते हुए आप अपनी सामाजिक भूमिका तय करते है और उस भूमिका से एक ढंग की परिवर्तन प्रक्रिया शुरू होगी। इसकी जब आप साफ-साफ राजनैतिक परिभाषा दे देते है, और निरूपित कर देते है, और उसको निष्ठा के साथ निभाते है, उसमें कहीं इस तरह के भ्रम में नहीं पड़ जाते कि इससे ज्यादा हम कुछ कर रहे हैं। सीमित भूमिका अदा कर रहे है, उस दायरे को पहचान जाते है तो मुझे लगता है कि आपकी बहुत प्रखर राजनैतिक समझ है। जब इस दायरे को आप नहीं पहचानते और बार-बार भ्रम होता रहता है कि हम संगठन खड़ा कर रहे है या हमारे काम से क्रांति आ जाएगी, तब आप भ्रम में पड़कर बहुत सारे नकारात्मक काम भी शुरू कर देते हैं। मैं यह कहना चाहूंगा कि स्वैच्छिक गुट एक परम्परागत नाम है। वे स्वैच्छिक ग्रुप जिन्होने समाज में होने वाली प्रक्रियाओ और विकास की राजनैतिक समझ स्थापित कर ली है उनके लिये हाल में एक अलग नाम दिया है- बिना पार्टी वाले राजनैतिक ढांचे (नान पार्टी पालीटिकल फार्मेशन्स) वे पार्टी नहीं है उसके बावजूद उनकी एक राजनैतिक स्वरूप है। उस राजनैतिक स्वरूप को अपने अंदर साफ-साफ समझना और उसके आधार पर अपने दायरे तय करके काम करना ही एक साफ-साफ काम है जो समाहित नहीं हो सकता।
रेक्स: मैं एक बात समझना चाहता हूं। यदि कोई समझा सकते है। एक तरफ से शासन या सरकार, यानी यदि सिद्धांत स्तर पर देखे तो ये दोनो पैसे पाईप लाइन में डालते है स्वैच्छिक संस्थाओ को देने के लिये। ये भी समाज की व्यवस्था को वैसे ही समझते हैं जैसे हम। वे समूहो की सीमाएं भी समझते है।
अनिल: तुम बिल्कुल ठीक बोल रहे कि वे लोग भी समझते हैं और वे बहुत सोच समझ के साथ इस ढंग के प्रावधान खड़े करते है। इस तरह के अनुदान मंच सब देते है जिसमें इस तरह के सामाजिक कार्यकर्त्ता फंसे। बहुत साफ समझ के साथ यह होता है।

रेक्स: मैं कह यह रहा हूं कि लोग जो सोचते है कि वे नहीं फंसे है वे वास्तव में फंसे है।

अनिल: फिर तो आपने पारिभाषित कर दिया सब व्यक्ति समाहित है चाहे वे कुछ भी करते रहे। आपको कहीं तो विश्लेषण करना पड़ेगा ना?

सुशील: मैंने खास कारण से वह प्रश्न पूछा था अनिल ने शासन तंत्र में हस्तक्षेप के कुछ सिद्धांत बताए थे। उसमें एक सिद्धांत था शासन के विरोधाभासो का इस्तेमाल करना। उसमें वे व्यक्ति भी उभरते है जो प्रगतिशील विचारो के है लेकिन शासन तंत्र में है किसी कारण से। तो ऐसे व्यक्तियों का उपयोग करके, ऐसे व्यक्तियों से मेलजोल बढ़ाकर एक काम को करवाना। इसमें लगातार यह डर बना रहता है, और कई जगह यह हुआ भी है कि बजाय स्वैच्छिक संस्थाएं उस व्यक्ति के माध्यम से शासन तंत्र का उपयोग करे, शासन तंत्र उस व्यक्ति के माध्यम से स्वैच्छिक संस्था का उपयोग करने लगता है। बहुत बड़े-बड़े आन्दोलनो का ऐसा हुआ है। चिपको आंदोलन के साथ बहुत बड़े-बड़े पैमाने पर ऐसा हुआ है।

अनिल: ये तुम्हारी चेतावनी थी उसको तो स्वीकार किया गया है।

सुशील: इस पर कोई निर्णय नहीं करना है कि हम समाहित हो गये है या नहीं। इसको सिर्फ एक चेतावनी के रूप में रखे कि हम इस भ्रम में न रहें कि हम इन व्यक्तियों के माध्यम से इन विरोधाभासो का उपयोग कर रहे है और वास्तव में हो ये रहा हो कि शासन तंत्र हमारा अच्छे से उपयोग कर रहा हो।

साधना: यह एक सापेक्ष चीज है। आज कई लोग है जो कहते है कि अनिल इस वक्त पूरी तरह से समाहित कर लिया गया है जिस तरह से आमंत्रण आते है, शिक्षा आयोग में बुलाया जाता है, जिस तरह से वह इस अड्डे से गायब है, आदि। एक ये परिभाषा है। एक परिभाषा है कि स्वैच्छिक संस्थाओ में जो नौजवान लोग है, जिनमे जोश होता है काम करने का, जो वास्तव में शायद संगठन के काम करने में आगे बढ़ सकते है ये सारी संस्थाएं बीच में आकर उनको समाहित कर लेती है।

अनवर: हम लोगो के लिये ये सवाल अक्सर उठता है कि हम लोग जिस तरह से ये काम कर रहे है उसमें ये खतरे है कि नहीं? और मुझे लगता है कि हम लोगो के बीच इतनी सफाई की कमी है कि इस पर चर्चा करने से फायदा होगा।

अनिल: मैं थोड़ी जानकारी देना चाहूंगा। यह मामला बहुत उलझा हुआ और इसमें आप मात्र कुछ संतुलन की बात कर सकते है। मैंने कुछ कोशिश की थी दायरे शब्द का उपयोग करने की। मुझे लगता है कि वह महत्वपूर्ण है। सैद्धांतिक स्तर पर परिवर्तन को आप किसी प्रकार से समझ सकते है हमने परिवर्तन को इस प्रकार से समझा या परिवर्तन की प्रक्रिया इस प्रकार से समझी है और उसका ये दायरा है और उसमें ये दिशा और ये संभावनाएं हैं। जब तक आपको ये महसूस होता रहे कि आप उस दायरे में काम कर रहे है और उस प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओ को उभार पा रहे है। तब तक तो आप समाहित नहीं हुए है जिस दिन आपका दायरा बदलने लगता है या वह सामाजिक प्रक्रिया नहीं उभार रही आपके काम से तो आपको अपनी स्थिति पर शक होना चाहिये। अब ये मुश्किल काम है जैसे कि साधना ने कहा कि अनिल कई कमेटियो में बैठ चुका है, शिक्षक आयोग का सदस्य है। एक हद तक वह सही कहती है क्योकि यह भ्रम बहुत जल्दी हो जाता है कि हम कितनी शक्तिशाली स्थिति पर बैठ गये है। मान लीजिये छठी पंचवर्षीय योजना बनाने वाली कमेटी में स्वामीनाथन ने बहुत सारे नौजवान वैज्ञानिको को बैठा दिया। उन सबको यह उम्मीद दे दी थी कि यदि आप अपने सही विचार कमेटी की चर्चाओ को जोड़ देंगे तो छठीं पंचवर्षीय योजना का स्वरूप बदल जाएगा। हमारे कई साथियो ने यह किया और उनके कई महिने इसमें खप गये। अंत में छठीं पंचवर्षीय योजना का स्वरूप वही रहा जो रहना था। अभी सातवीं योजना के संदर्भ में वह कोशिश फिर शुरू हो गयी है। इस बार मेनन कर रहे हैं। ये काम हमेशा प्रगतिशील तत्व करते है। यह बहुत मुश्किल है क्योकि लगने लगता है, भ्रम हो जाता है (स्वामीनाथन को भी या और मेनन को भी है) कि हम कुछ कर सकते है। आयोग में जैसे मुझको बुलाया अगर मुझे जरा भी भ्रम हो जाएगा कि आयोग के माध्यम से मैं जो रिर्पोट लिखूंगा वह रिर्पोट परिवर्तन का एक अस्त्र बन जाएगी तो समझ लीजिये कि मेरा भी समाहित होना शुरू हो गया। क्योकि ये साफ होना चाहिये कि जनता में जो सामाजिक प्रक्रियाएं शुरू करनी है उनका पलड़ा कितना भारी है और एक सरकारी मंच के

अंदर आप जो प्रक्रियाएं शुरू कर रहे है उनका पलड़ा कितना भारी है। बहुत मुश्किल है जब आपका जनता वाला पलड़ा हल्का हो जाता है जो आजकल किशोर भारती में हम सबका और खासतौर से मेरा हल्का हो रहा है तो उस समय समझिये समाहित होना शुरू हो गया है।

अरविंद: अभी जो अनिल ने कथन दिया उसी से संबंधित थोड़ा स्पष्टीकरण चाहता हूं कि स्वामीनाथान ने और मेनन ने जो समाहित किया तो उन्होंने जानबूझकर किया था वे अच्छा काम करना मानकर कर रहे थे?

अनिल: मेरी समझ है कि वे सब समझते है। उनकी दिक्कत यह है कि वे खुद अपनी सीमाओ को तोड़कर नये कदम नहीं उठा सकते और उन्होंने खुद बड़े-बड़े समझौते किये हुए हैं।

मायज: आपने अपने आपको साफ कर दिया कि सिर्फ एक जागरूकता बनाए रखना कि हमारा विश्लेषण सरकार के विश्लेषण से एक कदम आगे है इसलिये हम समाहित नहीं हुए है, केवल एक जागरूकता से आप समाहित नहीं हो रहे, ये भी एक प्रकार का भ्रम है। लेकिन फिर आपने कुछ इससे जोड़ा कि

अनिल: मैंने काम से जोड़ा।

मायज: फिर मुझे कुछ शांति हुई। पहले बिल्कुल यह लग रहा था कि बहुत ही गैर वस्तुनिष्ठ बात हो जाती है- कौन समाहित हो रहा था कौन नहीं हो रहा है? लेकिन फिर आपने कहा कि ये एक सामाजिक प्रक्रिया है। क्या हमारे देश में ऐसी कोई बुद्धिजीवी परम्परा है भी हमारी सरकार के पास जिससे वह समाज का विश्लेषण करे? यह मेरी आपत्ति है।

अनिल: मैं दोनो बातों पर टिप्पणी करना चाहूंगा। सरकार के पास चाहे व्यवस्थित विश्लेषण न हो पर फिर भी सरकार के पास कुछ समझ जरूर है। एक उदाहरण दूंगा, उससे साफ होगा। सन 1970-71 में जब इन्दिरा गांधी की सरकार अपनी चरम सीमा पर थी उस समय नक्सलवादी आंदोलन भी अपनी चरम सीमा पर था और नौजवानो में असंतोष बहुत बढ़ा हुआ था। उस समय हमारी सरकार ने केबिनेट स्तर पर एक उपसमिति स्थापित की। उसमें उस समय के कई

प्रगतिशील नौजवान मंत्री थे और उसका अध्यक्ष वाई.बी. चौहान को बनाया। इस उपसमिति का काम यह था कि युवा असंतोष कम करने के लिये सरकार क्या कदम उठाए यह बताना। उन्होंने अपनी गोपनीय रिर्पोट प्रस्तुत की। उनका सुझाव था कि नेहरू युवक केंद्र स्थापित करना है। उसी के आधार पर नेहरू युवक केंद्र स्थापित किये गये। अछात्र युवको के साथ काम करने के लिये- उनको खेलो में, मनोरंजनो में, उनको कुछ दिखाने वाली तथाकथित

सामाजिक गतिविधियो में लगाना। पूरे देश में, हर जिले में है ये केंद्र। ऐसा नहीं है कि बिल्कुल भ्रम है। कभी-कभी प्रगतिशील तत्व शुरू कर देते है अपनी भ्रमित समझ के कारण, और कभी ये सरकार सोच समझकर करती है। चाहे बहुत साफ समझ न हो।

दूसरी बात, मैं एक और उदाहरण देना चाहूंगा। यदि एक खेतिहर मजदूरो का संगठन जो कि इस सिद्धांत पर काम कर रहा है कि इस व्यवस्था के अंदर गरीब लोगो को न्याय नहीं मिलेगा और इस व्यवस्था को बदलना होगा। वह संगठन प्रौढ़ शिक्षा का अनुदान लेकर कक्षाएं शुरू करने लगता है तो शायद समाहित होने की प्रक्रिया शुरू हो गयी है। परन्तु एक वह संगठन जो कि पहले से ही सोचकर कि प्रौढ़ शिक्षा से किस ढंग का काम निकल सकता है, कैसी प्रक्रियाएं शुरू की जा सकती है, और वह खेतिहर मजदूरो को संगठित नहीं कर रहा है वह मात्र प्रौढ़ शिक्षा का काम करने के लिये है, वही करता जाता है तो उसको मैं समाहित होना नहीं मानूंगा।

अनवर: एक तो वो पार्टी या ग्रुप होते है जो कोशिश करते हैं कि सिर्फ जनशक्ति को इस्तेमाल करके अपनी बात पूरी कर दें। यहां पर इस तरह के मॉडल की बात कर रहे है जिसमें दोनो को संतुलित करने की कोशिश कर रहे हैं। कोशिश यह कर रहे है कि जन संर्पक के आधार पर ऐसा जोर डाले जिससे हमारा जो हस्तक्षेप कर रहे हैं या काम करवाना चाहते हैं उस पर असर करे। मेरे ख्याल से जैसे-जैसे जनशक्ति का ज्यादा इस्तेमाल होगा, तो वे जो हस्तक्षेप की बात करते हैं और जो हमसे संबंधित है वे हमारे दवाब में आ जाएंगे। जब सरकार सह समझने

लगेगी तो वह खुद खोज-खोज के उन सब संबंधो को तोड़ेगी। सवाल यह उठता है, कि इतिहास में देखा जाए, कि जितनी भी स्वैच्छिक संस्थाएं है, हम यह नहीं कहते कि ऐसा नहीं करना है जनशक्ति का इस्तेमाल पर हम जो सैद्धांतिक स्तर पर सवाल कर रहे हैं कि जैसे ही हमारा जनसंर्पक प्रभवशाली होने का संकेत होगा सरकार हमसे अपने संबंध तोड़ने लगेगी। यदि सरकार ऐसा नहीं करती तो मतलब असर नहीं हो रहा। पहली बात हम यही कहना चाहते हैं कि इसमें निहित है जन संपंर्क के इस्तेमाल की सीमाएं। वे इस्तेमाल हो ही नहीं सकती, सरकार पर अपनी निर्भरता का ख्याल रखते हुए।

अनिल: काम के चरित्र को बनाऐ रखे तो?

अनवर: तो हमने आपको जो बात कही कि आमतौर पर स्वैच्छिक संस्थाएं एक सीमा से आगे नहीं बढ़ रहां। वे समझती रहीं कि ऐसी उम्मीद कर रहे है और उस स्तर पर काम कर रहे है। इस स्तर पर जनशक्ति को लाकर रोके रखना अपने आप में बहुत नकारात्मक होगा। क्योंकि इसमें बार-बार लोग मार खाएंगे और वहां रूक जाएंगे।

रेक्स: इसको दूसरी तरह से रखने पर यह कहा जा सकता है कि एकलव्य शिक्षा के क्षेत्र में काम करके ऐसी संस्कृति का सृजन करना चाहते है जिससे अलग-अलग तत्व उभरकर आएं और एक नीचे से निरंतर आंदोलन का वातावाण बने। यह तो सब ठीक है पर जैसे ही ऐसा आंदोलन खड़ा होना होगा सरकार की कार्यवाही भी शुरू होगी।
विजय: अनिल जो तुम कह रहे हो कि हम समाहित हुए है या नहीं वह इस बात पर निर्भर करता है कि हम किस काम को लेकर आगे बढ़ रहे है। यह भी पूरी बात नहीं है। क्योंकि अगर वही काम मान लो हम आज निर्णय लेते है कि प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम चलाएंगे तो हम केवल प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम चलाएंगे और अपने मन से चलाने की कोशिश कर रहे है तब यह कहने के आधार कमजोर है कि हम समाहित हो गये है। क्योंकि उसी काम को अगर एक संस्था जो मजदूर संगठन करने के लिये आती है और उसके लिये अनुदान लेकर प्रौढ़ शिक्षा कर रही है तो उसको तो हम कह रहे है कि ये समाहित है और जब हम अपने खुद निर्णय लेकर वह काम करना चाहते है तो उसको तुम बोलते हो कि समाहित होना नहीं हैं क्योंकि वह काम अपने निर्णय से शुरू किया।

अनिल: परन्तु जैसे आपने शिक्षा में काम के कुछ दायरे तय किये इसी प्रकार से आपको विश्लेषण करके जनता में काम के भी दायरे तय करने पड़ेगे। आप किस तरह का काम करेंगे। आपने तय किया है कि आप सीधे जाकर ट्रेड यूनियन बनाने का काम करेंगे। चाहे वह शिक्षा का काम परिभाषित किया जा सकता है। आपने तय किया है कि आप मोर्चाबंदी नहीं करेंगे। आप पुस्तक छपवाने के लिये चिट्ठियां लिखवा सकते है पर उन बच्चों को वहां ले जाकर आंदोलन नहीं कर सकते। दोनो में फर्क है। आपके जनसंपर्क में भी क्या आपका कार्य क्षेत्र होगा तय कीजिये। मध्यम व निम्न मध्यम वर्ग में शिक्षा के सवालों पर जब तक आप काम कर रहे है।
अनवर: आप चाहे बच्चों से आंदोलन करवाएं आपका उद्देश्य वही है- सरकार पर दबाव डालकर किताब छपवाना। पर आप जब आंदोलन करवाने के तरीके इस्तेमाल करते है तो इसमें आप थोड़ा हल्का दबाव से बढ़ाकर भारी दबाव डाल रहे है।
अनिल: मुख्य बात है किस काम के लिये करवा रहे है।
अनवर: तरीके जो इस्तेमाल करते है वे भी महत्वपूर्ण है।
अनिल: आप मांग क्या रहे है सरकार से, किय प्रकार के परिवर्तन की मांग कर रहे है।
माईज: मैं ये समाहित या जो ये अनिल ने समझाया उसे मैं कोई और ढंग से कहना चाहूंगा। मेरे ख्याल से एकलव्य या कोई भी संस्था का समाहित होना या न होना इसके बजाय आप यह भी कह सकते है कि आप यह मानकर चल रहे है कि आप व्यवस्था के अंदर घुसकर व्यवस्था को बदल देंगे या तो हम कोई उम्मीद ही नहीं रखते कि ये व्यवस्था बदलेगी और इसका हम कुछ हद तक इस्तेमाल करेंगे और हम उस दिन तक राह देखेंगे कि पूरी व्यवस्था बदल जाएगी शायद और फिर हमारा जो सही चरित्र है या जो कुछ भी है वह ज्यादा उपयोगी होगा। मेरी समझ में यह विकल्प ज्यादा पसंद है।

विनोद: मैं दो तीन बातें कहना चाहता हूं। ये सबको मालूम है यह चर्चा कोई पहली दफा नहीं उभरी है और हमेशा की तरह जो समस्या परिभाषा की आती है और मेरे ख्याल में मुख्य परिभाषा समाहित होने की नहीं होती है, इसमें राजनैतिक काम को भी परिभाषित करना होता है। किस चीज को हम राजनैतिक काम कहते है? देखने का एक तरीका है, एक लाइन दें सरकार से लेकर वामपंथियो तक तो अलग-अलग जो उस लाइन पर बिंदु है उसमें जो बिंदु बाएं है उनको अपने दाएं का बिन्दु समाहित लगता है। यह हमेशा होता रहा है, ये कोई नई बात नहीं है। इसलिये यह तय करना मुश्किल है कि कौन समाहित नहीं हैं और कौन समाहित है?

दूसरी बात है कि क्या स्वैच्छिक संस्थाएं है किशोर भारतीएकलव्य की तरह जो मार्क्सवादी समूह नहीं है, वे हस्तक्षेप या जो कुछ भी करती है उसमे कोई राजनैतिक पहलू है या नहीं है? ये एक और प्रश्न है जो कि चर्चा का प्रश्न है और यहां पर दिक्कत आती है कि वे राजनैतिक पार्टी है कि नहीं? उसमें भी वही पहलू आ जाते है एक तरह से मैं बिल्कुल इतिहास में नहीं पड़ रहा हूं एक उदाहरण दे रहा हूं यह सोच कर कि हम बिल्कुल इतिहास में नहीं पड़ेंगे, हम यहां बैठकर यह तो तय कर लेंगे कि सी.पी.एम. राजनैतिक रूप से हमसे ज्यादा कड़ी है। पर फिर भी यह बात है कि वह इस सरकार को सत्ता में आने के लिये संसदीय प्रजातंत्र के साथ देती है जो हम नहीं दे रहे हम उसमें भागीदारी नहीं कर रहे। तो दिक्कत आयेगी आपको परिभाषित करने में। वे नरम है या कड़े है? और उससे ज्यादा वामपंथी जो संसदीय प्रजातंत्र में विश्वास नहीं करते है वे कहेंगे कि ये तो बिल्कुल बेकार है। ये तो एकदम नरम है। तो मेरा कहना है कि इस प्रश्न का हल बहुत मुश्किल है और जहां तक समाहित का प्रश्न है तो मेरा विचार है कि हर एक व्यक्ति, हर एक ग्रुप एक तरह से एक धार पर चल रहा है और कभी यहां दिखता है कभी वहां दिखता है। और कभी-कभी ऐसा होता है कि चला जाता है एक तरफ। पर बहुत दफा उसके काम से बहुत मुश्किल है यह तय करना कि वह इसके दाएं में है या बाएं में और शायद ठीक रूप से ऐसा होता भी है। खासकर स्वैच्छिक समूहों में क्योंकि उनका बनने का अर्थ ही है कि एक राजनैतिक भ्रम। ये लोग जो एकदम नीचे

स्तर पर हस्तक्षेप करके काम करने के लिये किसी वजह से तैयार नहीं है, पर किसी वजह से किसी स्वतंत्र विचार से सत्ता का साथ देने को भी नहीं तैयार है। इसलिये उनका जो भ्रम है वह उनके ढांचे में दिखता है। इसलिये जब सामने से देखा तो लगता है कि कभी वे सरकार के साथ में काम कर रहे है, कभी विरोध कर रहे हैं और आम तौर पर वे साथ में कर रहे है या विरोध में ये व्यवहारिक समस्याओं से ज्यादा तय होता है, विचारो से नहीं।

अब ये तो प्रश्न है कि कहीं पर तो लाइन है क्या? तो शायद वह लाइन तय की जाती है। मैं यह विचार रखता हूं शायद आप लोगो के इससे मतभेद हों। अगर एक स्वैच्छिक समूह यह तय करता है कि हम विदेशी पैसा नहीं लेंगे, हम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से पैसा नहीं लेंगे। किसी तरह की समिति से काम होगा ऐसा हमें नहीं लगता है। अगर हम उसमें बैठ भी रहे हैं तो किसी रणनीति के तहत बैठ रहे है। पर ये विचार स्पष्ट है कि उनसे काम नहीं होगा। अगर इस तरह के कुछ निर्णय को लेकर चलते हैं वे और ये उनके कार्यकारी सिद्धांत है, कहीं उनमें राजनैतिक तत्व है। हां वो नर्म हैं।

दूसरी बात, है कि हमारे जैसे देश में ये तय करना कि कौन-सा राजनैतिक काम, नर्म या सख्त ज्यादा कारगार होगा किसी समय पर, यह भी एक प्रश्न है। यह जरूरी नहीं है हमेशा कि बहुत ही ज्यादा मजबूत स्थानीय राजनैतिक काम ही ज्यादा कारगार हो। ये नहीं है, ऐसा देखा गया है। वह संगठन कैसे बनता है, अपने आप में बहुत ही अजीब ढांचा है। इसमें नर्म व कड़ी की चीजो की तुलना का कोई महत्व नहीं है या कम है, ये शायद ठीक नहीं है। हमारे देश में ऐसा नहीं दिखता। इसलिये मैं सोचता हूं कि इस तरह के समूहो का एक भ्रमित-सा चरित्र है। उनका महत्व भी है और उनका महत्व इतना है कि ये तो आपका कहना सही है कि बहुत विकसित पूंजीवादी देशो में देखा जा सकता है कि किस तरह के स्वतंत्र या वामपंथी विचारो को या इस तरह के विचारो को दबाया जाता है। पर हमारे देश में इसके कई उदाहरण है। वैसा नहीं जैसा नक्सलवादी आंदोलन को जो कि इतना व्यापक आंदोलन था कि सरकार को कुछ करना ही पड़ा। पर उससे नर्म आंदोलन या संगठन का सरकार किस तरह से मूल्यांकन करती है और उनको खत्म करती है

हमारे यहां पर। बहुत उदाहरण है। इसलिये मैं कहना चाहता हूं कि इनका एक राजनैतिक महत्व है। बहुत जगह इनका उपयोग किया जाता है बहुत सोच समझ कर। संगठनात्मक क्षेत्रों में विकास को किस तरह से एक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, इसके भी बहुत उदाहरण हैं। और स्वैच्छिक समूहो के द्वारा किया जाता है तो इसलिये ये कहना शायद पड़ेगा कि आजकल के देश में स्वैच्छिक समूहो का राजनैतिक चरित्र परखा जाता है, समझा जाता है, कोशिश की जाती है उनको समाहित करने की। बहुत सारे हो भी जाते है और कुछ शायद इतना नहीं होते। मुझे नहीं लगता इससे ज्यादा स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जा सकता है क्या?

अनिल: अगर इसको और आगे नहीं बढ़ाना चाहता है तो जो दो सवाल खड़े किये थे- एक तो स्वैच्छिक गुटों के उपयोग खत्म हो जाने के और दूसरा जनसंपर्क के दायरे क्या हो?

सुशील: तीसरा प्रश्न समान्तर प्रणालियां विकसित करने का था।

जनसंपर्क- डॉ. अनवर जाफरी

मेरी परेशानी यह है कि बात करने को कुछ खास है नहीं क्योंकि कोई ऐसी गतिविधि नहीं हुई है कि उसके बारे में बात करे। मध्यप्रदेश विज्ञान और प्राद्योगिक परिषद में बारे में बात करना होता है तो दूसरी बात होती है। बहुत सी गतिविधियों के बारे में चर्चा होती रहती है। उसमें से क्या करना चाहिये, क्या नहीं यह हम लोग धीरे-धीरे करके ही सीख पाएंगे। हम कुछ आम बाते उसके पहले आपके सामने रखेते है। उसके बाद सब लोग इस पर मत दें कि किस

तरह के काम या गतिविधियां खुद करना चाहते है। असल में बात यह है कि अब तक जो इस तरह का काम हुआ है औपचारिक शिक्षा से अलग हटकर, वह काम हुआ है विज्ञान शिक्षण के बारे में ज्यादा व्यापक रूप से लोगो को समझाने का। जनसंर्पक शब्द जिस ढंग से इस्तेमाल किया जा रहा है उस स्तर पर कोई काम हुआ है। शायद अनिल ज्यादा अच्छी तरह से बता पाएं कि इसकी जरूरत क्यों पड़ी। किशोर भारतीके बारे में जो थोड़ी-सी बाते हमने सुनी हैं वह हम बता देते है। शुरू में जब आये 1972 में, जब काम शुरू हुआ था किशोर भारतीमें तो जितना भी काम था उसको लेकर यह समझ थी कि अगर बहुत मेहनत से काम होगा और जल्दी कोई बड़ी चीज खड़ी हो जाएगी तो वह अपने आप में एक इमारत होगी लोगों को दिखाने के लिये और कोई किसी को कहने या समझाने की जरूरत नहीं होगी। उसके बाद एक साल के अंदर ही 1973 तक यह अन्दाज होने लगा कि होशंगाबाद में जो स्कूल थे उनकी वजह से बहुत ही नकारात्मक बातें शहर में फैल रही हैं।खासतौर से जो शिक्षक इस कार्यक्रम से जुड़े थे पर जिनको कार्यक्रम पसंद नहीं था वे बहुत उल्टी-सीधी बातें करने लगे थे। इस कारण से जन संपर्क शुरू हुआ। सुदर्शन ने कोशिश की कि शहर में लोगों को जोड़ना शुरू करे। यहां की जो गतिविधियां हो रही है, विज्ञान शिक्षण के दायरे में वे आकर लोगो को दिखाएं। एक तो मासिक गोष्ठियों में वे जाकर लोगों को पकड़ लाया करते थे। महाविद्यालय शिक्षक, इन्जीनियर, डॉक्टर जो भी मिले बात हुई और उन्होंने कार्यक्रम के बारे में प्रश्न पूछा तो यह होता था कि चलकर आप देखिये। जब

वे अनुवर्तन पर जाते थे तो अपने साथ लोगों को ले जाने की कोशिश करते थे ताकि वे स्कूल जाकर देखे, समझे। इस तरह से दिलचस्पी ज्यादा बढ़ती थी। ये पहली गतिविधि थी। इसके बाद फिर किशोर भारती की जो गतिविधियां थी उसमें 1974 और 75 में बनखेड़ी में बसंत पंचमी के मेले में घुसे। उसमें किशोर भारतीने अपनी तरफ से अपनी भूमिका को समझाने के लिये प्रदर्शनी की। किशोर भारतीमें जितने कार्यक्रम चल रहे थे उन सबके मुख्य तत्व वहां पर रखे गये लोगों को समझाने के लिये । ये दो साल तक हुआ। किसी वजह से इससे जो दिलचस्पी बनी थी उसको आगे नहीं बढ़ाया जा सका। पहली समझ तो इससे यह बनी कि इस तरह के काम एक बार कर देने से कोई फायदा नहीं होता जब तक कि इनको लम्बे समय तक समय-समय पर एक दूसरे से जोड़कर न किया जाए। क्योंकि लोगो के दिमाग में कोई एक बात आती है तो या तो वे अपनी किसी दिलचस्पी से उसको जोड़ नहीं पाते, या किसी तरह से उनके दिमाग में उसके लिये जगह नहीं बनती। इसलिये उसका कोई मतलब नहीं रह जाता और वे भूल जाते हैं। बहुत लोगों की यह समझ बनी है । दूसरी जो चीज थी कि इस प्रकार की कोई प्रदर्शनी या और कोई भी काम जब तक और किसी गतिविधि से जोड़ा न जाए जो कि लोगो में चल रही हो या उनकी जरूरत का साधन हो तो फिर वह अपने आप हवा में टंग जाता है। शायद हम इस प्रदर्शनी को बहुत बार भी करें मगर इसका यदि कोई मतलब नहीं निकल रहा है तो वह अपने आप में कोई ज्यादा प्रभावशाली नहीं होती। अभी हम एक सामान्य बात कर रहे थे। ये

बाते किसी भी चीज के लिये लागू होती है। चाहे आप विज्ञान शिक्षण का प्रचार कर रहे हो, या किसी और तरह की मानसिकता या किसी और चीज का। उसके लिये जरूरी है कि उसको जोड़ा जाए कुछ और कामों से जो कि लोगो के लिये ज्यादा निरंतर चलने वाले हैं और ज्यादा दिलचस्प है।
इसके पहले हम एक चीज कहना चाह रहे थे। वह यह कि जब जन संर्पक जैसा शब्द इस्तेमाल करते है तो इसका बहुत ही व्यापक मतलब होता है। इसमें एक बात यह हो जाती है कि किसी भी प्रकार से एक मंच बनाने की कोशिश करना जिससे हम लोगों को अपने विचार अच्छी तरह समझा पाएं। इसमें सब चीजें आ जाती है,

सब तरह की गतिविधियां आ जाती हैं। जितने हमारे केंद्र है उसमें बात उठाना काफी जरूरी है कि वे आसपास के लोगो से संर्पक बढ़ाए। इसकी बहुत कमी लगी हमको। स्वैच्छिक संस्थाओ का यह चरित्र रहा है कि वे अपने को काफी अलग करके इस तरह से अपनी गतिविधियों में फंस जाते है कि आमतौर से लोगों से करीब होकर उनको आम जिंदगी में मिलने का मौका नहीं मिलता है। क्योंकि जब सिर्फ एक मीटिंग करने जाते है, प्रदर्शनी करने जाते है और रोज का संपर्क आम जीवन में लोगो से नहीं रहता है तो इसका एक बहुत सीमित असर होता है।
दूसरा चीज एक यह कहना चाह रहे थे कि जब इस प्रकार की गतिविधि की जाए, जैसे फिल्म या प्रदर्शनी। जैसे अगर कोई प्रतियोगिता की जाए, उसमें चाहे सरकारी लोग क्यों न हो उसमें उनको (आम लोगो को) बुलाएं और इस तरह से वहां कोई कार्यक्रम करें जिसको आम तौर पर लोग काफी महत्व देते है, उनको खुशी होती है। ऐसी जगह पर शिक्षकों को कुछ दिया जाए, उनके काम की प्रशंसा की जाए ऐसे मंच से तो बहुत फर्क पड़ेगा। अक्सर जब हम काम करते है तो अपनी प्रगतिशीलता की वजह से यह कोशिश करते है कि सब कुछ एक नये रूप से करें और ये उम्मीद करें कि जो लोग काम कर रहे है वे केवल अपने आप में अच्छा समझ कर करते रहेंगे। ऐसा नहीं करना चाहिये।
रेक्स: जैसे एकलव्य एक स्वैच्छिक ग्रुप है किन-किन स्तरों पर यह जनसंपर्क कर सकता है? एक तो सीधे कार्यक्रम को लेकर। दूसरा है कि कुछ व्यापक स्तर पर सामान्य मुद्दो को लेकर जैसे, विज्ञान और प्राद्योगिकी परिषद के प्रस्ताव में दिया है। सामान्य स्तर पर विकास के मुद्दे का वाद-विवाद करवाकर एकलव्य काफी योगदान दे सकता है। तो यह भी एक किस्म का जनसंपर्क है जो प्रगतिशील विचारों को समाज में फैलाए।
अनवर: एक तो पहला कार्यक्रम जो अक्सर सामने आ रहा है कि वि.शि.का. हो रहा है उसके बारे में कैसे लोगो तक जानकारी फैलायी जाए। इसका सबसे सरल तरीका है जानकारी देकर यानी उसमें किस तरह की किताबें है, किस तरह के प्रयोग होते है, ये सब दिखाना जिससे लोगो को समझ भी आता है, मजा भी आता है। इसको करने के लिये जरूरी है कि हम अपने को साफ करें हम क्या कहना चाहते है। हमारे दर्शन क्या है,
तो इसमें किस प्रकार से लोगो के अपने सामाजिक मूल्यों व उन चीजो जिनको वे महत्व देते है जोड़ा जाए इस पर सोचना चाहिये।

हमारी समझ क्या है? जो प्रदर्शनी बनी है उसमें पहले यह दिखाने की कोशिश की गयी है कि विज्ञान क्या है? विज्ञान को हम किस तरह से देखते हैं? इसमें किन चीजो को हम महत्व देते है? दूसरा तरीका यह हो सकता था कि विज्ञान की जो बड़ी-बड़ी उपलब्धियां है वे दिखा देते वहां पर और कह देते कि यह विज्ञान है। पर जिस चीज पर ज्यादा जोर देते है वह है कि विज्ञान कैसे काम करता है। विज्ञान से किस प्रकार से समझ बढ़ती है चीजो की। विज्ञान की प्रक्रिया क्या होती है? इस बात पर ज्यादा जोर देते है। वि.शि.का. के पाठ्यक्रम में इस समझ को बढ़ाने के लिये क्या किया गया यह समझाते है। कहने का मतलब यह है कि यदि इस प्रकार से किसी भी मुद्दे को लेकर जनसंपर्क करना है, लोगो को समझना है तो उसका दर्शन क्या है उसको लेकर सफाई होनी चाहिये।

विनोद: हमारे देश में केरल शास्त्र साहित्य परिषद का जनसंपर्क का प्रयास सफल माना जाता है विज्ञान को लेकर। हम लोग क्या सबक सीख सकते है उससे? उसमें से कौन-सी चीजे हम मध्यप्रदेश के संदर्भ में कर सकते है। तुम इसके बारे में क्या सोचते हो?

अनवर: बहुत मोटे रूप से एक बात फौरन ध्यान में आ जाती है। मुझे लग रहा है कि उनके कई प्रयास ऐसे हैं जिनसे हमारी वह हस्तक्षेप वाली बात है, जिसको हम संतुलित करते है जनसंपर्क से वह खतरे में पड़ सकती है। इसलिये फौरन हमारी सीमाएं आ जाती है। मगर दूसरे, उनका जो ज्यादा बड़ा काम है साहित्य को लेकर और जिस प्रकार से उन्होने शिक्षा में इस तरह की चीजे की है उसमें तो सीधे-सीधे फौरन जुड़ाव दिखता है। बल्कि हमने उनसे कई दफा ये बात करने की कोशिश की कि आप अपना मूल्यांकन किस तरह से करते है? उनके मूल्यांकन का आधार है कि साहित्य कितना बिका? अगर वह बढ़ रहा है, और चूंकि हम मानते है कि विषयवस्तु ऐसी है जो कि लोगों को एक दिशा देती है, तो हम सोचते हैं कि यदि उसमें दिलचस्पी बढ़ रही है तो वही हमारा एक मूलभूत आधार है।

विनोद: तो इसमें प्रश्न यह था कि एक ऐसे प्रदेश में जहां कि साक्षरता उस प्रदेश की तुलना में आधे से भी कम है, और जहां पर एक तरह के राजनैतिक संगठन है ही नहीं जो वहां पर विकसित हुआ है, और जहां के शिक्षा विभाग की नौकरशाही जागरूक नहीं है जो कि वहां है। वहां क्या जनसंपर्क के तरीके होंगे या समान?

अनवर: एक बात तो यह कि हम उस तरह की चीज की उम्मीद नहीं करते हैं और दूसरी चीज है कि जो तरीके है वे इसलिये भी सीमित हो जाएंगे क्योकि लोग इतने पढ़े-लिखे नहीं है और इसलिये हमें साहित्य के साधनो के अलावा दूसरी चीजो का इस्तेमाल करना पड़ेगा जो कि बहुत ज्यादा मेहनत से तैयार होंगी। इसलिये हम लोगो को लगता है कि आज तक जो चीजे नहीं देखी गयी है साहित्य से हटकर एक तो वे कोई बहुत ज्यादा अच्छी चीजे नहीं रही है। इसलिये एक भूमिका हम लोगो की यह होगी कि अपनी बातो को फैलाने के अलग तरीके विकसित हो। शायद विकसित हम खुद न करे और लोगो को जोड़कर करवाएं और इसकी जो समझ विकसित होगी, हम लोगो की वह महत्वपूर्ण है।

अनिल: एक स्तर है। एक स्तर उन गतिविधियों का है जो आप लम्बे अरसे के लिये लोगों में वैचारिक परिवर्तन करने और माहौल तैयार करने के लिये जाते है। जैसे जब आप कहते है मैं हरदा में रहकर एक विज्ञान केंद्र खोलूंगा, एक वर्कशाप खोलूंगा। या जब माइज बात करता है। उज्जैन में लगातार भाषणो की एक श्रंखला आयोजित करने की जहां विज्ञान और विज्ञान से जुड़े विषयो या शिक्षा से जुड़े हुए विषयो का आमंत्रित वक्ता या और कोई वहां के लोगो से संवाद खड़ा करेंगे। यहां देवास में स्याग बात करते हैं लड़के-लड़कियो के हॉस्टल अध्ययन दल बनाने की। ये सब उस प्रकार की गतिविधियों के उदाहरण है जो लंबे अरसे तक चलेंगी और उनसे एक प्रगतिशील माहौल बनेगा। ऐसी चीजो पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। एक दूसरा स्तर है गतिविधियो का जिसमें आप विशेष मुद्दा लेकर प्रदर्शनियां करेंगे, वर्कशाप करेंगे, वाद-विवाद करेंगे।